बहुवचन

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

संपादक

अशोक मिश्र

सहायक संपादक

अमित विश्वास

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

बहुवचन
अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक
अंक : 39 (अक्टूबर-दिसंबर- 2013)
प्रकाशक : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

संपादकीय संपर्क :
संपादक बहुवचन
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र)
मो. संपादक- 09422386554, ईमेल- amishrafaiz@gmail.com
मो. सहायक संपादक- 09970244359, ईमेल- amitbishwas2004@gmail.com

प्रकाशन प्रभारी : डॉ. बीर पाल सिंह यादव
ईमेल- bpsjnu@gmail.com फोन- 07152-232943, मो. 0805290240

© **संबंधित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित**
प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा या संपादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

प्रचार प्रसार : रामप्रसाद कुमरे, ईमेल- ram.kumre81@gmail.com
फोन : 07152-232943, मो. 08055916194, 09406546762
बिक्री और प्रसार कार्यालय :
प्रकाशन विभाग, **महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय**
गांधी हिल्स, पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र) भारत
फोन : 07152-232943, फैक्स : 07152-230903

वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट **महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय** के नाम से, जो वर्धा में देय हो, ऊपर लिखित बिक्री कार्यालय के पते पर भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं।

पत्रिका न मिलने की शिकायत इस पते पर करें : रुचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1, वैस्ट गोरख पार्क, शाहदरा, दिल्ली- 110032, मो. 09212796256

यह अंक : 50 रुपये, वार्षिक शुल्क 200 रुपये
विदेश में : हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड
समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड
आवरण : अशोक सिद्धार्थ
BAHUVACHAN
A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI
PUBLISHED BY: MAHATMA GANDHI ANTARRASHTRIYA HINDI VISHWAVIDYALAYA
GANDHI HILLS, POST-HINDI VISHWAVIDYALAYA, WARDHA-442005 (MAHARASHTRA) INDIA.

मुद्रक : रुचिका प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032 (फोन : 011-22821174, 9212796256)
email : ruchikaprinters 2005@gmail.com

अनुक्रम

आरंभिक 06

सिनेमा का सफरनामा

बदलता देश, दशक और फिल्मी नायक 10
ज्ञानेश उपाध्याय

कहां-कहां से गुजर गया सिनेमा 25
सलिल सुधाकर

हिंदी सिनेमा : कल, आज और कल 35
विनोद विप्लव

भारतीय सिनेमा में पहली बार 50
हिमांशु बाजपेयी

नींव के नायक

बस, इक जुनूं की खातिर 56
सुधीर सक्सेना

दादा साहब फाल्के और भारतीय सिनेमा 63
धरवेश कठेरिया

साहित्य और सिनेमा

'चित्रलेखा' और सिनेमाई रूपांतरण की समस्याएं 74
जवरीमल्ल पारख

हमारे समय के दरारों में मृणाल सेन का सिनेमा 84
अमरेंद्र कुमार शर्मा

सिनेमा और हिंदी साहित्य 89
इकबाल रिजवी

गांव कस्बा और सिनेमा

गांव में सलम और सलीमा 94
प्रकाश चंद्रायन

आंसू बहा रहे हैं कस्बे के टॉकीज 98
उमेश चतुर्वेदी

बाल सिनेमा

प्रतीक्षा है बच्चों के सिनेमा की 102
विनोद अनुपम

सिनेमा का गीत संगीत

हिंदी फिल्मों में गीत संगीत का बदलता चेहरा **106**
शरद दत्त

हिंदी फिल्मी गीत : साहित्य,स्वर, संगीत **114**
पुष्पेश पंत

संवाद

मन्ना डे से एक लंबा आत्मीय संवाद **119**
सुनील मिश्र

संस्मरण

क्या आदमी था 'राय'! **130**
जावेद सिद्दीकी
अनुवादक- शकील सिद्दीकी

ऋत्विक घटक सा दूसरा न कोई **138**
सुरेंद्र तिवारी

लीक तोड़ने वाले निर्देशक

महबूब और उनका सिनेमा
परंपरा का आदर : डगर आधुनिकता की **145**
प्रहलाद अग्रवाल

समानांतर सिनेमा के सारथी : राय से ऋतुपर्ण तक **160**
कृपाशंकर चौबे

मणि कौल का सिनेमा और हिंदी **169**
प्रयाग शुक्ल

बिमल राय का रचना संसार **172**
मनमोहन चड्ढा

अविस्मरणीय विभूति : सत्यजित राय **181**
धीरेंद्र कुमार राय

अभिनय के शहंशाह नायक

अंतिम पड़ाव के अधर में अकेला आनंद **186**
प्रभु जोशी

अभिनय की संकरी गली के सरताज भारत भूषण **192**
प्रताप सिंह

'जन कलाकार' बलराज **197**
अजय कुमार शर्मा

क्रांति और सिनेमा

बॉलीवुड के व्यंजन में क्रांति की छौंक **201**
सुधीर विद्यार्थी

सिनेमा के सामाजिक सवाल

सामाजिक राजनीतिक यथार्थ और सिनेमा **208**
रामशरण जोशी

फिक्रे फिरकापरस्ती उर्फ दंगे का शोक-गीत **214**
प्रेम भारद्वाज

कला सिनेमा में कितना सामाजिक सरोकार **221**
सुधा अरोड़ा

भगवान बुद्ध पर निर्मित फिल्में और उनका स्वरुप **226**
सुरजीत कुमार सिंह

सिनेमा में प्रतिरोध का स्वरूप **230**
किशोर वासवानी

तकनीक चर्चा

मनुष्य का मस्तिष्क और उसकी अनुकृति कैमरा **238**
जयप्रकाश चौकसे

पुस्तकायन

सिने आत्मकथाओं का सच **244**
अनंत विजय

भाषा की बात

हिंदुस्तानी सिनेमा में भाषा का बदलता स्वरूप **249**
एम.जे. वारसी

बात बोलेगी

भारतीय फिल्म-उद्योग : फाल्के और फलक **251**
संजीव

क्षेत्रीय सिनेमा

भोजपुरी सिनेमा का बढ़ता संसार **255**
कुमार नरेन्द्र सिंह

सांस्कृतिक समाचार **261**

आरंभिक

सामाजिक सरोकारों से हटता सिनेमा

हमारा भारतीय सिनेमा का सफर तीन मई 2013 को सौ साल पूरे कर चुका है। वर्ष 1913 में इसी दिन भारत की पहली फीचर फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' जनता को दिखाई गई थी। इस फिल्म का निर्माण सिनेमा की आधारशिला रखने वाले दादा साहब फाल्के ने किया था। वर्ष 1912-13 से लेकर 1930 तक 1300 से अधिक ऐसी फिल्मों का निर्माण हुआ जो कि मूक फिल्म कहलातीं हैं। इसी के ठीक बाद 1931 में आर्देशिर ईरानी की 'आलम आरा' को पहली बोलती हुई फिल्म का दर्जा मिला। तब से लेकर मई 2013 तक के कालखंड में सौ साल बीत गए गए और आज एक भरा-पूरा समृद्ध इतिहास हमारे सामने है। आज जब भारतीय सिनेमा का शताब्दी वर्ष मनाया जा रहा है तब संपादक होने के नाते मुझे यह जरूरी लगा कि 'बहुवचन' पत्रिका के पाठकों के लिए 'सिनेमा के सौ साल' को केंद्र में रखकर अतीत से लेकर वर्तमान तक की यात्रा पर एक अंक निकाला जाए। यह अंक निकालने की आरंभिक प्रेरणा वरिष्ठ कथाकार संजीव ने दी जिस पर प्रख्यात कथाकार और विश्वविद्यालय के कुलपति श्री विभूति नारायण राय ने सहमति जताई। इसके बाद हम इसकी तैयारी में लग गए लेकिन जुलाई में अपेक्षित सामग्री न जुटा पाने के कारण इसे आगे खिसकाना मजबूरी थी।

आज दुनिया भर में मनोरंजन का जनसुलभ और सबसे सस्ता माध्यम है सिनेमा। सिनेमा फ्रांस की देन है, लेकिन यह जब भारत में पहली बार आया, तो कई निर्देशक सक्रिय हो गए। फिल्में बहुतेरी बनीं, लेकिन भारत की पहली फीचर फिल्म कहलाई 'राजा हरिश्चंद्र', जिसे बनाया था भारत में सिनेमा के जनक कहलाने वाले दादा साहब फाल्के ने। यह एक मूक फिल्म थी जो कि एक हिंदू पौराणिक कहानी पर आधारित थी।

हमारे जीवन में फिल्मों का अहम स्थान है। मुझे लगता है कि मेरा बचपन सिनेमा नाम की चिड़िया को चौदह साल की आयु में ठीक-ठाक तरीके से जान पाया होगा। इससे पहले बचपन में कभी-कभार सरकारी योजनाओं के प्रचार-प्रसार के लिए गांवों में भारत सरकार का फिल्म प्रभाग सरकारी उपलब्धियों वाली फिल्मों के साथ एकाध डाक्यूमेंट्री फिल्में दिखाता था। हम गांव वालों का सिनेमा से पहला परिचय यही था। हमारे समय में (आठवें दशक के दौरान) बच्चों को यह कहकर फिल्में देखने से रोका जाता था कि इससे वह बिगड़ जाएंगे। यह माध्यम हमारे लिए उस समय किसी परीलोक की सैरगाह या चमत्कार से कम न लगता था। आंखों के सामने जो परदे पर आता था वह दिमाग के जरिए उतरकर कई बार मन को बहुत छूता था। सिनेमा की लोकप्रियता की वजह यही है कि यह हर बार जिंदगी से रू-ब-रू होने जैसा होता है। जिंदगी के अनदेखे कोनों और वर्जित क्षेत्रों को भी दिखा देता है सिनेमा।

जब हम पीछे मुड़कर देखते हैं तो पाते हैं कि 100 साल की यात्रा हजारों फिल्मों में समाई हुई है। सिनेमा का एक बहुत बड़ा कालखंड हमारे सामने पसरा हुआ है। आसान नहीं है हिंदी सिनेमा की बहुलतावादी इंद्रधनुषीय छवि के भीतर उतरना और उसकी पड़ताल करना। सिनेमा की

खूबियों और खामियों पर बात करना किसी भी व्यक्ति के लिए आसान काम नहीं है। आज स्थिति यह है कि एक वाक्य में कहें तो 'राजा हरिश्चंद्र' की मूक अभिव्यक्ति से बहुत आगे बढ़कर हिंदी सिनेमा 'रा वन' की उच्च प्रौद्योगिकी क्षमता के स्तर तक पहुंच चुका है। सिनेमा अपने आरंभिक दौर के शिक्षणकाल से निकलकर मनोरंजन और प्रोपेगंडा तक पहुंच चुका है। हिंदी सिनेमा के साथ-साथ क्षेत्रीय मसलन- मराठी, गुजराती, मलयालम, तेलुगु, कन्नड, तमिल, उड़िया, बांग्ला, भोजपुरी, गढ़वाली, हरियाणवी, पंजाबी और पूर्वोत्तर की भाषाओं में भी भारतीय सिनेमा की एक समानांतर दुनिया फैली हुई है। हिंदी सिनेमा को देश ही नहीं विदेशों में भी बड़ी बेकरारी के साथ देखा जाता है। विश्व के कई देशों में जहां प्रवासी भारतीयों की संख्या बहुत अधिक है वहां हिंदी सिनेमा को खासी लोकप्रियता प्राप्त है।

सिनेमा की पूरी यात्रा पर नजर डालें तो साफ पता चलता है कि हर दशक के साथ न सिर्फ सिनेमा का रूप स्वरूप बदलता रहा है बल्कि तेवर और सरोकार भी बदलते रहे हैं। सिनेमा पर आठवें और नौंवें दशक के दौरान अडरवर्ल्ड से संबंध और उसकी पूंजी के इस्तेमाल के आरोप भी लगते रहे हैं। सच तो यह है कि सिनेमा की शुरुआत में फिल्मों के निर्माण पर कम पूंजी और अधिक समय लगता था। आगे चलकर जब तकनीकी स्तर पर हिंदी सिनेमा मजबूत हुआ तो फिल्में साल दो साल के बजाय फटाफट वाली रफ्तार से बनने लगीं। यहीं से फिल्म उद्योग पर पूंजी का वर्चस्व इतना अधिक बढ़ा कि उसने कंटेंट और सामाजिक सरोकारों को बहुत पीछे ढकेल दिया। यही वजह है कि आज की फिल्मों में हमें उत्तर प्रदेश के बुंदेलखंड या छत्तीसगढ़ के गांवों के भारत की तस्वीर कम दिखती है जबकि मेट्रो शहरों मुंबई या गोवा की चमक-दमक, शापिंग मॉल और मल्टीप्लेक्स अधिक दिखता है। हालांकि कुछ फिल्मकारों ने प्रतिरोध के सिनेमा या सामाजिक सवालों की धारा को अपनी फिल्मों के माध्यम से बरकरार रखा है जिसमें प्रकाश झा का नाम अग्रणी है। कभी-कभार 'हल्ला बोल' जैसी सार्थक फिल्में भी आती हैं जिनसे उम्मीद बनती है कि सब कुछ अभी बदला नहीं है। सार्थकता की उम्मीद नए आने वाले युवा फिल्म निर्माताओं से अभी बाकी है जिन्होंने नई-नई शुरुआत की है।

वैश्वीकरण के बाद सिनेमा पर इन दिनों धीरे-धीरे औद्योगिक घरानों का दखल बढ़ रहा है जो कि उसे और अधिक लाभ कमाऊ फैक्ट्री में तब्दील कर रहा है। आज फिल्मों पर बाजारवाद का वर्चस्व इस कदर बढ़ा है कि वह दर्शकों को क्या परोसा जाएगा यह तय करता है। जिस तरह टीआरपी (टेली रेटिंग प्वाइंट) सर्वाधिक देखे जाने वाले कार्यक्रमों की सूची हर सप्ताह जारी करती है। टीआरपी के आधार पर ही तमाम मनोरंजन प्रधान धारावाहिकों की थीम और कंटेंट तय होता है और दर्शकों में लोकप्रिय धारावाहिकों को विज्ञापनदाता कंपनियां प्रायोजित करती हैं। यही स्थितियां सिनेमा पर भी लागू होती जा रही हैं। यानी दर्शक यहां निर्णायक नहीं है बल्कि विज्ञापनदाता कंपनियां या प्रायोजक ही माई बाप हैं। दर्शकों के पास पैसे खर्च करने के बावजूद भी चुनाव के सीमित विकल्प हैं। यही कारण है कि आज फिल्में सिर्फ पैसा कमाने के लिए बनती हैं उनका उद्देश्य कहीं से भी सामाजिक सवालों से टकराना या उन्हें उठाना नहीं है। आज का सिनेमा कई बड़े औद्योगिक घरानों की अकूत पूंजी पर खड़ा है। भारतीय सिनेमा पर पूंजी का यह दखल इस कदर बढ़ रहा है कि यह सिने निर्देशकों के सरोकारों पर खासा असर डाल रहा है/ उनकी मानसिकता को बाजारवादी ताकतों के साथ मिलकर कदमताल करने पर मजबूर कर रहा है। सच तो यह है कि सिनेमा जैसा बेहद प्रभावशाली माध्यम, जिससे एक बड़े जनसमुदाय को संबोधित करने या उसे जागरूक करने की अपेक्षा की जाती थी, वह संभावना अस्ताचल की ओर अग्रसर है। यही वजह है कि सिनेमा की मास

अपील कम हो रही है। सिनेमा का अंदाज और कंटेंट पिछले दो दशकों के दौरान बहुत सतही हुआ है और फिल्मों में हिंसा और मारधाड़ हावी हो चली है। इसकी एक वजह यह भी है कि इंटरनेट, सीडी, मनोरंजन चौनलों और अखबारों ने गंभीरता की विदाई कर दी है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि सिनेमा का नियंत्रण जब कारपोरेट ताकतों के पास होगा तो वे उसे किसी फैक्ट्री की भांति चलाएंगी ही। ये ताकतें जब पूंजी निवेश करेंगी तो उसकी वापसी मुनाफे के साथ कराने के लिए वे उसे बदलेंगी ही क्योंकि उनके लिए सरोकार और शिक्षण के बजाय कमाई ज्यादा मायने रखती है। आज यही हो रहा है। यही कारण है कि सिनेमा अब कस्बाई नहीं बल्कि मेट्रो और माल वाला हो गया है। आज छोटे कस्बों और छोटे शहरों से सिनेमा की विदाई हो गई है वे या तो आलू के गोदाम बन गए हैं या फिर गेस्ट हाउस या बारातघर। फिल्म निर्माता पर बाजारवादी ताकतों का इतना दबाव है कि वह चाहे हीरोइन के कपड़े उतरवाएं या डांस कराएं लेकिन फिल्म निर्माण पर लगा बजट जरूर वापस कराएं। वैसे सच तो यह है कि आज का सिनेमा सिर्फ इंटरटेनमेंट है और इससे अलग कुछ भी नहीं। यही वजह है कि सिनेमा आज अपने सामाजिक सरोकारों से पीछे हटता जा रहा है। आज की फिल्मों को और हिंदी सिनेमा को इसी रूप में देखा जाना चाहिए।

'बहुवचन' के इस अंक में 'सिनेमा के सौ साल' का इतिहास समेटना बहुत आसान काम नहीं था। इसकी साफ वजह है कि एक पूरी शताब्दी के दौरान कई हजार फिल्मों में यह इतिहास फैला हुआ है। इसके बावजूद सौ साल के सिनेमा की प्रमुख प्रवृत्तियों को पकड़ने की पूरी कोशिश हमारे लेखकों ने की है। मैं सभी लेखकों का हृदय से आभार व्यक्त करता हूं कि उन्होंने 'बहुवचन' के इस आयोजन को सफल बनाने के लिए पूरा सहयोग दिया। पाठकों को सिनेमा के सौ साल की पूरी झलक मिल सके इसका पूरा ध्यान रखा गया है हालांकि हमारी भी एक सीमा है इसका ध्यान रखा जाना चाहिए।

यहां मैं विश्वविद्यालय के कुलपति श्री विभूति नारायण राय के प्रति विशेष रूप से कहना चाहता हूं कि उन्होंने कभी भी संपादक के काम में किसी भी तरह का दखल नहीं दिया और कोई निर्देश नहीं जारी किया। उन्होंने एक स्वस्थ परंपरा यह भी कायम की कि विश्वविद्यालय की किसी भी पत्रिका में प्रधान संपादक के रूप में अपना नाम नहीं प्रकाशित होने दिया। उन्होंने संपादक के रूप में काम करने के लिए पूरी स्वतंत्रता और माहौल दिया। फिल्म विशेषांक से संबंधित प्रगति वे लगातार पूछते रहे इसके लिए मैं उनका विशेष आभार व्यक्त करता हूं।

यहां यह बताना भी जरूरी है कि 'बहुवचन' के अप्रैल-जून-2013 में प्रकाशित 'कहानी का दूसरा समय' विशेषांक को पर्याप्त सराहना मिली और हरिभूमि, सन्मार्ग दैनिक पत्रों और इंडिया टुडे तथा हंस में इस पर टिप्पणियां प्रकाशित हुईं। बहुवचन टीम के सदस्य अमित विश्वास और कंपोजिंग का काम देखने वाले उमाशंकर बघेल के प्रति भी आभार कि उन्होंने इस काम को अंजाम तक पहुंचाने में पूरा सहयोग दिया। यह अंक कैसा लगा आप हमें ईमेल कर एसएमएस कर या चिट्ठी लिखकर जरूर बताएं।

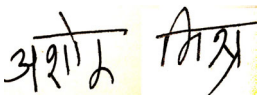

सिनेमा का सफरनामा

- ज्ञानेश उपाध्याय
- सलिल सुधाकर
- विनोद विप्लव

बदलता देश, दशक और फिल्मी नायक

ज्ञानेश उपाध्याय

किसी को भी अपना शुरुआती इतिहास याद नहीं रहता। क्या यह महज संयोग नहीं है कि शुरुआती दौर की बहुत कम फिल्में हमें याद हैं। बताया जाता है कि मूक दौर में 1288 फिल्में बनी थीं, लेकिन उनमें से मात्र 13 फिल्में ही राष्ट्रीय अभिलेखागार में मिलती हैं। बाकी को हम भूल गए या भुला दिया। कहा जाता है कि गर्भकाल और शिशुकाल बहुत परतंत्र और कष्टमय होता है, इसलिए यह बेहतर है कि उसे भुला दिया जाए। प्रकृति ने कुछ ऐसी व्यवस्था कर रखी है कि हम स्वतः अपने बीज और शिशु दौर को भूल जाते हैं। वैसे उन दिनों में जो फिल्में आईं, उनके नाम और परिचय तो हमें मिलते ही हैं और उनके दम पर भी हिंदी फिल्मों का इतिहास बनता है।

कुछ लोग मानते हैं कि भारत में फीचर फिल्म का जन्म 1912 में ही 'पुंडलिक' नामक फिल्म से हो गया था, लेकिन सर्वस्वीकार्य रूप से भारतीय फीचर फिल्मों का जन्म 1913 में माना गया है। यह वही वर्ष था, जब महाकवि रवींद्रनाथ टैगोर को नोबेल पुरस्कार मिला था। उसके बाद साहित्य भले ही खूब रचा गया, लेकिन किसी भी भारतीय साहित्यकार को नोबेल नहीं मिला, दूसरी ओर, सिनेमा ने भी बहुत विकास किया, लेकिन कोई भी संपूर्ण भारतीय फिल्म सिनेमा का सर्वोच्च सम्मान-ऑस्कर नहीं जीत सकी। अब इस पर बहस हो सकती है कि भारतीय सिनेमा और भारतीय साहित्य कितना परिपक्व हुआ है। इसी के साथ हम एक बहस यह भी जोड़ लेते हैं कि भारतीय नायक कितना परिपक्व हुआ है। यह तो दुनिया के परिप्रेक्ष्य में एक दृष्टि हो गई, लेकिन वास्तव में अगर मुख्यधारा की भारतीय फिल्मों की बात करें, तो उनमें अभी भी काफी बचपना है। सौ की उम्र पार करने के बाद भी फिल्मों में कमी खोजी जा सकती है, बचपना खोजा जा सकता है। सिनेमा, साहित्य और नायक, तीनों में यह बचपना बरकरार है। ऐसा नहीं है कि पश्चिमी सिनेमा, साहित्य या नायक एकदम परिपक्व हो गए हैं या उनमें बचपना नजर नहीं आता, लेकिन वहां तुलनात्मक रूप से परिपक्वता और तार्किकता ज्यादा है और तभी वह सिनेमा पूरी दुनिया को अपील करता है, जबकि मुख्यधारा के भारतीय सिनेमा की अपनी एक सीमा है। जैसे भारत, भारतीय समाज और भारतीय आधुनिक मन की एक सीमा है।

देश बदलता रहा है और उसके साथ-साथ फिल्में भी कुछ-कुछ बदलती रही हैं और साथ में उनके नायक भी बदलते रहे हैं। आज के देश, सिनेमा और नायक में हर दौर का कुछ न कुछ शामिल है। एक ही साथ अलग-अलग समय के दृश्य, प्रतीक, गुण और दोष चल रहे हैं। थोड़ा बचपन, थोड़ा किशोरपन, थोड़ी जवानी, थोड़ी प्रौढ़ता और थोड़ा बुढ़ापा, मानो मिलजुलकर कभी थोड़ा-तो कभी ज्यादा साथ-साथ चल रहे हैं। वैसे यह भी ध्यान रखना चाहिए कि बच्चा जब जवानों की तरह बात करता

है, तो उसे अपवाद स्वरूप लिया जाता है, ठीक वैसे ही जवानी में बचपन के लक्षण को अपवाद स्वरूप ही लिया जाता है। बचपन वास्तव में बचपन है और जवानी वास्तव में जवानी। इस बात को ध्यान में रखते हुए मोटे तौर पर समय और उसके प्रभावों को लेकर हम एक रोचक अध्ययन यह कर सकते हैं कि बदलते देश में बदलते दशक के साथ फिल्मी नायक कैसे बदलता चला गया।

दशकवार अगर हम देखें, तो नायक कुछ यों नजर आते हैं :

बीज नायक : 1910 का दशक
शिशु नायक : 1920 का दशक
किशोर नायक : 1930 का दशक
वयस्क नायक : 1940 का दशक
आदर्श नायक : 1950 का दशक
प्रेमी नायक : 1960 का दशक
असंतुष्ट नायक : 1970 का दशक
यथार्थवादी नायक : 1980 का दशक
प्रवासी नायक : 1990 का दशक
विलासी नायक : 2000 का दशक
भ्रमित नायक : 2010 का दशक

भारतीय फिल्मों के शुरुआती दो दशक बीज नायक और शिशु नायक को समर्पित रहे। हम जीना और चलना सीख रहे थे। हमें ठोकर लग रही थी, हम गिर रहे थे, फिर उठकर चल रहे थे। फिल्मों ने भी पौराणिक और ऐतिहासिक कहानियां सुनकर-सुनाकर बचपन बिताया। हमें यह अहसास नहीं था कि हम समाज से भी नायक उठा सकते हैं, तो हमने लगभग सभी नायक अपने पुराणों और इतिहास से उठाए। भारतीय सिनेमा ने पौराणिक कथाओं के साथ ही शुरुआत की और यह कहा जाता है कि शुरुआती वैचारिक बुनियाद तो बचपन में ही बनती है, हमें बचपन में जो संस्कार मिलते हैं, उनसे ही हमारा मानस बनता है। तो कोई आश्चर्य नहीं, आज भी भारतीय फिल्मों की ज्यादातर कहानियां पौराणिक कथाओं-महाभारत-रामायण के कथा-ढांचे से बाहर नहीं आ पाई हैं। दर्शकों को नायक और खलनायक के संघर्ष में आज भी बहुत आनंद आता है। ज्यादातर आधुनिक भारतीय फिल्मों ने भी यह आनंद लेना और देना नहीं छोड़ा है। अच्छे-अच्छे निर्देशक यह ढांचा तोड़ने की कोशिश कर चुके हैं, लेकिन उनमें से ज्यादातर को फिर पारंपरिक ढांचे में आकर काम करना पड़ता है यानी भारतीय फिल्मों के बीज और शिशु नायक ने आज भी हमारा पीछा नहीं छोड़ा है।

यह वही दौर था, जब भारत की आजादी के नायक सिर उठा रहे थे, उनके सब्र का बांध टूटने लगा था, उन्हें समझ में आने लगा था कि देश की मुक्ति के लिए खड़ा होना पड़ेगा। यह कहा जाता है कि बिना मांगे कुछ नहीं मिलता और बिना रोए मां दूध नहीं पिलाती, तो यह वह दौर था, जब फिल्मों ने रोना और मांगना शुरू किया।

एक बांग्ला बने न्यारा

किशोर नायक : 1930 का दशक

1930 वह वर्ष था, जब गांधीजी दांडी मार्च पर निकले थे। उन्होंने फैसला कर लिया था कि अंग्रेजों द्वारा थोपे गए उन तमाम कानूनों को तोड़ेंगे, जो अन्याय के प्रतीक हैं। इसी वर्ष गांधीजी को अन्य भारतीय नेताओं के साथ प्रथम गोलमेज बैठक के लिए लंदन बुलाया गया था। देश की आवाज

सुने जाने की बुनियाद तैयार हो चुकी थी और संयोग है कि 1931 में भारतीय फिल्मों ने भी बोलना शुरू कर दिया। फिल्मकार अर्देशिर ईरानी की 'आलम आरा' रिलीज हुई। विश्व पटल पर भारत की आवाज को साफ होने में वक्त लगा, ठीक उसी तरह से 1930 के दशक में फिल्मों में आवाज को साफ होने में वक्त लगा। कई फिल्में तो 1934 तक मूक ही बनती रहीं। जैसे एक शिशु धीरे-धीरे बोलना शुरू करता है और धीरे-धीरे ही उसकी आवाज साफ होती जाती है, ठीक उसी तरह से 1930 का दशक भारतीय फिल्मों की आवाज साफ होने का दौर है। कहा जाता है कि छोटे बच्चे खूब बोलते-गाते हैं, तो 1932 में बनी फिल्म 'इंद्रसभा' में 69 गीत थे, क्या यह चौंकने वाली बात नहीं है?

इस दौर में भारत में संघर्ष के अनेक स्रोत तैयार हो रहे थे, ठीक उसी तरह से फिल्मों में भी निर्माण के स्तर पर संघर्ष के अनेक स्रोत सामने आ रहे थे। अंग्रेजी राज का फिल्मों पर साफ असर था। अंग्रेज चाहते थे कि फिल्मों में खुलापन तो हो, लेकिन आजादी या संघर्ष की गूंज न हो। ऐसे में इस दशक में भी लगभग दो तिहाई फिल्में धार्मिक चरित्रों व पौराणिक आख्यानों को आधार मानकर बनीं। पौराणिक आख्यानों पर फिल्म बनाना फिल्मकारों के लिए भी लाभ का सौदा था, क्योंकि तब तक ऐसे आख्यानों को लोगों ने किताबों में ही पढ़ा था। बोलती-भागती तस्वीरों का आनंद बढने लगा था, ऐसे में, लोग पर्दे पर किसी सुनी-पढ़ी कहानी को देखकर भावविभोर हो जाते थे।

वैसे इसी दशक में समकालीन सामाजिक कथाओं पर फिल्म बनाने की शुरुआत हो गई थी, जैसे मुंशी प्रेमचंद ने फिल्मकार मोहन भवनानी के लिए फिल्म लिखी थी 'द मिल', जो 1934 में रिलीज हुई थी। बताया जाता है कि इस फिल्म का मजदूर समाज पर गहरा असर हुआ था, फिल्म देखकर मजदूर भड़क जाते थे। प्रदर्शन के बाद दंगे जैसी स्थिति पैदा हो जाती थी, लाहौर, पंजाब, दिल्ली इत्यादि शहरों में इसे प्रतिबंधित भी किया गया था। लोगों को उद्वेलित-उत्तेजित करने वाली फिल्मों में 'द मिल' को भारत की पहली फिल्म माना जाता है।

इस दशक के बिल्कुल मध्य में 1935 में वी. शांताराम की 'अमृत मंथन' रिलीज हुई थी और आगे के दशकों में एक मास्टर फिल्मकार के रूप में स्थापित हुए महबूब खान की 'जजमेंट ऑफ अल्लाह'। बताते हैं कि 'अमृत मंथन' में जूम शॉट्स की शुरुआत हुई थी, यानी चीजों पर करीब से फोकस करने की शुरुआत। 1930 के दशक में फिल्मों के बारे में यह अहसास होने लगा था कि इन्हें हँसी में नहीं उड़ाया जा सकता। देश का मानस बनाने में फिल्मों का बहुत योगदान न था, लेकिन फिल्में उस दिशा में बढ़ने लगी थीं। समाज और फिल्मों के बीच संबंध बनने लगा था। समाज फिल्मों को समझ रहा था और फिल्में समाज को समझ रही थीं। 1930 के दशक में ही भारतीय सिनेमा की कुछ अच्छी हस्तियों की फिल्मी मानसिकता तैयार हुई। फिल्में नौटंकी, रामलीला और पारसी थियेटर से बढ़कर भी कुछ हो सकती हैं, इसका अहसास होने लगा। अच्छे घरों के युवक-युवतियां भी फिल्मों में आने के बारे में सोचने लगे थे। जो लोग फिल्मों को बुरा माध्यम समझते थे, वे भी फिल्मों की उपेक्षा नहीं कर पा रहे थे, क्योंकि ईश्वरीय चरित्रों, संतों, ऐतिहासिक चरित्रों इत्यादि पर ढ़ेरों फिल्में बन रही थीं। लोग विज्ञान का जादू और धार्मिक कथा के आकर्षण में खिंचे चले आते थे। कुल मिलाकर 1930 के दशक में यह लगने लगा था कि फिल्में कुछ खास करने वाली हैं। इस दौर में के.एल.सहगल सबसे बड़े स्टार थे, वे अभिनेता से ज्यादा गायक थे। उनका अभिनय सादा और सतही-सा होता था, मानो किशोर दौर का शिशु स्तरीय अभिनय। वे ढंग से नाटकीय भी नहीं हो पाते थे। दूसरे शब्दों में कहें, तो सहगल के अभिनय में भी अलग तरह का

भोलापन था, जैसे इस देश के लोग भोले थे, ठीक उसी तरह से। के.एल.सहगल न गायकी में प्रशिक्षित थे, न अभिनय में, वे अभिव्यक्ति एवं प्रदर्शन के लिए संघर्षरत थे, जैसे यह देश संघर्षरत था। जैसे देश के लिए किया जा रहा संघर्ष सबको प्रेरित कर रहा था, ठीक उसी तरह से सहगल द्वारा किया गया संघर्ष भी बहुतों को प्रभावित कर रहा था। उस दौर में अभिनेता और आम लोग सहगल की तरह गीत गाने और अभिनय करने में आनंद की अनुभूति करते थे और लगता था कि सबकुछ ऐसे ही चलेगा। 1935 में ही पी.सी. बरुआ ने सहगल को मुख्य भूमिका में लेकर 'देवदास' का निर्माण किया था। आज अगर इस 'देवदास' को कोई देखे, तो सब कुछ बड़ा बचकाना लगेगा, लेकिन हँसने वाली कोई बात ही नहीं है, क्योंकि वाकई यह फिल्मों के लिए किशोर दौर था। फिल्में ठीक से बढ़ना, बोलना और दौड़ना सीख रही थीं।

फिल्में तो अपने बचपन व किशोरवय को छोड़कर आगे बढ़ गईं, लेकिन वास्तव में देश 1930 के दौर की बहुत-सी चीजों को आज भी ढो रहा है। जैसे इसी दौर में सांप्रदायिकता और जातिवादी राजनीति भी उभरने लगी थी। 1935 में गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट पास हो चुका था और देश में विभिन्न स्तरों पर संघर्ष के अनेक बचकाने प्रयोग हो रहे थे, कुछ ऐसे प्रयोग आगे चलकर युवा या अधेड़ हुए, लेकिन कई प्रयोग आज भी बचकाने ही लगते हैं और वैसे ही बने हुए हैं। 1930 के दशक का अध्ययन अगर किया जाए, तो हम पाएंगे कि इस दशक में अंग्रेज देश को बांट रहे थे, भारत को 11 प्रांतों में बांट दिया गया था, बर्मा को भारत से अलग कर दिया गया था। कांग्रेस में फूट पड़ गई थी। सुभाष चंद्र बोस ने अपना अलग रास्ता चुन लिया था। वैसे संयोग व दुर्भाग्य से नेताजी का यह प्रयोग भी अगले दशक में बहुत हद तक बचकाना-सा ही सिद्ध हुआ।

दूसरी ओर, यह सुखद संयोग है कि इस दशक में भारतीय राजनीति और समाज में पुख्ता रूप से कुछ हस्तियां उभरीं, ठीक उसी तरह से फिल्मों में भी के.एल. सहगल, सोहराब मोदी, मोतीलाल, अशोक कुमार, पृथ्वीराज कपूर जैसे अच्छे अभिनेता उभरे, जिन्होंने बाद की पीढ़ियों को अपने अच्छे काम से बहुत प्रभावित किया।

अंखिया लड़ाके... चले नहीं जाना

वयस्क नायक : 1940 का दशक

इस दशक में फिल्मी माहौल कुछ गंभीर होने लगा था, लडकपन तो काफी हद तक पीछे छूट गया था। पौराणिकता के प्रति आकर्षण कम होने लगा था और फिल्में समकालीन समाज को संबोधित करने लगी थीं। इस दौर में फिल्मी नायक को एक पुख्ता रूप देने में जिन गंभीर फिल्मकारों का नाम लिया जा सकता है, उनमें देविका रानी, महबूब खान, नितिन बोस, वी. शांताराम, अमिय चक्रवर्ती, के.ए.अब्बास, केदार शर्मा, कमाल अमरोही और राजकपूर इत्यादि प्रमुख हैं। इनमें से कुछ फिल्मकार कहीं न कहीं इटली में उभरे फिल्मी नवयथार्थवाद से प्रभावित थे। नवयथार्थवादी फिल्में समय की मांग थीं। विश्व युद्ध से पीड़ित दुनिया, जिसमें बहुत गरीबी, बेरोजगारी और असमानता थी, वर्ग संघर्ष बढ़ गया था, आजादी की मांग बढ़ गई थी, विज्ञान भी तेज तरक्की कर रहा था, ऐसे में फिल्मों को ज्यादा समय तक समकालीन चेतना से बचाया नहीं जा सकता था। जैसे दुनिया में नवयथार्थवादी सिनेमा सशक्त होकर उभरा, वैसे ही भारत में भी ऐसे फिल्मकार होने लगे, जिनकी नजर केवल बाजार या टिकट खिड़की पर नहीं थी, जो समाज के बारे में भी निरंतर सोच रहे थे। हालांकि लोगों में भी मुक्ति की चाहत थी। भारत की अगर बात करें, तो आजादी की चाहत इस दशक में शिखर पर थी, समस्याओं से स्वतंत्र होने और राहत पाने की इच्छा थी। यह दुनिया में अंग्रेजों

की हार का दशक था, भारतीय युवा विजेता के रूप में खड़ा हो चुका था और भारतीय फिल्मी नायक भी विजेता के रूप में पहचान बनाने लगा था। फिल्में राह दिखाने की मुद्रा में आने लगी थीं, जहां मनोरंजन करना उनका ध्येय होता था, वहीं उनमें यह प्रगतिशीलता भी गहरे बसने लगी थी कि लोगों और समाज का भी कुछ भला करना है, कोई न कोई अच्छा संदेश देना है। गांधीवादी, मार्क्सवादी या समाजवादी प्रभाव फिल्मों में स्पष्ट दिखने लगा था।

यह वही दशक है, जिसमें संगीत भी खुलकर रंग जमाने लगा। यह महज संयोग नहीं है कि संगीत का आनंद और संगीत की मनमोहक लय तभी बनी, जब देश आजाद हुआ। आजाद हवा में गीत गाने और सुनने का आनंद बढ़ गया। देश 1947 में आजाद हुआ, तो मानो फिल्मी संगीत को कोठों और नाटकीयता के करीब पहुंच रही शास्त्रीयता से आजादी मिली। दो फिल्मों ने भारत में संगीत के व्याकरण को काफी हद तक बदल दिया और संगीत को सुगम-सुलभ-सरस बना दिया। 1949 में ही राजकपूर की 'बरसात' फिल्म रिलीज हुई थी, जिसमें शंकर-जयकिशन ने कमाल कर दिया था। इसी वर्ष दूसरी संगीत प्रभावी फिल्म थी, कमाल अमरोही की 'महल', जिसमें संगीतकार खेमचंद प्रकाश ने भी संगीत को सुगम बनाने में योगदान दिया। लता मंगेशकर के नेतृत्व में देश के ज्यादातर गायकों की आवाज भी आजाद हुई और नकल या नाक के प्रभाव से अपनी-अपनी मौलिक आवाज की ओर गायक बढ़ चले। वाकई मौलिकता ही शानदार निर्माण में कारगर होती है। देश में भी अनेक मौलिक कार्य हो रहे थे और फिल्मी दुनिया में भी अनेक मौलिक कार्य हो रहे थे। फिल्में पूरी तरह से देश का साथ देने लगी थीं। पंडित नेहरू की नीति समाजवाद की निकट थी, तो ज्यादातर फिल्में भी समाजवादी प्रभाव में थीं।

इस दशक में हम अगर कोई एक प्रतीक नायक खोजने की कोशिश करें, तो थोड़ी मुश्किल होती है, लेकिन दिलीप कुमार को हम इस दशक का प्रतिनिधि नायक मान सकते हैं। वर्ष 1945-46 में नितिन बोस के निर्देशन में दिलीप कुमार की भूमिका वाली फिल्म 'मिलन' आई थी। बाम्बे टॉकीज की यह फिल्म दिलीप कुमार की पहली हिट थी। इसके पहले दिलीप कुमार 'ज्वार भाटा' और 'प्रतिमा' फिल्म में काम कर चुके थे, लेकिन जब 'मिलन' आई, तो उनकी मैथड एक्टिंग या पद्धतिबद्ध अभिनय को देखकर स्पष्ट हो गया कि न केवल भारतीय फिल्मों को एक वयस्क नायक मिल गया है, बल्कि अभिनय में भी वयस्कता आ गई है। 'मिलन' के बाद दिलीप कुमार की इसी दशक में नौ और फिल्में आईं और वे प्रेमी, समर्पित नायक के रूप में हर दिल अजीज हो गए।

मैंने दिल तुझको दिया

आदर्श नायक : 1950 का दशक

1950 का दशक आदर्श दौर है। इस दौर में फिल्मकारों के दिमाग में भी देश और समाज के प्रति चिंतन हावी था। यह महबूब खान, दिलीप कुमार, राज कपूर, बिमल राय, के.ए.अब्बास, गुरुदत्त, चेतन आनंद, देव आनंद का चरम दौर है। इसी दशक में सत्यजित राय ने भी अपनी सजग चेतना से पूरे भारतीय चिंतन को प्रभावित किया। इस दौर की शुरुआत में 'आवारा' जैसी बेहतरीन फिल्म आई, 'मदर इंडिया' और 'जागते रहो', जैसी फिल्म भी इसी दौर में बनी। 1955 में राजकपूर की फिल्म 'श्री 420' आई। इस फिल्म में नायक अमीर होने के लिए गलत राह पर चल पड़ता है, लेकिन अभिनेत्री अपने आदर्श से जरा भी नहीं डिगती और अंततः नायक भी आदर्श की ओर लौट आता है। इस दौर की फिल्मों में आदर्श की जीत बहुत आम परिघटना थी। गलत से गलत व्यक्ति भी आदर्श की ओर लौट आता था या जो नहीं लौटता था, वह मारा जाता था। इसी दौर में शंभु मित्रा

की 'जागते रहो' जैसी शानदार फिल्म आई, जिसमें यह दिखाया गया कि अमीर होने के लिए लोग क्या-क्या करते हैं और एक ईमानदार गरीब आदमी पानी के लिए भी तरस जाता है, वह पानी भी पीता है, तो उसे चोर कहा जाता है। इस फिल्म का गरीब नायक खड़े होकर पूरे समाज को आईना दिखा देता है।

वास्तव में 1950 का दशक भारतीय फिल्मों में नायकत्व के सशक्त होने का समय है। भारतीय समाज सदा से नायक की तलाश में रहा है, कोई ऐसा नायक, जो सबके लिए बात करे, सबके लिए लड़े, सबको संबोधित करे। इस दशक में सरकार के अंदर ही अनेक नायक थे, जो आजादी की लड़ाई से होकर उभरे थे। महात्मा गांधी का दौर बीत चुका था, पंडित जवाहरलाल नेहरू का दौर चल रहा था। नेहरू फिल्म प्रेमी व्यक्ति थे। वे फिल्म वालों की लोकप्रियता से प्रभावित रहते थे। उनके समय सरकार ने फिल्मों के विकास के लिए कई तरह से प्रयास शुरू किए, इससे भी फिल्मों में नायकत्व को बल मिला। पहले के दशकों की अपेक्षा इस दशक में फिल्में ज्यादा बेहतर ढंग से सुलझने लगीं, साफ-साफ अपनी बात रखने लगीं। गरीबी, अभाव, तरह-तरह के भेदभाव, जातिवाद, सांप्रदायिकता, फासीवाद, हिंसा इत्यादि देश की बड़ी समस्याओं को फिल्मों ने बहुत तरीके से भरपूर मनोरंजन करते हुए भी प्रस्तुत किया।

इस दशक के प्रतिनिधि नायक-अभिनेता का अगर चुनाव किया जाए, तो दिलीप कुमार, देव आनंद और राजकपूर के बीच में हमें राजकपूर को चुनना चाहिए, क्योंकि वे एक ही साथ कई तरह की प्रतिभा का प्रदर्शन कर रहे थे। निर्माता, निर्देशक, अभिनेता, संपादक इत्यादि की भूमिका में वे अपने समकालीन स्टारों से आगे थे। हां, इसी दौर में एक और प्रतिनिधि नायक-अभिनेता को भी श्रेय देना चाहिए, बलराज साहनी। इनके बिना यह दशक आदर्श नहीं बनता, बिमल राय के निर्देशन में 'दो बीघा जमीन' फिल्म बलराज साहनी के लिए ही नहीं, बल्कि इस दशक में नया सिनेमा के लिए भी उत्कर्ष है।

इस दशक की एक और खास बात है कि नायक आदर्शों और समाजवादी मूल्यों का प्रत्यक्ष या परोक्ष समर्थक था, लेकिन उसे ठीक से प्यार करना नहीं आता था। प्यार की अनुभूति मजबूत आकार नहीं ले सकी थी। 'अरेंज्ड मैरेज' का समाज था, जैसी समाज और परिवार की इच्छा होती थी, युवा वैसा ही करते थे। अपने प्यार की बलि चढ़ा देते थे या समझ ही नहीं पाते थे कि प्यार में क्या किया जाए। ध्यान दीजिए, इसी दौर में बिमल राय ने 'देवदास' का निर्माण किया। एक ऐसा नायक जो न ठीक से प्यार कर सका, न ठीक से प्यार पा सका। गुरुदत्त की 'प्यासा' में भी यही हुआ। देवदास अगर चाहता, तो बहुत आसानी से पारो से विवाह करके सुखी हो जाता, पारो उसे बहुत चाहती थी, लेकिन फिर वही जमींदारी, लोकलाज, परिवार, समाज इत्यादि-इत्यादि। फिर उसे चंद्रमुखी से प्यार हुआ, लेकिन वह भी मुकाम पर नहीं पहुंच सका, फिर वही लोकलाज, परिवार, समाज इत्यादि-इत्यादि। शायद यह एक तरह से प्रगतिशीलता का आह्वान था कि देखो, व्यक्तिगत प्यार की कोई औकात नहीं, देश को देखो, समाज को देखो और तब फैसला लो। एक तरह से इस दशक में नायक यह तो बोल सका कि मैंने दिल तुझको दिया, लेकिन बात आगे नहीं बढ़ा सका, क्योंकि उसमें साहस का अभाव था। प्रेम की पुकार की तुलना में देश, समाज और परिवार की पुकार बड़ी थी।

फिर भी 1950 के दशक का फिल्मी नायक संपूर्ण हिंदी सिनेमा का सबसे प्रभावी नायक है, इसकी नकल आज भी हो रही है। हमें यह भी ध्यान देना चाहिए कि 1950 के दशक का नायक

ही भारतीय सिनेमा को विश्व पटल पर ले गया था। राजकपूर दुनिया के कई देशों में लोकप्रिय थे, ठीक वैसे ही जैसे विश्व पटल पर नेहरू राजनीतिक दुनिया में चर्चित थे। पंडित नेहरू समाजवादी थे और उस दौर के राजकपूर भी समाजवादी। यह एक अलग तरह के आश्चर्य का समय था, सरकार भी नैतिकता के साथ समता और संपन्नता के सपने देख रही थी और फिल्मों ने भी यही किया। उस दौर की सरकार भी सेकुलर होने के प्रयास में थी और फिल्में भी ठीक ऐसा ही कर रही थीं। कोई शक नहीं, जब भी भारतीय फिल्मी नायक का विश्वास डिगेगा, उसे 1950 के दशक के पूर्वज नायक से सीखना पड़ेगा और देश को तो अपनी बेहतरी के लिए उस दशक के अनुभवों से हमेशा सीखना चाहिए। इस दशक में बहुत कुछ है सीखने के लिए।

पिया तो से नैना लागे रे

प्रेमी नायक : 1960 का दशक

यह दशक प्रेमियों का दशक था। इस प्रेम का जन्म समाजवाद की कोख से हुआ था, तो उसकी मस्ती भी देखने लायक थी, ताजा खिले फूल की तरह। राजकपूर ने ही एक तरह से प्रेम का ट्रेंड सेट किया, 1962 में उनकी फिल्म आई 'जिस देश में गंगा बहती है', उसमें एक गाना है- 'प्यार कर ले, नहीं तो फांसी चढ़ जाएगा।' यह एक तरह से नारा था कि प्यार की ओर बढ़ा जाए, क्योंकि प्यार नहीं, तो कुछ भी नहीं। इसी दशक में 'मुगले आजम' का गीत - 'जब प्यार किया तो डरना क्या'... खूब गूंज रहा था। प्यार की मांग बढ़ गई थी। दरअसल, 1962 में भारत को युद्ध में पराजय मिली, लोग निराश थे, नेहरू और उनके युग की विदाई हुई। 1965 में भारत को फिर युद्ध लड़ना पड़ा, ऐसे में, गीत-संगीत और प्रेम ने टूटे व घायल दिलों पर मरहम लगाने का काम किया। फिल्में राहत की तरह थीं।

इस दशक के बिल्कुल मध्य में 1965 में शानदार गीतों से सजी 'गाइड' रिलीज हुई। प्रेम ही फिल्म का केंद्र था। एक गाना मानो पूरी कहानी कह रहा है - 'कहीं बीते ना ये रातें कहीं बीते ना ये दिन, गाता रहे मेरा दिल, तू ही मेरी मंजिल...।' 1964-65 में ही राजकपूर की फिल्म 'संगम' की धूम थी। 'मेरे मन की गंगा और तेरे मन की यमुना का, बोल राधा बोल संगम होगा कि नहीं. ..'

नायक की इस मनोकामना ने इस दशक में अपना चरम देखा। प्रेम का दौर था, फिल्में सौभाग्य से रंगीन हो गई थीं। सपनों को चार चांद लग गए थे। 'संगम' में राजकपूर अपना कैमरा लेकर दुनिया घूमने निकल गए। यह रंगीन होने का ही नतीजा था कि फिल्मी नायक विदेश घूमने निकल गया। देश की राजनीति में भी तरह-तरह के बदलाव और प्रयोग चल रहे थे, सत्ता बदल रही थी, सत्ता का स्वभाव बदल रहा था, तनाव बढ़ रहा था, ऐसे में, फिल्मकारों ने महसूस किया कि उनका काम है लोगों को अच्छा अनुभव कराना, क्योंकि लोग पैसे खर्च करके सिनेमा देखने आते हैं। वे अच्छा देखें, अच्छा सुनें, फिल्मकारों का यही लक्ष्य बनने लगा। यह वही दशक है, जब मेकअप का काम बढ़ गया, बनावट पर जोर दिया जाने लगा। वास्तविकता पार्श्व में जाने लगी। राजू गाइड (गाइड) से हीरामन गाड़ीवान (तीसरी कसम) तक, सारे नायक प्रेम के पीछे भाग रहे थे। दिल का मामला नाजुक हो रहा था। यह गाना भी खूब चला कि- 'आजकल तेरे मेरे प्यार के चर्चे हर जुबान पर, सबको मालूम है और सबको खबर हो गई. . .'। लोग भी बहुत खुश थे, इस दौर में प्रेम शायद इसलिए भी ज्यादा चल गया, क्योंकि गीतों के शब्द शानदार थे और संगीत भी।

इस दशक की एक और खास बात है कि नायक और नायिका, दोनों के ही 'सेक्स अपील'

में इजाफा हुआ। यह अपील कोई बुरी बात नहीं थी, क्योंकि इस अपील में उस दौर में बहुत साफगोई थी। प्यार था, सुंदरता थी, लेकिन अनुशासन भी था। किसी के लिए मर मिटने का इरादा था, सुंदर दिखने की चाहत थी, साफ-सुथरा रहने का प्रयास था। इसका निश्चित रूप से समाज पर गहरा असर पड़ा। एक अच्छा और साफ-सुथरा मध्य वर्ग और मध्यवर्गीय मानसिकता को तैयार करने में इस दौर के नायक ने काफी मदद की। शहरों में सुधार आया, कॉलेजों के माहौल में सुधार आया, कुछ खुलापन आया, परस्पर सामाजिकता बढ़ी, प्रेम की स्वीकारोक्ति बढ़ी, प्रेम विवाहों की संख्या बढ़ी। इस दौर की पारिवारिक फिल्मों ने भी समाज और देश को काफी कुछ सिखाया।

इस दशक के प्रतिनिधि नायक-अभिनेता अगर हम चुनें, तो शम्मी कपूर, देव आनंद और राजेश खन्ना सबसे आगे नजर आएंगे। विशेष रूप से, आज भी न देव आनंद जैसा कोई नायक मिला है और न राजेश खन्ना जैसा। दोनों ही नायकों का अलग-अलग स्नेहिल प्रभाव था, दोनों ही नायक ऐसे थे, जिनके लिए जान देने को लोग तैयार थे। कहा जाता है कि लोग इन नायकों को खून से खत लिखते थे। दोनों ही रोमांटिक और सुदर्शन अभिनेता थे। यह भी एक खास बात है कि इस दौर में अच्छा दिखने वाले अभिनेताओं की भारी मांग थी। इसी दशक में फिल्मी नायक या अभिनेता बनना कठिन हो गया। फिल्म बनाने का खर्च बहुत बढ़ गया था। स्टार छवि की मांग बढ़ गई थी। फिल्म निर्माण की चुनौती बढ़ गई थी। इस दशक के आखिर तक श्वेत-श्याम फिल्मों ने पूरी तरह से विदाई ले ली। रंगीन रुपहले पर्दे पर मजबूती से टिकना आसान नहीं रहा। वैसे प्रेम की डगर पर टिकना भी आसान नहीं होता। हम नहीं भुला सकते कि फिल्मी नायकों ने इस दशक में फिल्मों में जितना आदर्श प्यार किया, उतना अन्य किसी दशक में देखने में नहीं आया।

देना पड़ेगा मोहब्बत का इम्तेहान

असंतुष्ट नायक : 1970 का दशक

जब यह दशक शुरू हुआ, तो लोगों में असंतोष की भावना आ चुकी थी। यह असंतोष संगीतमय ढंग से भी उभरने लगा था। 1971 में कमाल अमरोही की फिल्म 'पाकीजा' के एक गाने की देश में बड़ी गूंज थी- 'इन्हीं लोगों ने ले लीन्हा दुपट्टा मेरा... हमरी न मानो सिपहिया से पूछो, जिसने... भरी बजरिया में छीना दुपट्टा मेरा...।' इस दौर का नायक व्यवस्था से निराश होने लगा था। सरकारी नीतियों और सरकारी लोगों का शिकंजा कसने लगा था। देश में लोगों और नायकनुमा तमाम लोगों को यह अहसास हो गया था कि देश की समस्याओं का समाधान उतना आसान नहीं है, जितना कि 1950 के दशक में सोचा गया था। राजनीति कोरे वादों से अपना काम चला रही थी। तत्कालीन राजनीतिक नायक सरकार के समक्ष शिकायत दर्ज कराने लगे थे। साहित्य में भी सरकार के प्रति निराशा और रोष का भाव आने लगा था। नायक विचलित होने लगे थे। ऐसे में, जब यह गाना बजा कि 'इन्हीं लोगों ने ले लीन्हा दुपट्टा मेरा', तो मानो यह अहसास हुआ कि देश की धरती गुहार लगा रही है, शिकायत कर रही है कि उसके साथ बहुत बुरा हो रहा है।

इस दशक में नायक का गुस्सा धीरे-धीरे बढ़ा, 'जंजीर' आई, तब भी ठीक था, क्योंकि नायक सरकार के दायरे में ही था, वह सरकार का अंग बनकर समाधान तलाश रहा था, लेकिन उसके बाद दशक के ठीक बीच में 1975 में 'शोले' आई, जिसमें नायक सरकार से बाहर आ चुका था, क्योंकि सरकार में रहते हुए उसे न्याय नहीं मिला था, 'शोले' का ठाकुर पहले पुलिस अधिकारी था, लेकिन जब पुलिस की नौकरी करते हुए उसका परिवार मार दिया गया, उसके हाथ काट दिए गए, तब निराश होकर उसे व्यवस्था से बाहर आना पड़ा और तब उसके सहयोगी बने दो अपराधी। सरकार

की व्यवस्था से इतर एक व्यवस्था बनी, जिसने डकैतों से लोगों को मुक्ति दिलाई। एक तरफ पीड़ित पक्ष था, दूसरी तरफ खलनायक था, जिसका व्यवस्था में कोई विश्वास नहीं था, तो तीसरी तरफ दो अपराधी थे, जो पैसे के लिए ही खलनायक को मारने के लिए तैयार हुए थे। देश की व्यवस्था ऐसे बिगड़ रही थी कि एक भ्रम खड़ा हो गया कि इसमें नायक कौन है। कुछ लोगों ने पीड़ित पक्ष - ठाकुर - को नायक माना, तो किसी ने अपराधी जय-वीरू को नायक माना, तो ऐसे लोग भी थे, जिन्होंने खलनायक गब्बर सिंह को ही नायक मान लिया। यह कहा जाता है कि असंतोष से क्रोध होता है और क्रोध के माहौल में आदमी अंधा हो जाता है। हम यह देखते हैं कि यह भ्रम समाज में बाद के दशकों में बढ़ता चला गया, एक दौर ऐसा भी आया, जब गब्बर सिंह ही नायक मान लिया गया, 'शोले' के जय (अमिताभ बच्चन) ने गब्बर सिंह जैसा किरदार बहुत शौक से -दूसरों से छीनकर- निभाया।

इसमें कोई शक नहीं कि 1970 का दशक असंतुष्ट नायकों का दौर है। तत्कालीन राजनीति पर अगर गौर करें, जहां एक ओर, प्रतिपक्ष (जयप्रकाश नारायण) में असंतोष का भाव था, वहीं दूसरी ओर, सत्ता पक्ष (इंदिरा गांधी) में देश में फैले असंतोष के प्रति रोष का भाव था। संघर्ष की स्थिति बनी, तो पीड़ित पक्ष को एक हद तक खुशी मिली, लेकिन वह वास्तविक जीत से वंचित रह गया। दोनों पक्ष के नायकों ने उसे निराश किया। संपूर्ण क्रांति का उत्थान और उसकी विफलता इसी दशक की घटनाएं हैं। यह असंतोष और विरोधाभास का दशक है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सत्ता पक्ष ने सेंसरशिप का प्रयोग किया था, आपातकाल लगा था। अखबारों ही नहीं, फिल्मों पर भी नजर रखी जाती थी। एक फिल्म 'किस्सा कुर्सी का' में सत्ता के प्रति विरोध का भाव था, तो इस फिल्म की मूल कॉपी को सत्ता पक्ष के महाबलियों ने नष्ट कर दिया था। कला से राजनीति तक चहुं ओर असंतोष का भाव था।

हम यह कह सकते हैं कि इस दशक में भी निराशा, असंतोष या दुःख का टोन राजकपूर ने सेट किया था। वर्ष 1970-71 में चर्चित रही 'मेरा नाम जोकर' फिल्म की व्यंजना बहुत गहरी है। गरीबी और प्रेम में जब निरंतर निराशा हाथ लगती है, तब नायक जोकर बन जाता है। हम गरीब जनता ने सरकारों को चुना, बनाया, लेकिन सरकारें कहीं और समर्पित रहीं। इस फिल्म का जोकर भी तो यही करता है, अपने भोलेपन से अपने बड़े होने तक, एक के बाद एक नायिकाओं को चुनता है, चाहता है, आगे बढ़ाता है और नायिकाएं किसी और को समर्पित हो जाती हैं, तो यह अकेला, निराश आम आदमी जोकर ही तो है! वह समस्याओं से भरपूर सर्कस में खड़ा है और उसके हिस्से की तमाम खुशियां-नायिकाएं दूर चली गई हैं। वास्तव में सरकार की उपेक्षा ने आम आदमी को जोकर बनाकर रख दिया। 'मेरा नाम जोकर' को ऐसे भी देखना चाहिए। वैसी बड़े दिल वाली फिल्म बनाने का साहस फिर किसी ने नहीं किया, क्योंकि जनता जोकर दिखना नहीं चाहती। उसे तो उन सबसे बदला लेना है, जिन्होंने उसे ठगा है, लूटा है, तरह-तरह से उत्पीड़ित किया है। इस दशक में यह सिद्ध हो गया कि भारतीय नायक जोकर नहीं बनेगा, वह लड़ेगा, दुश्मनों को चुन-चुनकर मारेगा। पर्दे पर गुंडे जब पिटते थे, तब लोगों की आंखों में खुशी के आंसू आ जाते थे, आज भी आ जाते हैं। गुस्से को हिंसा से रिलीज करने का शौक भारतीय नायकों को 1970 के दशक में ही हुआ है और वे आज भी अपना यह शौक पूरा करते हैं और जनता तालियां बजाती है। 1960 के दशक का प्रेमी फॉर्मूला और 1970 के दशक की मारधाड़- एक्शन का फॉर्मूला आज भी आजमाया जाता है और हिट होता है। सफल फिल्मी व्याकरण इस दशक में ज्यादा स्पष्ट हुआ। प्रेम, संगीत, ड्रामा, हास्य

और मारधाड़, ये पांच विधाएं ऐसी थीं, जिन्होंने भारतीय फिल्मों में खुद को मजबूत कर लिया। इन विधाओं का अच्छा सम्मिश्रण आज भी हिट और सुपर हिट होता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि इस दशक के प्रतिनिधि नायक अमिताभ बच्चन हैं। इस दशक का मध्य वर्ष 1975 बहुत महत्वपूर्ण है, अमिताभ की 'दीवार', 'शोले' और 'फरार' इसी वर्ष की फिल्में हैं, जिनमें वे एंग्री यंगमैन की भूमिका में बेहतरीन तरीके से उभरे। वैसे इस दशक में रोष को जाहिर करने वाले अभिनेताओं में धर्मेंद्र को नहीं भुलाया जा सकता। 'कुत्ते, मैं तेरा खून पी जाऊंगा...' जैसा सिनेमाई संवाद धर्मेंद्र के अलावा और किसी पर नहीं जमा। अमिताभ समय के साथ खुद को बदलते रहे, लेकिन 1970 के दशक में गुस्से वाले आदमी के रूप में धर्मेंद्र की जो छवि बनी, उसने उनका पीछा नहीं छोड़ा और इसका प्रभाव उनके बेटे सनी देओल की छवि पर भी पड़ा। ठीक इसी तरह से 1970 के दशक में जो हिंसक मानसिकता पैदा हुई, वह आगे की पीढियों को मिलती चली गई। देश में मुखर रोष के प्रतिनिधि इस दशक ने देश और फिल्मी नायक को भी हमेशा के लिए बदल दिया।

पापियों के पाप धोते-धोते

यथार्थवादी नायक : 1980 का दशक

दशक की शुरुआत में ही देश ने समझौता कर लिया। राजनीति में जिन नायकों को देश ने पिछले दशक में सत्ता से बाहर कर दिया था, उन्हीं लोगों को देश फिर सत्ता में ले आया यह सोचकर कि तुलनात्मक रूप से यही बेहतर नायक हैं। यानी देश ने यथार्थ या वस्तुस्थिति को स्वीकार कर लिया। कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि इस दौर में यथार्थवादी फिल्मों की बाढ़-सी आ गई। नायक का नजरिया जमीनी हकीकत की ओर मुड़ा। आदर्शवाद हो, प्रेम हो, असंतोष हो, हर जगह यथार्थ दिखाने की कोशिश होने लगी। समानांतर सिनेमा का आंदोलन इसी दौर में सशक्त होकर उभरा। नसीरुद्दीन शाह, ओम पुरी, स्मिता पाटिल, शबाना आजमी, अनुपम खेर इस दौर के चर्चित यथार्थवादी नायक-नायिका थे। यह उम्मीद एक तरह से टूट चुकी थी कि फिल्मी नायक कोई क्रांति करेंगे, फिल्मी नायक तो उसी कथा को दर्शकों के सामने परोस रहे थे, जो कथा खुद दर्शकों के बीच बिखरी हुई थी। एक होड़-सी थी कि समाज की गंदगी या कमी को कौन बेहतर ढंग से सिनेमा में पेश करेगा, भ्रष्टाचार को कौन सबसे वीभत्स रूप में पेश करेगा।

इसी दशक के बिल्कुल मध्य में 1985 में राजकपूर ने 'राम तेरी गंगा मैली' का निर्माण किया। यह फिल्म सुपर हिट हुई। बात खुल चुकी थी, तो स्त्री शरीर बोलिए या स्त्री का सौंदर्य बोलिए, यह भी यथार्थ ही था। इस फिल्म पर अश्लील होने का आरोप लगा, तो फिर लोग क्यों इसे देखने गए? क्या यह एक यथार्थ नहीं है कि लोग अश्लीलता देखना चाहते थे, यह बात अलग है राजकपूर सौंदर्य दिखाना चाहते थे। यह बात ठीक उसी तरह से थी, मानो आपने समाज, शासन, प्रशासन का यथार्थ देख लिया, तो आप शरीर का भी यथार्थ देख लीजिए। भ्रष्टाचार, अन्याय हर किसी के साथ था, तो शरीर भी तो हर किसी के साथ था, फिर भी लोग देखना चाहते थे। पुरुष भी यथार्थ देखना चाहते थे और स्त्रियां भी। 'राम तेरी गंगा मैली' स्त्रियों के बीच भी बहुत चर्चित हुई। एक नदी या गंगा का प्रदूषण भी तो यथार्थ ही था, '...राम तेरी गंगा मैली हो गई, पापियों के पाप ढोते-ढोते...।' नदी का प्रदूषण आज भी व्यावसायिक सिनेमा का विषय नहीं बन पाया है, लेकिन 1980 का दशक ही कुछ ऐसा था कि इस दौर का सबसे बेहतरीन व्यावसायिक सिनेमा भी यथार्थवादी हथियार से लैस था।

इस दशक की प्रतिनिधि फिल्म के रूप में हम 'मशाल' फिल्म को भी देख सकते हैं। दिलीप कुमार और अनिल कपूर की भूमिका वाली इस शानदार फिल्म में बदलते और निष्ठुर होते समाज को बहुत अच्छी तरह से उकेरा गया था। समाज में लोग एक दूसरे की मदद करने से पीछे हटने लगे थे, लोग मतलबी होने लगे थे। लोग घी निकालने के लिए अपनी उंगली टेढ़ी करने लगे थे, इन सब सच्चाइयों को 'मशाल' फिल्म में बखूबी दर्शाया गया।

इस दशक में टूटते परिवारों की सच्चाई को भी बेहतरीन तरीके से पेश किया गया। फिल्मी नायक ने पारिवारिक परेशानियों से जूझने में काफी वक्त लगाया। प्रेम भी था और हिंसा भी। इस दशक में यथार्थवाद की ऐसी लहर थी कि लगता था कि फिल्में फिर कभी सपनों की ओर नहीं लौटेंगी। व्यावसायिक फिल्में परिवार और मनुष्य संबंधों पर केंद्रित होकर यथार्थ दिखा रही थीं, वहीं दूसरी ओर, समानांतर फिल्में समाज का ठोस यथार्थ दिखा रही थीं। इलाज दोनों में से किसी के पास नहीं था, इसलिए हम यह कह सकते हैं कि फिल्में एक तरह से पलायन की शिक्षा दे रही थीं। नायकत्व दांव पर लग गया था, क्योंकि नायक सताए जा रहे थे, दूसरे चरित्रों द्वारा संचालित होने लगे थे।

देश की राजनीति में भी ठीक ऐसा ही हो रहा था, देश की राजनीति के नायक भी दूसरों के हाथों की कठपुतलियां-से बन गए थे। उन्हें तरह-तरह की चौकडियां घेरने लगी थीं। नेताओं को मजबूर किया जा रहा था कि वे भ्रष्टाचार, गरीबी, भाई-भतीजावाद, सांप्रदायिकता जैसी सच्चाइयों को स्वीकार कर लें। इस दशक में नायक सांप्रदायिकता की ओर मुड़े, बड़े घोटाले हुए, उच्च स्तरीय धोखेबाजी हुई। असंतोष का इलाज न हुआ, तो आतंकवाद की भी जमीन तैयार हुई। इस दशक में देश का यथार्थ खुलकर सामने आ गया, हम भारतीय भले ही गंगा की पूजा करते हों, लेकिन हम स्वयं अपने हाथों से गंगा का गला घोंट रहे हैं। हम यह कह सकते हैं कि यह भारतीय नायकत्व के ढहने का दशक था। कोई भी नायक नैतिकता के पैमाने पर ज्यादा टिक नहीं पा रहा था, समझौते करने पड़ रहे थे। फिल्मी नायकों ने भी खूब समझौते किए। समाज को समझौतावादी और पलायनवादी बनाने में इस दशक के नायकों का सर्वाधिक योगदान है। कोरा सच बहुत कम लोगों को अच्छा लगता है, इसलिए जो फिल्में ज्यादा यथार्थवादी थीं, उनको खरीदने वाला कोई न था। विडंबना है कि नायकत्व की हत्या करके स्वयं नायक के रूप में उभरने वाला समानांतर सिनेमा रोजी-रोटी के लिए तरसने लगा था। इस दशक में समाजवादी और कलावादी, दोनों ही तरह के नायक उभरे, इन दोनों को ही व्यावसायिकता पसंद नहीं थी। हालांकि यह भी बड़ा सच है कि दोनों ही तरह के नायक अपने सिद्धांतों पर मुस्तैदी से टिक नहीं सके, दोनों ने ही कम या ज्यादा, देर या सबेर व्यावसायिकता का लाभ लिया।

इस दशक के अनेक प्रतिनिधि नायक-अभिनेता हैं - अनिल कपूर, ऋषि कपूर, जैकी श्रॉफ, सनी देओल, संजय दत्त, नसीरुद्दीन शाह इत्यादि। अनिल कपूर विशेष रूप से टपोरी वाला अंदाज लेकर आए। टपोरीपना भी अपने समय का एक सच था, जो बाद के दशकों में भी साथ-साथ चलता रहा।

अब यहां से कहां जाएं हम

प्रवासी नायक : 1990 का दशक

आदर्श भी देखे, प्रेम भी, असंतोष भी, यथार्थ भी, तो उसके बाद स्वाभाविक सवाल था ... अब यहां से कहां जाएं हम...। फिल्मी समाज ने समझ लिया कि खुद को बदलना होगा। ज्यादा

यथार्थवादी हुए, तो संगीत-गीत की अहमियत घटती जाएगी, फिल्में सपना दिखाने का काम छोड़ देंगी, फिल्म का व्यवसाय मुश्किल हो जाएगा। तो फिल्मों ने यथार्थवाद की ओर से ध्यान हटाना शुरू किया। देशी नायक तो भ्रष्ट हो चुके थे, इतने यथार्थवादी हो चुके थे कि उनके सहारे सपने गढने का काम असंभव हो गया था। पिछले दशक में व्यावसायिक सिनेमा का नायक भीड़ में शामिल होकर बौना हो चुका था, नायिका सास या समाज के हाथों बुरी तरह से सताई गई थी, तो दूसरी ओर, खांटी समानांतर सिनेमा का नायक (नसीरुद्दीन शाह) 'पार' के सुअर पालक की तरह था या इसी फिल्म की नायिका (शबाना आजमी) की स्थिति एक गर्भवती सुअरी से भी बदतर हो चुकी थी। ऐसे नायक और नायिका सपनों की सौदागरी या कालाबाजारी में सहायक नहीं हो सकते थे, अतः 1990 के दशक में फिल्मों ने नायक-नायिका का विदेश से आयात किया। इसका मतलब यह नहीं कि अंग्रेज नायक-नायिका आयात हुए, आयात तो वही नायक-नायिका हुए, जिनके पूर्वज या पिता विदेश जाकर बस गए थे।

हम देखते हैं कि इसी दौर में देश ने आर्थिक उदारीकरण (वर्ष 1991) को स्वीकार किया, विदेशियों, विदेश में बसे भारतवंशियों और प्रवासी भारतीयों की अहमियत बढ़ी। प्रवासी भारतीयों के लिए स्वर्ण युग शुरू हुआ। जैसे भारत सरकार ने विदेश में देश का भविष्य देखा, वैसे ही फिल्मों को भी अपना भविष्य विदेश में नजर आया। इस दशक के ठीक मध्य में फिल्म आई 'दिलवाले दुल्हनिया ले जाएंगे'। यह फिल्म ब्रिटेन-यूरोप से शुरू होती है और भारत आकर संपन्न होती है। प्रेम अंतरराष्ट्रीय हो चुका है और भारत एक मिलन स्थल या विवाह स्थल है। यह फिल्म न केवल सवाल उठाती है कि 'यहां से कहां जाएं हम', बल्कि उत्तर भी देती है कि 'तेरी बांहों में मर जाएं हम'। यानी सपना फिर हावी हो गया, बांहों में मर जाने का सपना कितना यथार्थवादी है, यह सब जानते हैं, लेकिन लोग फिर भी सपनों की ओर मुड़े, क्योंकि वे कुछ देर के लिए अपनी जिंदगी के यथार्थ को भूल जाना चाहते थे। अपनी गंदी समस्याग्रस्त गलियों से दूर कहीं किसी मनोरम देश में लोग खुद को महसूस करना चाहते थे। कोई आश्चर्य नहीं, मानव सदा से ऐसा ही रहा है। वह जहां है, वहां से काफी दूर जाकर सोचना चाहता है। प्रसिद्ध साहित्यकार निर्मल वर्मा भी अकसर कहते थे कि 'एक अच्छी रचना पाठकों को दूसरे संसार में ले जाती है।' फिल्में भी तो यही करती हैं, हॉलीवुड की फिल्म हों या बॉलीवुड की।

सुभाष घई की 'परदेश' हो या करण जौहर की 'कुछ कुछ होता है', प्रवासी भारतीय चरित्रों को लेकर ऐसी अनेक फिल्में बनीं, जिन्होंने दुनिया भर में बसे भारतवंशियों को लुभाया, बुलाया। यह फिल्मी नायक के रूप में शाहरुख खान का चरम दौर था। वे ताजा हवा के झोंके की तरह दीवाना बनकर आए थे, यथार्थ का बोझ उनके साथ नहीं था। प्रेम की चाहत थी, जिसके लिए वे दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुंच सकते थे। पूंजी उनके पास बहुत थी। तलाश थी, तो सिर्फ प्रेम की। इसमें कोई शक नहीं कि यही वह दशक था, जब भारतीय समाज का प्रवासी नायकों के प्रति मोह अत्यधिक बढ़ गया। भारतीय बाप अपनी बेटियों के लिए प्रवासी दूल्हे खोजने लगे थे, मानो देश के अंदर पूंजीवाले दूल्हों का अभाव हो गया हो। सपनों को फिर पंख लग गए थे। भारतीय युवाओं को भी लगने लगा था कि उनकी कीमत तभी है, जब वे भी प्रवासी हो जाएं या फॉरेन रिटर्न हो जाएं। विदेश में पढ़ाई, नौकरी करने से नायकत्व हासिल होने लगा। लोग कबूतरबाजों के हाथों में फंसकर कबूतर बनकर विदेश जाने को लालायित थे, क्योंकि नायक होने का रास्ता विदेश में ही खुलने लगा था। यही वह दशक था, जिसमें विदेश में भारतीयों की संख्या बढ़ी और फिल्मकारों को प्रवासी दर्शकों

के बारे में भी सोचना पड़ा। जैसे विदेशी पूंजी भारतीय लाभांश की ओर आकर्षित हुई, ठीक उसी तरह से विदेश में बसे अनेक प्रवासी व विदेशी कलाकार रुपहले पर्दे पर हिस्सेदारी के लिए भारत आने के सपने देखने लगे।

इश्क दी गल्ली बिच...

विलासी नायक : 2000 का दशक

अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार के साथ भारत ने नई सदी में प्रवेश किया था। तकनीक, इंटरनेट से उपजी सूचना क्रांति ने देश के मिजाज को बदल दिया था। मल्टीप्लेक्स, मॉल, विदेशी उत्पादों, इलेक्ट्रॉनिक यंत्रों की भरमार, विदेशी गाड़ियों का चलन बढ़ गया था। युवा भारत की विकास गति सुधर गई थी। ऐसा लगने लगा था कि भारत अब तरक्की करता चला जाएगा, पीछे मुड़कर देखने की जरूरत नहीं पड़ेगी। मध्य वर्ग के जो सपने पिछले दशकों में साकार नहीं हुए थे, वो इस दशक में साकार होने लगे। ऋण लेकर घर बनाना, पढ़ाई करना, विदेश जाना आसान हो गया। मस्ती की पाठशालाएं सज गईं। भारतीय समाज के एक हिस्से में कुछ संपन्नता आई। प्रभु वर्ग की तनख्वाहें बढ़ गईं। सरकारी योजनाओं में गांव के स्तर तक वितरण और लूट की संभावना बढ़ी। समाज में पैसा बढ़ा तो सिनेमाई नायक विलासी हो गया। महंगी गाड़ी, महंगे ब्रांडेड कपड़े, महंगे विदेश दौरे, महंगे होटल, महंगी गर्लफ्रेंड, महंगे गिफ्ट का दौर आ गया। मुख्यधारा में जो फिल्में बन रही थीं, उनमें पैसा कोई मुद्दा नहीं रहा। नायक के पास ज्यादा काम नहीं था, समाज इत्यादि की ज्यादा चिंता नहीं थी, उसके पास पूरा समय था कि वह जिम जाकर 'सिक्स पैक' बना सके। सिक्स पैक बना लेने से दुश्मनों से लड़ने, शर्ट खोलने, नाचने-गाने, नायिका का दिल जीतने, खलनायकों को डराने और दर्शकों को लुभाने में सुविधा होने लगी। गरीबी से लडने वाले, समाज की समस्याओं से पीड़ित होने वाले सिंगल पैक बॉडी वाले नायक पीछे छूट गए, उनकी जगह सिक्स पैक वाली समृद्ध जमात आ गई। एक समय दारा सिंह और धर्मेंद्र इत्यादि को अच्छी बॉडी का मालिक माना जाता था, ये भारतीय फिल्मों के ऐसे पहलवान थे, जिन्हें दुश्मनों से लड़ने के लिए मांसपेशियों की जरूरत नहीं पड़ी थी। अमिताभ बच्चन भी अपने चरम दौर में सिंगल पैक वाले नायक थे। 2000 के दशक में पूरा मिजाज ही बदल गया। जिन फिल्मों को कभी खेतों में काम करने वाले मेहनती गठीले नायकों की जरूरत नहीं पड़ी थी, वे सिक्स पैक वाले नायक मांगने लगीं। इस दशक में यह पूरी तरह से स्थापित हो गया कि अंग प्रदर्शन एकतरफा नहीं रहेगा, नायक को भी ऐसा शरीर बनाना पड़ेगा कि वह भी अंग प्रदर्शन में नायिकाओं से मुकाबला कर सके। इस दशक में विलास का फायदा यह हुआ कि नायक अच्छे शरीर धारी होने लगे, लेकिन चरित्र का पतन भी प्रबल हुआ।

2000 के दशक के मध्य वर्ष 2005 में एक फिल्म सुपर हिट हुई, 'नो एंट्री'। यथार्थ के स्तर पर बेतुकी कॉमेडी फिल्म, लेकिन दर्शकों को खूब पसंद आई। फिल्म के केंद्रीय नायक थे, सलमान खान। अच्छे शरीरधारी नायकों में अग्रणी। वास्तविक जीवन में अविवाहित, लेकिन सिलसिलेवार प्रेम संबंधों वाले सबसे चर्चित और प्रशंसित फिल्मी नायक। 'नो एंट्री' में उनका किरदार पूरे इस दशक का प्रतिनिधि किरदार बनकर उभरता है। वे एक ऐसे नायक हैं, जो अपनी समर्पित पत्नी को छोड़कर दूसरी लड़कियों के पीछे भाग रहे हैं, उनके संपर्क आधुनिक गणिकाओं से भी हैं, बल्कि वे उनका अपनी कहानी आगे बढ़ाने के लिए इस्तेमाल भी करते हैं। आधुनिक गणिका भी फिल्म की मुख्यधारा में अहम किरदार है, तो इसका श्रेय उस विलासी नायक को ही देना चाहिए, जिसके लिए मौज-मस्ती ही सब कुछ है, उसके सामने चरित्र चर्चा बेकार है। नायक दोगला भी है, वह अपनी पत्नी और

प्रेमिका से तो पूरी ईमानदारी की मांग कर रहा है, लेकिन खुद अव्वल दर्जे का बेईमान है। इस विलासी नायक के दौर में ही हम देखते हैं कि समाज में परिवार, संबंध, निष्ठा, बंधुत्व या मित्रता का पतन, भ्रष्टाचार, चारित्रिक पतन इत्यादि चिंता के विषय नहीं रह गए। फिल्मों ने ईमानदारी को क्षणिक तत्व या एक क्षणिक अवस्था मान लिया। इस दशक में विलास के प्रति आकर्षण ऐसे बढ़ा कि बेईमानी भी स्वीकार्य-सी हो गई। अच्छाई या अच्छी बातों का रोमांच खत्म-सा हो गया। पैसे का डंका बज उठा।

इसी दौर में 'थ्री इडियट्स' जैसी फिल्म भी आई, जिसमें नायक बहुत क्षमतावान था, कुशल था, लेकिन छात्र जीवन में ही वह शराब का सेवन करने लगा था। रेंचो नाम का यह नायक सफल रहा, फिल्म भी सफल रही, लेकिन सच्ची बात तो यह थी कि इस नायक ने एक झूठे नाम और पराई पूंजी के दम पर पढ़ाई की थी। उसकी पढ़ाई और उसके नायकत्व के आधार में झूठ था। नायक ने पराई पूंजी का सदुपयोग कर ढंग से पढ़ाई की, इसे तो लोगों ने देखा, लेकिन लोगों ने इस बात को नजरअंदाज कर दिया कि नायक ने शराब पीकर और दोस्तों को पिलाकर इस पराई पूंजी का दुरुपयोग भी किया। अनजानी शादी में भोजन करने पहुंच गया, प्रिंसिपल के घर उत्पात में शामिल हुआ और प्रश्न पत्रों की चोरी भी की। इस फिल्म ने यह प्रमाणित कर दिया कि गरीबों के लिए भी नैतिकता ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं रही, केवल विलास महत्वपूर्ण हो गया। गरीबों को भी यही शिक्षा दी गई, पूंजी कहीं से भी ले लो, मस्त जीवन जीयो, अपना मतलब साधो और आगे निकल जाओ। इस दौर में नायकों के विलास की भी कोई सीमा नहीं रही, सारे बंधन टूट गए। ऐसी फिल्में भी आईं, जिनमें अधेड़ उम्र के नायकों को नई नवेली नायिकाओं से प्रेम हो गया। पिछली सदी के महानायक घोषित हो चुके अमिताभ बच्चन ने भी ऐसी भूमिकाओं को दो बार ('चीनी कम' और 'निःशब्द') निभाया। विवाहेत्तर संबंधों वाले इस विलासी दौर में गरीब और देहाती नायक दुर्लभ हो गए। अमिताभ अपने चौथे फिल्मी दशक में विराजमान थे, लेकिन उन्होंने पूरी तरह से बदलते वक्त का साथ दिया, कभी बैंक में डाका डालने वाले बने, तो कभी डॉन, तो कभी केवल पैसे के पीछे भागने वाले चरित्र। चरित्र की बात करें, तो अमिताभ बच्चन ने 'कभी अलविदा ना कहना' में 'सेक्सी सैम' जैसे विलासी चरित्र को निभाकर अच्छे चरित्र की अहमियत को गौण कर दिया।

विलास के पीछे भागने और विलास में जीने वाले फिल्मी नायकों की भीड़ लग गई, लेकिन इस दशक के एक प्रतिनिधि अभिनेता-नायक को अगर चुनें, तो बेशक वह नाम सलमान खान का होगा। जो अपनी वास्तविक जिंदगी में भी युवाओं के मॉडल रहे, विश्व सुंदरी से प्यार, नशा करके महंगी गाड़ी में सवारी, वन्य जीव का शिकार इत्यादि। समय बदल चुका था, कोई आश्चर्य नहीं, वे आदर्श बने और लोगों द्वारा खूब पसंद किए गए।

तोरे नैना बड़े दगाबाज रे

भ्रमित नायक : 2010 का दशक

इस दशक की शुरुआत में पूरी दुनिया को आर्थिक मंदी से गुजरना पड़ा। पैसा वापस जाने लगा, नए पैसे ने आना कम कर दिया। विदेशी-प्रवासी-विलासी दूल्हे धोखेबाज निकलने लगे। कई सपने टूटे, नायक आसमान से जमीन पर गिरने लगे, लेकिन जमीन बदल चुकी थी। देश वैसा नहीं था, जैसा पहले सोचा गया था। सरकार और सरकार के नायक भ्रमित थे कि किधर जाएं। फिल्मों में तो प्यार हुक्का बार हो गया था। सुंदर कन्या भ्रमित हो गई थी- गा रही थी कि- 'मेरे फोटो को सीने से यार चिपकाले सैंया फेविकॉल से।' ऐसा नहीं है कि यह बेतुका गाना फ्लॉप हो गया हो, इसे लोगों

ने खूब पसंद किया। लोग अलग तरह की आवाज और धुन सुनकर मस्त थे, उन्हें अर्थ से ज्यादा मतलब नहीं रहा। दिखावा पूरी तरह से हावी हो गया। समलैंगिक समूह रैली निकालने का साहस करने लगे। फिल्मों के लिए समलैंगिकता एक प्रिय विषय बन गई। इस दशक में फिल्मों ने इस विकल्प को और मजबूत करना शुरू कर दिया कि जरूरी नहीं कि नायक किसी नायिका की ही तलाश करे, वह किसी सह-नायक को भी अपनी नायिका मान सकता है, उसके साथ जिंदगी बिता सकता है। ऐसा नहीं है कि केवल फिल्में ही भ्रम का शिकार हों, देश में भी नाना प्रकार के भ्रम चलन में हैं। नेता कितने विश्वसनीय हैं, इसे लेकर भ्रम है। घोटाले हुए हैं, तो कितना नुकसान हुआ है, इसे लेकर भी भ्रम है। हमारे देश का पैसा हमारा है या नहीं, इसे लेकर भी भ्रम है। पैसा जेब में कब तक रहेगा, इसे लेकर भ्रम है। बीवी या प्रेमिका निष्ठावान है या नहीं, इसे लेकर भ्रम है। केवल देश में ही नहीं, उसकी फिल्मों में भी विचारों की मंदी का दौर है। विचार और नैतिकता का ऐसा अकाल पड़ा कि अब पोर्न उद्योग से भी कलाकार लेने में संकोच नहीं रहा। अच्छाई और बुराई के बीच भ्रम को मानो स्वीकार कर लिया गया है। पिछले दशक में एक प्रवासी से विवाह करके विदेश चली गई स्टार अभिनेत्री माधुरी दीक्षित वापस लौट आईं। भ्रम खड़ा हो गया कि लौटना था, तो गए क्यों थे? संशय बरकरार है कि यह लौटना सफल होगा या नहीं। हो सकता है, माधुरी एक अपवाद मात्र हों, क्योंकि फिलहाल ज्यादातर लोग देश से भाग जाना चाहते हैं। जो भी सक्षम है, भाग रहा है कि अब इस देश में रखा क्या है? देश के सच से भागते विदेशी निवेशकों, कंपनियों, सरकारों, नेताओं के लिए यह गाना मुफीद है- 'कल मिले ये हमको भूल गए आज रे',- 'तोरे नैना बड़े दगाबाज रे...।'

संदर्भ ग्रंथ :

1. हीरो - पहला और दूसरा खंड - लेखक अशोक राज
2. वर्तमान साहित्य, सिनेमा विशेषांक - वर्ष 2002
3. बॉलीवुड - ए हिस्ट्री, लेखक : मिहिर बोस
4. आइडोलॉजी ऑफ हिंदी फिल्म, लेखक : एम. माधव प्रसाद

(लेखक राजस्थान पत्रिका में समाचार संपादक हैं)

कहां-कहां से गुजर गया सिनेमा

सलिल सुधाकर

भारत में सिनेमा के सौ वर्ष के सफर को जहां शताब्दी-समारोहों के जरिए मनाया और रेखांकित किया जा रहा है, वहीं इसके तमाम पहलुओं को विश्लेषित करने और हासिल उपलब्धियों की शिनाख्त करने की कोशिशें भी लगातार जारी हैं, परंतु इतने लंबे इतिहास को इतनी आसानी से समेटना थोड़ा कठिन है, बावजूद इसके एक पैनी नजर तो डाली ही जा सकती हैं,

सरसरी तौर पर भी देखा जाए, तो भारत में सिनेमा ने निश्चित तौर पर बहुत लंबी यात्रा की है, मगर इससे पहले कि सिनेमाई-सफर के वैचारिक-सामाजिक और कलात्मक गुण-दोषों, उथल-पुथल या फिर समय-समय पर होने वाले विषय-परक परिवर्तनों की मीमांसा की जाए, भारत में सिनेमा के तकनीकी रूप से विकसित होने की दिलचस्प दास्तान से रू-ब-रू होना जरूरी है।

7 जुलाई 1896 को भारत में सिनेमा के कदम पहली बार पड़े थे, उस समय फ्रांस से यहां आए लुमिअर बंधुओं ने सिनेमेटोग्राफी के जरिए भारतीय दर्शकों का सर्वप्रथम पश्चिम परदे पर चलती-फिरती तस्वीरों' से कराया था, चौंकाते हुए तब की बंबई के वारसंस होटल में लुमिअर बंधुओं ने छह लघु फिल्मों का प्रदर्शन किया था यह वह समय था, जब परदे पर तस्वीरों को चलते-फिरते देखने की कल्पना भी कोई नहीं कर सकता था, इसीलिए इस प्रदर्शन के आयोजन से पूर्व कुछ इस तरह से विज्ञापित और प्रचारित किया गया था कि आपके शहर में, शताब्दी का सबसे बड़ा चमत्कार होने जा रहा है, लिहाजा लोग आकर्षित हुए और टिकट लेकर जब फिल्में देखी तो सचमुच आश्चर्यचकित रह गए। दरअसल दृश्य कला के इस सर्वथा नए और बेहद मनोरंजक प्रयोग को सामने देखकर लोगों की जिज्ञासा और कौतूहल का ठिकाना ही नहीं रहा वे तस्वीरों को इस तरह परदे पर चलते-फिरते मनोरंजन के एक नए अध्याय की शुरुआत समझ चुके थे। तब ये तस्वीरें बोल नहीं सकती थीं।

इन तस्वीरों का जादू तब दर्शकों के सिर पर इस तरह चढ़ा कि मुंबई के वारसंस और नॉवेल्टी में देखते ही देखते अपार भीड़ इकट्ठा होने लगी। उस जमाने में आठ आना और चार आना भी बहुत महत्व रखता था, फिर भी इन तस्वीरों को देखने के लिए जो भी चार आना आठ आना के टिकटों की व्यवस्था की गई थी, वह दर्शकों के उत्साह को रोक नहीं सकी थी, उन दिनों दर्शकों या लोगों में यह समझ नहीं थी कि परदे पर भागती तस्वीरों को पीछे के सीटों पर बैठकर देखना आंखों के लिए अच्छा रहता है, इसलिए आगे की सीटों पर बैठकर देखने की होड़ सी मच गई थी, जो प्रकारांतर में जाकर बढ़ी समझ के साथ ही बंद हुई। इस तरह

देखा जाए, तो इन तस्वीरों ने भारत में अपने प्रथम प्रदर्शन के साथ ही तहलका मचा दिया था।

यह एक तरह से इस तथ्य का प्रमाण था कि भविष्य में सिनेमा कितना बड़ा मनोरंजन माध्यम साबित होने वाला है। भारतीय जनमानस में सिनेमा की यह शुरुआती स्वीकृति ही सिनेमा बनने-बनाने की कवायद का मूल कारण बनी, फिर तकलीफ के स्तर पर धीरे-धीरे व्यापक रूप से शोध और काम दोनों ही होते गए और फिर सिनेमा प्रकारांतर में प्रदर्शन के लिए बनाए जाने वाले, विधिवत तैयार किए गए सिनेमा-घरों में शिफ्ट हो गया। मूक से सवाक् फिल्मों तक पहुंचने में 35 वर्ष लग गए।

हालांकि सन् 1900 तक तो सिनेमा के नाम पर केवल चलती फिरती तस्वीरों का ही संयोजन होता रहा। तकनीक के स्तर पर तुरंत कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ लेकिन ताज्जुब कि दर्शकों में इन तस्वीरों के प्रति रुचि में रत्ती भर भी कमी नहीं आई, बल्कि वैसा ही उत्साह बना रहा। इसे देखते हुए फिर फिल्म बनाने के क्षेत्र में भी कदम रखने या हाथ आजमाने की एक स्वस्थ प्रतिस्पर्धा का जन्म हुआ और फिर भारत में भी कई लोग ऐसी फिल्में बनाने के लिए मैदान में उतरे, कई लघु फिल्मों का निर्माण हुआ।

उस समय के दर्शकों के मनोरंजन के लिए आए सिनेमा का यह शुरुआती 'फॉर्मेट' भी कम लुभावना नहीं था, दर्शक हमें भी टिकट लेकर देखते हुए काफी खुश थे, लेकिन इन तस्वीरों में कोई कथात्मकता नहीं थी, न ही विचारों के लिहाज से इनमें बहुत कुछ संप्रेषित हो पा रहा था लिहाजा इस क्षेत्र में पैसा लगाने के लिए आगे आए निर्माता अपने काम के प्रति थोड़ा और संजीदा हो गए और उन्होंने 'फॉर्मेट' में तकनीकी बेहतरी के साथ-साथ 'कंटेंट' (विषय-वस्तु) को भी महत्व देने का निर्णय किया दूसरे शब्दों में 'कथा-केंद्रित' फिल्में बनाने को अपना लक्ष्य माना।

समय थोड़ा गुजर गया था, पहले जहां बस्ती देशों से बन कर आर्ट फिल्में यहां प्रदर्शित होकर बेशक अपनी सफलता के झंडे गाड़ रही थीं और मनोरंजन के एक नए युग का सूत्रपात कर चुकी थीं, पर उन फिल्मों में कुछ भी 'भारतीय' नहीं था, इसलिए भारतीय निर्माताओं के मन में यह भी ख्याल आने लगा कि जब फिल्में कथा-केंद्रित होगी, तो क्यों नहीं उनके विषय भारतीय हों, और फिर इसी लिहाज से कुछ निर्माताओं ने मिलकर एक फिल्म बनाई 'पुंडलिक'।

'पुंडलिक' 18 मई' 1912 को मुंबई के कोरेनेशन-सिनेमा में रिलीज हुई थी, और इसके ठीक साल भर बाद 3 मई 1913 को भारतीय सिनेमा के आदि-पुरुष दादा साहब फाल्के की बनाई हुई देश की पहली फीचर फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' यहां पूरे बाजे-गाजे के साथ न सिर्फ प्रदर्शित हुई, बल्कि उसने धमाल मचा दिया पर अभी बोलती फिल्मों का आगमन बाकी था,

यहां यह तथ्य काबिले-गौर है कि सिनेमा और उसकी तकनीक को यूरोप के अमीर मुल्कों एवं अमेरिका में फलने-फूलने का अवसर सबसे पहले मिला। साथ ही गुलाम भी अर्थात भारत अभिव्यक्ति और मनोरंजन के इस सर्वथा नए और सबसे प्रभावी तकनीक को ठीक से अपना पाने की स्थिति में ही नहीं था पर चलती-फिरती तस्वीरों एवं सिनेमा के आकर्षण का ही चमत्कार था कि भारत में काफी कम समय के भीतर ही फिल्म-निर्माण की गति में अप्रत्याशित तेजी आई और शायद यही वहज है कि भारतीय सिनेमा ने एक अंतराल के बाद अपनी तमाम कमियों, खामियों या तकनीकी अपरिपक्वता के बावजूद एक विशिष्ट पहचान बनाई, जिसे अंततः अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी स्वीकार किया जाने लगा। सन् 1931 में बनीं 'आलम आरा'

से हमारी फिल्में बोलने भी लगी।

दरअसल अभिव्यक्ति का यह इतना सशक्त और जीवंत माध्यम था कि इस वजह से इसमें समय-समय पर न सिर्फ निर्माण की दृष्टि से बड़ी-बड़ी प्रतिभाएं आकर जुड़ती चली गईं, बल्कि देश की जनता भी इसे निरंतर अपनाती चली गई, पूरी भावनात्मकता और जुनून के साथ।

अब यहां यह गौर करना जरूरी है कि जिस समय भारत में सिनेमा का पदार्पण हुआ, वह इतिहास के नजरिए से देखा जाए तो बेहद उथल-पुथल क्रांति चेता संभावनाओं, घटनाओं से भरा संवेदनशील दौर था, देश में नवजागरण की लहर चल रही थीं। अंग्रेजी हुकूमत की गुलामी झेल रहा भारतीय जीवन अपनी सांस्कृतिक सामाजिक और ऐतिहासिक विरासत की अस्मिता को इस गुलामी से मुक्त कराने की लड़ाई लड़ रहा था, इसके अलावा भारतीय समाज की अपनी समस्याएं भी कई थीं, कई तरह के अंतर्विरोध थे, कई सुधारवादी आंदोलन वैचारिक संघर्षों की धाराएं भी इसीलिए अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त माध्यम बना। सिनेमा इन तमाम पहलुओं और विषयों से भला निर्विकार कैसे रह सकता था?

मगर शुरुआती दौर में ज्यादा गूढ विषयों को उठाने की हिमाकत न दिखाते हुए भारतीय जीवन-दर्शन का आधार पौराणिक विषयों और कथाओं को फिल्म निर्माण के लिए चुनना निर्माताओं को कहीं ज्यादा आसान और रोचक लगा जाहिर है कि इन पौराणिक कथाओं में सत्य-असत्य, अच्छ-बुरे का संघर्ष ही मूल मुद्दा था, जिसमें निहित संदेश को ऐसी फिल्मों ने दर्शकों तक बखूबी पहुंचाया। दर्शक बार-बार इन फिल्मों को पसंद करते रहे और निर्माताओं का उत्साह बढ़ता रहा। इसकी एक बानगी उस समय की फिल्मों की सूची पर एक नजर डालते ही पाई जा सकती है।

18 मई 1912 को निर्माता आर. जी. तोरणे एवं एन. जी. चित्रे की धार्मिक पृष्ठभूमि वाली सामाजिक फिल्म 'पुंडलिक' के साल भर बाद आई दादा साहब फाल्के की फीचर फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' के बाद तो जैसे इस तरह की फिल्मों की कतार लग गई, मसलन- 'सावित्री', 'लंका-दहन', 'मोहिनी भस्मासुर', 'कृष्ण-जन्म', 'कीचक-वध', 'सैरंधी', 'कालिया मर्दन', 'शकुंतला', 'पांडव निर्माण', 'बिल्वा मंगल' जैसी फिल्में। इन फिल्मों की अपार सफलता ने सिनेमा-माध्यम के सुनहरे भविष्य के प्रति निर्माताओं को न सिर्फ निश्चित कर दिया, बल्कि देश के लोगों में भी सांस्कृतिक-चेतना की नई संवाहिका के रूप में अपनी छवि बना ली।

जैसी कि आशा थी देश के जन मानस पर और सामाजिक जीवन पर धार्मिक पृष्ठभूमि पर बनी पौराणिक फिल्मों ने अपनी छाप छोड़ी। भारतीय वाङ्मय में कथा-गीतों, काव्यों में शताब्दियों से रचे-बसे हमारे पौराणिक एवं धार्मिक पात्रों को दर्शक अब न सिर्फ पढ़ या उनके बारे में सुन सकते थे, बल्कि पत्थर की मूर्तियों से बाहर निकलकर सिनेमा के रूपहले पर्दे पर चलते, फिरते, बोलते देख भी सकते थे। जाहिर है अपने पौराणिक पात्रों को इतने जीवंत रूप में देखना उनमें रोमांच भरता रहा इसलिए इन फिल्मों ने निरंतर लोकप्रियता हासिल की। तमाम पौराणिक-धार्मिक कथाओं के पात्र एक नए प्रस्तुतिकरण और कलात्मकता के साथ छोटे-छोटे शहरों, कस्बों तक पहुंचने लगे। लोग फिर से राम, सीता, कृष्ण, राधा, हनुमान और पांडवों में अपना आदर्श ढूंढ़ने लगे। खलनायक के रूप में रावण, कंस या दुर्योधन को भी देखना, समझना लोगों के लिए आसान हुआ। इसी के चलते केवल हिंदी ही नहीं, बल्कि देश की अन्य भाषाओं में बनने वाली फिल्मों का विषय भी तब हमारी पौराणिक धार्मिक कथाएं ही बनीं। इन फिल्मों

की सफलता से प्रेरणा पाकर ही देश में ऐसी फिल्मों के निर्माण की होड़ सी मच गई।

यहां यह उल्लेख आवश्यक है कि भारतीय जनमानस का अपनी सांस्कृतिक जड़ों से जुड़ाव अत्यंत गहरा होने के कारण ही शुरुआत के तीन-चार दशकों तक हमारी फिल्मों में पौराणिक कथाएं बार-बार दोहराई जाती रहीं हालांकि तब देश गुलाम था और स्वतंत्रता-संग्राम भी छिड़ा हुआ था इससे जुड़ी कथाएं भी फिल्मों का विषय हो सकती थीं, परंतु अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ इस हद तक बड़े पैमाने पर जाना मुमकिन नहीं था, इसलिए आजादी के लड़ाई जैसे विषय पर फिल्में बनीं जरूर, पर बाद में।

इस दरम्यान दर्शकों का जुनून सिनेमा के प्रति बढ़ता ही गया। दरहसल चलते-फिरते-बोलते किरदारों वाले इस माध्यम के जरिए उसे अपने जीवन में विभिन्न रंगों, धूप-छाँव और उतार-चढ़ाव को समझने, समझाने एवं उनकी भरपूर नाटकीय अभिव्यक्ति से एकाकार होने का बेहद मनोरंजन रास्ता मिल गया था।

लिहाजा पौराणिकता के बाद धीरे से सिनेमा के विषयों का रुख ऐतिहासिक विषयों की तरफ मुड़ा। दर्शक भी अब तक कुछ परिवर्तन की चाह रखने लगे थे, इसलिए ऐतिहासिक किस्से-कहानियों को भी सिनेमा के परदे पर देखकर वे खूब रोमांचित हुए और फिल्मकारों के इन तमाम प्रयोगों को उन्होंने पूरे खुले मन से स्वीकार भी किया।

धार्मिक-पौराणिक फिल्मों के बनाए प्लेटफार्म पर धीरे-धीरे आई ऐतिहासिक फिल्मों की सूची भी काफी लंबी थी, जिनमें से प्रमुख फिल्में रहीं, 'सिकंदर ए-आजम', 'बैजू-बावरा', 'झांसी की रानी', 'पृथ्वी वल्लभ', 'पुकार' आदि।

यहां यह याद रखना आवश्यक है कि 'पुंडलिक' और पहली फीचर फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' के सन् 1912-13 में आने के 18 वर्षों बाद पहली बोलती फीचर फिल्म 'आलम आरा' आई और इसके सोलह वर्षों बाद सन्' 1947 में भारत आजाद हुआ। इन सोलह वर्षों में बोलती फिल्में धार्मिक-पौराणिक विषयों से शिफ्ट होती हुई ऐतिहासिक विषयों पर केंद्रित होती गई थीं। पर ऐसा नहीं था कि उनमें समसामयिक विषयों या फिर भारतीय समाज के अंतर्विरोधों जैसे विषयों को छूने की कोई ललक नहीं थीं, पर यह प्रयास धीरे-धीरे ही सही, हुआ अवश्य। इस बीच फिल्में भारतीय जीवन का अभिन्न अंग बन चुकी थीं। उनका असर भी समाज पर पड़ने लगा था। सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति का मुख्य मंच बनने लगी थीं वे। लिहाजा हर घर में इन फिल्मों के विषय, संगीत, किरदार, प्रासंगिकता, आदर्श, संदेश, सफलता-विफलता आदि सबको लेकर रोज आम चर्चाएं होती। अपनी-अपनी पसंदगी-नापसंदगी को भी फिल्मों के माध्यम से व्यक्त करने की परंपरा और होड़ पैदा होने लगी। भारतीय सिनेमा अपनी लोकप्रियता और दर्शकों द्वारा स्वीकारे जाने के इस मुकाम पर जब पहुंच गया तब निश्चित रूप से उसकी प्रासंगिकता एवं उसके सामाजिक सरोकारों के दायित्व को लेकर बहसें होने लगीं। सिनेमा की सामाजिक स्वीकृति ने ही उसे उसके कर्तव्यों के प्रति गंभीर कर दिया।

वैसे देखा जाए तो आरंभ से ही भारतीय सिनेमा विदेशी सिनेमा के प्रभाव में रहा है और आज भी है। इसका मूल कारण भी यही है कि सिनेमा भारत में उनसे बाद में और उनके जरिए ही आया फिर भी एक अंतराल के बाद भारतीय सिनेमा और खास करके हिंदी सिनेमा भी अपनी मौलिकता एवं जन सरोकारी भूमिका का परिचय देना शुरू कर दिया।

इसलिए आजादी से पहले ही 'अछूत कन्या' जैसी फिल्में सामने आई तो प्रकारांतर में

बांग्ला में सत्यजित राय ने 'पथेर पांचाली' और ऋत्विक घटक ने 'मेघे ढाका तारा' बिमल राय ने हिंदी में 'दो बीघा जमीन' जैसी फिल्में बनाकर भारतीय सिनेमा को एक नई अर्थवत्ता प्रदान की राजकपूर की 'आवारा', 'श्री चार सौ बीस', 'जागते रहो' तक आते-आते तो भारतीय सिनेमा बेहद वैचारिक और समृद्ध हो उठा।

सिनेमा के अभिनय-आकाश पर भी कुंदन लाल सहगल वी. शांता राम, सुरेंद्र, अशोक कुमार, मोती लाल, प्रदीप कुमार, जयराज, सोहराब मोदी, पृथ्वीराज कपूर, भारत भूषण जैसे नायकों से लेकर दिलीप कुमार, देव आनंद और राजकपूर की तिकड़ी के आते और छाते ही भारतीय हिंदी सिनेमा अर्थात मेनस्ट्रीम सिनेमा का पूरा परिदृश्य बेहद मनोरंजक, ग्लैमरस होने के साथ-साथ अर्थयुक्त हो गया था।

इन अदाकारों और इनके समक्ष आने वाली अदाकाराओं मसलन, जुबैदा शीला, लीला चिटनिस, दुर्गा खोटे, निरूपा रॉय, सुलोचना, नरगिस, सुरैया, नलिनी जयंवत, कामिनी कौशल, निम्मी, नूरजहां, मधुबाला, मीना कुमारी, बीना राय, साधना, वैजयंतीमाला, सुचित्रा सेन, नूतन, आशा पारेख, वहीदा रहमान, पद्मिनी आदि को लेकर निर्माताओं ने भांति-भांति के विषयों पर कई-कई तरह के प्रयोग किए और सिनेमा को संपन्न बनाया।

शुरुआत में जैसे धार्मिक-पौराणिक फिल्में अस्तित्व में आई और फिर ऐतिहासिक विषयों ने अपनी जगह बनाई, वैसे ही दिलीप कुमार, वी. शांताराम, देव आनंद, राजकपूर और गुरुदत्त जैसे अदाकारों तक आते-आते भारत की मुख्यधारा का सिनेमा अर्थात हिंदी सिनेमा काफी हद तक समकालीन समाज की सच्चाइयों के निकट आ चुका था।

सन् 1931 में आर्देशिर ईरानी ने भारत की पहली बोलती फिल्म 'आलम आरा' बनाई थी। तब उन्हें अपने सहयोगी रुस्तम भरूचा के साथ लंदन जाकर 15 दिनों में ध्वनि मुद्रण की कला सीखनी पड़ी थी और मात्र उतने से ही तजुर्बे पर उन्होंने 'आलम आरा' में आवाज रिकार्ड की थी। इसके साथ ही स्टूडियो के अंदर लाइट जलाकर शूटिंग करने का प्रयोग भी उन्होंने ही यहां शुरू किया था। इस फिल्म में मास्टर विट्ठल, पृथ्वीराज कपूर, डी. बिलिमोरिया, याकूब, महबूब खान, सुलोचना, जुबैदा,' जगदीश सेठी आदि सितारों ने काम किया था। फिल्म में सात गाने थे, जिसके संगीतकार थे फिरोज शाह मिस्त्री और वी. करानी। इसका पहला गाना गाया था वजीर मोहम्मद खान ने।

इस तरह यह समझना आसान हो जाता है कि 'आलम आरा' से लेकर राजकपूर, देव आनंद, दिलीप कुमार एवं गुरूदत्त तक आते-आते हिंदी सिनेमा ने अच्छा खासा तकनीकी सफर भी तय किया। सन् 1932 में कुंदन लाल सहगल अभिनीत उनकी पहली फिल्म आई 'मोहब्बत के आंसू', फिर आई 'सितारा', 'जिंदा लाश', मगर सन् 1933 में प्रदर्शित हुई उनकी फिल्म 'पूरण भगत' में उनके चार भजनों ने देश में तहलका मचा दिया, फिर 'यहूदी की लड़की', 'चंडीदास, 'रूपलेखा' और 'कारवां-ए-हयात' जैसी फिल्मों ने सहगल को बेहद लोकप्रिय बना दिया और इसके बाद सन् 1935 में आई हिंदी सिनेमा की पहली 'देवदास' (भारतीय सिनेमा की दूसरी) इस फिल्म ने सहगल को हिंदी सिनेमा का पहला स्टार बना दिया। इस फिल्म में उनका गाया गीत 'बालम आन बसो मोरे मन में' पूरे देश की धड़कन बन गया।

सुरैया जैसी बड़ी अदाकारा ने भी सही मायने में सन् 1946 में ही 'अनमोल घड़ी के जरिए परदे पर कामयाबी का कदम रखा और फिर 'विद्या', 'जीत' (1951) जैसी फिल्मों में देव आनंद

के साथ सफल जोड़ी बनाई। उन्हें फिल्म मिर्जा गालिब (1954) के लिए राष्ट्रपति पुरस्कार भी मिला।

इसी तरह दिलीप कुमार 'ज्वारा भाटा' से, राजकपूर अपनी ही फिल्म 'आग' से और देव आनंद पी. एल. संतोषी की फिल्म 'हम एक हैं' से, लगभग आसपास ही, पांचवें दशक के पूर्वाद्ध में सिनेमा में आए और अपनी धूम मचा दी। इससे पूर्व अशोक कुमार ने सन् 1936 में बांबे टाकीज की फिल्म 'जीवन नैया' से बतौर नायक अपना अभिनय शुरू किया था। सन् 1937 में आई देविका रानी के साथ उनकी फिल्म 'अछूत कन्या' ने तब समसामयिक समस्याओं को एक तरह से पहली बार सिनेमा का विषय बनाया था। यह एक तरह की विषयपरक क्रांति थी। कहने का तात्पर्य, ये सब वैसे अदाकार थे, जिनके आने पर सिनेमा के आकर्षण में चार चांद लग गए और फिर उसके एक से एक सुनहरे पन्नों का दौर निरंतर आता रहा।

दिलीप कुमार, राजकपूर और देव आनंद को लेकर या फिर खुद उनके द्वारा बनाई गई फिल्मों की एक लंबी फेहरिश्त है, जिसने अपने सम्मोहन में कई दशकों तक दर्शकों को हमेशा बांधे रखा' और तमाम किस्म की सफलताओं के इतिहास और रिकार्ड बनाए।

अब यहां सवाल यह भी उठता है कि सबसे बड़े और सशक्त मनोरंजन के विकल्प के रूप में उभरे भारतीय सिनेमा और विशेषकर हिंदी सिनेमा ने यहां तक आते-आते भले ही लोकप्रियता और सफलता के झंडे गाड़ते हुए जन-जन तक पहुंचा दिया हो, पर क्या वह सचमुच विकसित सिनेमा से अपेक्षित उद्देश्यों की जन-सरोकारीय कसौटियों पर खरा उतरता रहा?

इस महत्वपूर्ण प्रश्न को इस परिप्रेक्ष्य में भी देखा जाना चाहिए कि हिंदी सिनेमा अपने विकास के क्रम में मुख्य रूप से, इन नायकों को दर्शकों ने निरंतर सिर आंखों पर बिठाया इसी तरह निर्माता भी अपनी-अपनी वैचारिकता और रुचियों के अनुरूप समय-समय पर फिल्में बनाते रहे इनमें से कई फिल्में न सिर्फ मनोरंजन की दृष्टि से, बल्कि सामाजिक सरोकारों को लेकर भी मील का पत्थर साबित हुईं।

ऐसे नायकों की शृंखला में बाद में राजेंद्र कुमार, मनोज कुमार, विश्वजीत, जॉय मुखर्जी, राजकुमार, सुनील दत्त, जितेंद्र, धर्मेंद्र, शम्मी कपूर, शशि कपूर, राजेश खन्ना, विनोद खन्ना, शत्रुघ्न सिन्हा, मिथुन चक्रवर्ती से लेकर अमिताभ बच्चन तक के नाम खुद ब खुद जुड़ते चले गए इनके बगैर भारतीय सिनेमा और हिंदी सिनेमाई परिदृश्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती, ये सब भारतीय सिनेमा की धरोहर हैं।

इतने सारे नायकों की फिल्मों तक पहुंचते-पहुंचते सिनेमा ने लगभग सत्तर वर्षों का समय पार कर लिया था, इस बीच हिंदी सिनेमा ने कई अविस्मरणीय फिल्में दीं, जो कई कसौटियों पर खरी उतरती थीं, मसलन 'आनंदमठ', 'बैजूबावरा', 'बसंत बहार', 'सिंकदर-ए-आजम', 'पतिता', 'नया दौर', 'शहीद', 'कानून', 'हावड़ा ब्रिज', 'जागते रहो', 'समाधि', 'संगम', 'सत्यकाम', 'दो बीघा जमीन', 'बंदिनी', 'मेरी सूरत तेरी आंखें', 'डॉ. कोटनीस की अमर कहानी', 'बरसात', 'आवारा', 'श्री 420', 'जिस देश में गंगा बहती है', 'मेरा नाम जोकर', 'मुझे जीने दो', 'रेशमा और शेरा', 'गंगा-जमुना', 'वक्त', 'हमराज', 'दो आंखें बारह हाथ', 'पैगाम', 'नीचा नगर', 'उपकार', 'पूरब-पश्चिम', 'खानदान', 'मेहरबान', 'धूल का फूल', 'हाथी मेरे साथी', 'खिलौना', 'आनंद', 'नमक हराम', 'बावर्ची', 'आराधना', 'मेरे अपने', 'विश्वनाथ', 'कालीचरण', 'ज्वेल थीफ', 'अनुपमा', 'प्यासा', 'कागज के फूल', 'साहिब बीबी और गुलाम'

आदि अनगिनत फिल्में हैं जो स्वस्थ मनोरंजन और उद्देश्यपूर्ण होने की शर्तों को पूरा करते हुए हिंदी सिनेमा को एक मौलिक पहचान देने में कमयाब रहीं।

हालांकि इसी अंतराल में बहुत सारी फिल्में सिर्फ और सिर्फ मनोरंजन की दृष्टि से ही बनीं और बेहद सफल भी साबित हुईं। सफलता की बात चली, तो यह उल्लेख आवश्यक है कि अपने जमाने के लोकप्रिय नायक राजेंद्र कुमार को 'जुबली कुमार' कहा जाता था। यह इतिहास है कि तब राजेंद्र कुमार की सत्ताइस फिल्मों ने लगातार सिलवर जुबलियां बनाई थीं। इन फिल्मों की चाहे वह घटना 'घूंघट' या फिर 'धूल का फूल' लोकप्रियता का कारण भी हालांकि केवल मनोरंजन ही नहीं, बल्कि कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में सामाजिक होना भी था। इन फिल्मों 'में उद्देश्यपूर्ण पारिवारिकता भी थी और एक किस्म की लुभाने वाली सादगी भी।

वैसे गौर करने लायक तथ्य यह है कि हर बड़े नायक की फिल्मों में बुनियादी तौर पर मनोरंजन तो महत्वपूर्ण था, पर कहीं न कहीं उन सबके हिस्से में कोई न कोई बेहद जरूरी और बामकसद फिल्म अवश्य रही है, जिसे भारतीय दर्शक आज भी बार-बार देखते अघाता नहीं है। गुरुदत्त की 'कागज के फूल', 'साहिब बीवी और गुलाम' हो या फिर 'प्यासा', देव आनंद की 'काला पानी', 'गाइड' या 'हरे रामा हरे कृष्णा' हो, राजकुमार की 'मदर इंडिया', 'वक्त', 'हमराज' या 'पाकीजा' हो, दिलीप कुमार की 'गंगा-जमुना', 'नया दौर', 'शक्ति या मशाल' जैसी फिल्में हो या फिर मनोज कुमार की 'शहीद', 'उपकार', 'पूरब पश्चिम', 'रोटी कपड़ा मकान', 'शोर', संजीव कुमार की 'संघर्ष', 'खिलौना', 'धरती कहे पुकार के', 'अर्जुन पंडित', 'शोले', 'नया दिन रात', 'सत्यकाम', राजेश खन्ना की 'अवतार', 'आनंद', 'अमर प्रेम' 'नमक हराम', जितेंद्र की 'परिचय', 'खुशबू', विनोद खन्ना की 'अचानक', 'मेरे अपने', 'मेरा गांव मेरा देश' मिथुन चक्रवर्ती की 'मृगया', 'हम पांच' आदि जैसी कई यादगार फिल्में हैं जो दर्शकों के दिलो-दिमाग पर अमिट छाप अब भी छोड़ती हैं। ये फिल्में इन अदाकारों की शेष दर्जनों सुपरहिट मनोरंजन फिल्मों से थोड़ा हटकर हैं और बार-बार देखी जाती रही हैं। धर्मेंद्र जैसे 'हीमैन' और कमर्शियल अदाकार से भी निर्देशक ऋषिकेश मुखर्जी ने 'सत्यकाम' में जो भूमिका करवाई वह यादगार और धर्मेंद्र की छवि से बिल्कुल उलट एक इतिहास है। शम्मी कपूर, शशि कपूर जॉय मुखर्जी और विश्वजीत जैसे नायकों की फिल्में भी कमोबेश अपने सामाजिक मनोरंजन के लिए पहचानी, सराही गई और कामयाब रहीं।

इस तरह सिनेमा अपने आर्थिक वजूद के लिए मनोरंजन को बुनियादी शर्त मानकर सामाजिक, पारिवारिक दायरे को भी साथ लिए चलता रहा। मगर इसके समानांतरण भारत में सत्यजित राय की 'पथेर पांचाली' के आगमन के साथ ही 'नियो वेव' सिनेमा ने भी दस्तक दे दी थी। उसका भी खासा प्रभाव पड़ा था सिनेमाई परिदृश्य पर। इस तरह के सिनेमा को छूती कई व्यावसायिक और मनोरंजन फिल्में भी बनीं और यह सिलसिला कमोबेश आज तक जारी है। राजकपूर की 'आवारा', 'श्री 420', 'जागते रहो' आदि फिल्में इसी श्रेणी की हैं। ख्वाजा अहमद अब्बास ने भी 'सात हिंदुस्तानी', 'शहर और सपना' जैसी फिल्में जो बनाईं, उन पर 'नियो वेव' का ही असर था। इसीलिए उनसे राजकपूर ने अपनी फिल्में भी लिखवाई। इस 'नियो वेव' की धारा को बोझिलता से बचाते हुए संतुलित फिल्में बनाने की बुनियाद सही ढंग से गुरुदत्त जैसे फिल्मकारों ने डाली। बिमल राय, हृषिकेश मुखर्जी, बासु चटर्जी, श्याम बेनेगल, गोविंद निहलानी, प्रकाश झा, गौतम घोष, मृणाल सेन (बांग्ला) अडूर गोपाल कृष्णन (दक्षिण)

आदि निर्देशकों ने इसे अपनी फिल्मों में भरपूर विकसित किया।

आठवें दशक तक आते-आते 'नियो वेव' सिनेमा के निर्माण में तेजी आ गई थी और इसे समांतर सिनेमा भी कहा जाने लगा था। देश के प्रबुद्ध वर्ग की ऐसी फिल्मों में रुचि भी बढ़ चली थी, संभवतः आजादी के बाद देश का आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक फलक बदल रहा था और इस बदलते परिप्रेक्ष्य में यथार्थपरक फिल्मों की जरूरत महसूस की जाने लगी थी। तभी श्याम बेनेगल की 'अंकुर', गोविंद, निहलानी की 'आक्रोश', 'अर्धसत्य' जैसी विचारात्तेजक फिल्में सामने आईं। वहीं महेश भट्ट जैसे निर्देशक 'सारांश' के जरिए स्थापित हो गए। उसके बाद उन्होंने 'अर्थ' जैसी बेहद खूबसूरत और अग्रणी फिल्म दी। भीमसेन की 'घरौंदा' की तरह की फिल्में भी खूब पसंद की गईं। बासु चटर्जी की 'सारा आकाश' भी इसी सिलसिले की एक महत्वपूर्ण फिल्म थी।

नब्बे के दशक तक अर्थपूर्ण एवं यथार्थवादी सिनेमा काफी सशक्त हुआ था और इसने भी देश को काफी अच्छे अदाकार, निर्देशक दिए। नसीरूद्दीन शाह, ओम पुरी, स्मिता पाटिल, शबाना आजमी, अमरीश पुरी, कुलभूषण खरबंदा, मोहन आगाशे, अमोल पालेकर आदि कई अभिनेता इसी धारा से प्रकाश में आए। फिल्मों में भी 'भुवन शोम', 'मृगया', 'एक अधूरी कहानी', 'फणिअम्मा', 'घट श्राद्ध' 'पार', 'अयांत्रिक', 'सुवर्ण रेखा', 'पार्टी', 'प्रतिद्वंद्वी', 'पोस्टर', 'शंकराभरणं', 'ये वो मंजिल तो नहीं', 'निशांत', 'संस्कार', 'वंशवृक्ष', 'चक्र', 'नागरिक', 'इंटरव्यू', 'औरत', 'उसकी रोटी', 'चश्मे बद्दर', 'कथा', 'दामुल', 'जाने भी दो यारो' आदि की एक लंबी सूची है, जिसने भारतीय सिनेमा में सोच और रचनात्मकता को एक सार्थक ऊंचाई और अर्थवत्ता प्रदान की।

मगर यह सिलसिला नब्बे के दशक के खत्म होते-होते थोड़ा थम गया। इस समय सुपर स्टार राजेश खन्ना का दौर लगभग खत्म हो चला था और आज के महानायक अमिताभ बच्चन परवान चढ़ चुके थे। उनकी एंग्री यंग मैन' वाली छवि के दौर में यथार्थपरक फिल्मों को खासा झटका लगा, क्योंकि मनोरंजन की प्राथमिकता वाली फिल्मों के बेताज बादशाह बने अमिताभ 'वन मैन इंडस्ट्री' हो गए थे और फिल्म-निर्माण में लगने वाली कच्ची-पक्की पूंजी का अधिकांश हिस्सा उनकी फिल्मों के बनाने पर खर्च होने लगा था। लिहाजा छोटे बजट वाली सार्थक फिल्मों के लिए वित्तीय व्यवस्था जुटाने में बहुत दिक्कतें आ गई थीं। लिहाजा समानांतर सिनेमा के पैरोकार निर्माता-निर्देशक सामाजिक सरोकार छोड़कर घर बैठ गए।

इसके बाद आया सामाजिक विषमता को चरम पर पहुंचाने वाले भूमंडलीकरण का दौर। जगजाहिर है कि इस दौर में देश भर में एक नवधनाढय वर्ग पैदा हुआ, जिसकी जरूरतों के मद्देनजर बहुराष्ट्रीय कंपनियां और उनके उत्पाद का नया एवं बेहद महंगा बाजार खड़ा हो गया, जिसमें देश के नब्बे प्रतिशत जनता का प्रवेश ही संभव नहीं है। इसलिए नवधनाढ्य वर्ग की क्रय शक्ति को आंकते हुए बड़े-बड़े मॉल, मल्टीप्लेक्स सिनेमाघर अस्तित्व में आए, जहां सिर्फ और सिर्फ तड़क-भड़क एवं थोथे उत्तेजक मनोरंजन के लिए ही स्थान था। विचारोत्तेजक एवं समयगत सच्चाइयों वाली फिल्मों के लिए नहीं। सिनेमा जैसे सबसे सशक्त माध्यम पर 'कारपोरेट कंपनियों' का कब्जा हो गया। यहां तक कि फिल्मों के वितरण और सिनेमाघरों की उपलब्धता भी इन्हीं कॉरपोरेट कंपनियों की गिरफ्त में जा फंसी। लिहाजा इस क्रूर पंजे के हमले को 'न्यू वेव' वाला समानांतर सिनेमा झेल नहीं पाया। अब शायद ही ऐसी कोई फिल्म बनती

हो, जो देश की अधिकांश वंचित जनता के जीवन के यथार्थ के विभिन्न पहलुओं को अभिव्यक्ति देती हो।

अमिताभ के नायक वाले दौर के समानांतर मुख्यधारा के हिंदी सिनेमा में नए नायकों का उदय होता रहा और सिनेमा-निर्माण इन अदाकारों की छवि के इर्द-गिर्द घूमने लगा। सनी देओल, संजय दत्त, शाहरुख खान, आमिर खान, अजय देवगन, सलमान खान, सैफ अली खान, ऋतिक रोशन जैसे नायकों के आगमन ने हिंदी सिनेमा का चेहरा बेहद आधुनिक और ग्लैमरस बना दिया लेकिन फिल्में जिंदगी (आम आदमी की) से बहुत दूर हो गईं, जिनका मुख्य उद्देश्य सिर्फ पैसा कमाना रह गया कभी-कभी आमिर खान जैसे अभिनेताओं ने इक्का-दुक्का अर्थपूर्ण एवं सार्थक फिल्में बनाई, पर बेहद कमर्शियल फिल्मों की संख्या के मुकाबले वे 'ऊंट के मुंह में जीरा' साबित हुई। फिर भी भूले-भटके कुछ समानांतर टाइप की फिल्में कभी कभार देखने को मिल जाती हैं। आज मूल सिनेमा का ट्रेंड सिर्फ 'पैसा कमाऊ सिनेमा' बनकर रह गया है, 'वांटेड', 'द डॉन', 'एक था टाइगर', 'दबंग', 'गोलमाल', 'सिंघम', 'राउडी राठौर' आदि तमाम हिट होने वाली मौजूदा फिल्मों को सिर्फ मनोरंजन के लिए ही देखा जा सकता है, किसी गहरी चेतना के लिए नहीं हालांकि ये फिल्में समाज की विसंगतियों पर चोट करती भी हैं, पर इतने 'लाइट' तरीके से कि वे यथार्थ से कटकर नाटकबाजी ज्यादा लगती हैं। फिल्मों का चलना ही उसके बनने की मुख्य वजह बनता है, इसलिए नवधनाढ्य वर्ग जिन फिल्मों को प्रश्रय देता है, निर्माता वही बनाता है और सारा देश वही देखने को बाध्य होता है। अच्छी कही जाने वाली 'थ्री इडियट्स' जैसी फिल्म भी घोर फंतासी की शिकार अविश्वसनीय मसाला फिल्म है, जिसके प्रयोग थिएटर में बस देखे जा सकते हैं, किए या आजमाए नहीं जा सकते। कभी-कभार 'मुन्ना भाई एम. बी. बी.एस.' जैसी फिल्म अपने मजाकिया शिल्प के जरिए कुछ जरूरी सवाल खड़ा कर जाती हैं, पर हमेशा नहीं। विषय शून्यता की स्थिति तो ऐसी है कि पुरानी हिट फिल्मों के लगातार 'रिमेक' बन रहे हैं, तो जाहिर है कि वैचारिक दिवालियापन शिखर पर है।

हालांकि अपने सौ साल के सफर में हमारा सिनेमा मूक युग से लेकर आज तकनीकी ऊंचाइयों तक पहुंचते हुए बहुत ही विकसित और खर्चीला हो चला है, पर उसकी जन-सरोकारीय भूमिका अत्यंत ही सिमट गई है, साथ ही विश्व सिनेमा के साथ कदम मिलाने की कोशिश में आज की फिल्मों से भारतीयता की जड़ें भी एक हद तक कट चुकी हैं। ये फिल्में जैसा भारत प्रतिबिंबित कर रहीं या गढ़ रहीं, वह नवधनाढ्यों के नजरिए से बन रहा भारत है, जो जमीनी सच्चाई से बेहद अलग है। इसीलिए यशराज फिल्म्स या करण जौहर के बैनर से बनने वाली फिल्में भी अति नाटकीयता और अविश्वसनीय मनोरंजक कथानकों एवं सितारों का पैकेज भर होती हैं, जिन्हें सिर्फ बॉक्स ऑफिस की सफलता से मतलब होता है। दिक्कत यह है कि पूरे सिनेमा उद्योग पर इन्हीं ताकतों का कब्जा है तो फिर सार्थकता की उम्मीद किस तरह और कितनी की जा सकती है?

सौ साल में प्रमुख अभिनेत्रियां

जुबैदा, शीला, नरगिस, सुरैया, कामिनी कौशल, निम्मी, नूरजहां, मधुबाला, मीना कुमारी, नलिनी जयवंत, बीना राय, साधना, वैजयंतीमाला, वहीदा रहमान, सुचित्रा सेन, नूतन, आशा पारेख, बबीता, तनुजा, माला सिन्हा, हेमा मालिनी, रेखा, राखी, जया बच्चन, सिम्मी, पदिमनी, हेलन, शशिकला, बिंदु, पदमा खन्ना, शर्मिला टैगोर, मुमताज, नीतू सिंह, जीनत अमान, परवीन

बॉबी, मीनाक्षी शेषाद्रि, ऐश्वर्य राय, सुष्मिता सेन, रानी मुखर्जी, बिपाशा बासु, प्रियंका चोपड़ा, कैटरीना कैफ आदि'।

प्रमुख गायक

कुंदन लाल सहगल, के. सी. पंकज मलिक, तलत महमूद, जगमोहन, मोहम्मद रफी, मुकेश, मन्ना डे, किशोर कुमार, लता मंगेशकर, नूरजहां, सुरैया, राजकुमारी, शमशाद बेगम, गीता दत्त, आशा भोंसले, सुमन कल्याणपुर, कविता कृष्णमूर्ति, साधना सरगम, कुमार सानू, उदित नारायण, श्रेया घोषल, हरिहरन आदि।

प्रमुख संगीतकार

नौशाद, शंकर जयकिशन, अनिल विश्वास, हेमंत कुमार, सी. रामचंद्र हुस्न लाल-भगतराम, सचिन देव बर्मन, राहुल देव बर्मन, सलिल चौधरी, मदन मोहन, जयदेव, ओ. पी. नैयर, सोनिक ओमी, लक्ष्मीकांत-प्यारेलाल, कल्याणजी आनंदजी, श्री रवींद्र जैन, नदीम-श्रवण, जतिन ललित, ए. आर रहमान आदि।

प्रमुख निर्देशक

दादा साहब फाल्के, भालजी पेंढारकर, राजकपूर, वी. शांताराम, चेतन आनंद, विमल राय, सत्यजित राय, के. आसिफ, गुरुदत्त, मनोज कुमार, विजय आनंद, देव आनंद, फिरोज खान, बी. आर. चोपड़ा, रवि चोपड़ा, यश चोपड़ा, राकेश रोशन, ऋषिकेश मुखर्जी, शक्ति सामंत, प्रमोद चक्रवर्ती, मनमोहन देसाई, नासिर हुसैन, बासु चटर्जी, बासु भट्टाचार्य, विशाल भारद्वाज, प्रियदर्शन, प्रकाश झा, मणिरत्नम आदि।

(लेखक सुप्रसिद्ध कथाकार और बॉलीवुड अभिनेता हैं)

हिंदी सिनेमा : कल, आज और कल

विनोद विप्लव

हमारे देश में क्रिकेट की तरह सिनेमा भी एक धर्म है और सिनेमा के सितारे चाहने वालों के लिए भगवान हैं। सिनेमा के प्रति यह जुनून आज से नहीं है, यह तभी से है जब सिनेमा तक हर तबके की पहुंच नहीं होती थी। आज तो सिनेमा टेलीविजन, वीसीडी और इंटरनेट के जरिए घर-घर में पहुंच गया है। बड़े शहरों ही नहीं, छोटे शहरों और कस्बों में भी मल्टीप्लेक्स की भरमार हो गई है। आज सिनेमा के बाजार का व्यापक विस्तार हुआ है। यहां तक कि यह बाजार घरों में आ गया है। आज सिनेमा बनाने और बेचने का ही नहीं बल्कि सिनेमा देखने का तरीका भी बदल गया है। आज की पीढ़ी को मनचाही फिल्म देखने के लिए किसी तरह की जद्दोजहद करने की जरूरत नहीं होती है। आज फिल्म देखने के लिए न किसी इंतजार की जरूरत है, न माता-पिता की मेहरबानी की और न ही टिकट खरीदने के लिए घंटों लाइन में खड़े होने की और न ही सिनेमा हॉल में घुसने के लिए धक्का-मुक्की करने की, लेकिन एक समय था जब फिल्म देखना युद्ध जीतने के समान होता था और फिल्म देखकर आना एक उपलब्धि हासिल करने की तरह होता था। आज जो सिनेमा है वह ढेर सारे बदलावों से गुजरते हुए यहां तक पहुंचा है, ऐसे में सिनेमा को समझने के लिए उन बदलावों पर भी गौर करना लाजिमी होगा, जिसे भारतीय सिनेमा ने पिछले 100 सालों से अधिक समय के दौरान देखा है।

1912 में केवल 15 हजार रुपये की लागत से बनने वाली पहली फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' के प्रदर्शन के साथ शुरू हुआ हिंदी सिनेमा आज दुनिया का सबसे बड़ा सिनेमा उद्योग बन चुका है। आज एक मंहगी फिल्म बनाने पर 100 करोड़ रुपये खर्च किए जा रहे हैं। हिंदी फिल्म उद्योग का कारोबार दो अरब डालर से भी अधिक का हो चुका।

भारत में सिनेमा की शुरुआत का श्रेय दादा साहब फाल्के- धुंडीराज गोविंद फाल्के को जाता है। उन्होंने 1912 में 'राजा हरिश्चंद्र' बनाकर भारत में सिनेमा का श्रीगणेश किया। कुल 3700 फुट लंबी यह फिल्म तीन मई, 1913 को बंबई के कोरोनेशन सिनेमाघर में प्रदर्शित हुई तो सिनेमाघर में दर्शकों की भारी भीड़ लग गई।

इस सफलता ने धुंडीराज गोविंद फाल्के को और फिल्में बनाने, अपनी फिल्म यूनिट तैयार करने और एक बंद व ओपन स्टूडियो के निर्माण के लिए प्रेरित किया। उसके तुरंत बाद उन्होंने 'भस्मासुर-मोहिनी' (1913), 'सत्यवान-सावित्री' (1914), 'लंका दहन', 'कृष्ण जन्म' आदि फिल्मों के निर्माण के साथ अपनी एक फिल्म यूनिट भी बनाई, जिसके सदस्यों की संख्या बढ़ते-बढ़ते सौ से भी अधिक हो गई।

हिंदी फिल्म-निर्माण की जो शुरुआत मराठी-भाषी धुंडीराज गोविंद फाल्के ने की थी, उस कड़ी में जुड़ने के लिए कई और निर्माता-निर्देशक मैदान में आ गए, जिनमें धीरेन गांगुली तथा बाबूराव पेंटर प्रमुख थे। 1913 से 1937 तक मूक फिल्मों का दौर जारी रहा और हर तरह की फिल्मों का निर्माण हुआ। धार्मिक फिल्मों के अलावा सामाजिक, ऐतिहासिक, रोमांटिक व समसामयिक फिल्मों का निर्माण भी काफी हुआ। सती विषय पर बनी पहली मूक फिल्म 'सती पार्वती' (1920), मॉडर्न जमाने की समस्याओं पर पहली फिल्म 'इंग्लैंड रिटर्न' (1921), प्रथम ऐतिहासिक फिल्म 'अशोक' (1922), प्रथम रोमानी फिल्म 'लैला मजनूं' (1922), प्रथम सामाजिक फिल्म 'लेडी टीचर' व 'तारा डांसर' (सभी 1922) ने भी इन विषयों पर बनने वाली फिल्मों के लिए नए द्वार खोले।

धुंडीराज गोविंद फाल्के ने पोस्ट सिंक्रोनाइजिंग संवादों के जरिए सवाक (बोलती) फिल्में बनाने की कोशिश की, ढेर सारे प्रयोग भी किए, लेकिन नाकामयाब रहे ईरानी (अर्देशिर ईरानी) ने 1930-31 में प्रथम बोलती फिल्म 'आलम आरा' (1931) बनाकर सवाक फिल्मों का श्रीगणेश किया। उन्होंने पहली रंगीन फिल्म 'किसान' बनाई साथ ही पहली बार सवाक फिल्मों में गानों का भी पिक्चराइजेशन किया।

गुजरात के दिहोर में 1904 में जन्मे शंकरलाल जे. भट्ट ने आठ हजार रुपये की लागत से 1925 में अपनी पहली फिल्म 'दिल्ली नो डौड चेटल' (गुजराती में) व 'फीयरलेस फेंटम' (हिंदी में) बनाकर एक साथ दो भाषाओं में, साथ ही सबसे कम खर्च में फिल्म बनाने का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने प्रकाश स्टूडियो का भी निर्माण किया तथा श्रीप्रकाश फिल्म्स के बैनर तले भारत की प्रथम डायमंड जुबली फिल्म 'बैजू बावरा' का भी निर्माण किया। इसके अलावा भारतीय सिनेमा में मील का पत्थर रही फिल्म 'भरत मिलाप' तथा 'रामराज्य' का भी निर्माण किया। महात्मा गांधी ने अपनी जिंदगी में जो एकमात्र फिल्म देखी थी, वह थी- 'रामराज्य'।

फिल्म जगत् में 'चंदूलाल शाह' के नाम से विख्यात चंदूलाल जे. शाह ने लीक से हटकर नए-नए विषयों पर फिल्म बनाने की परंपरा शुरू की। वह फिल्म-निर्माताओं की संस्था 'इंपा' जो आज भी सर्वाधिक अधिकारसंपन्न संस्था है- व 'मोशन पिक्चर्स सोसायटी ऑफ इंडिया' के संस्थापक थे। वह 'फिल्म फेडरेशन ऑफ इंडिया' के प्रथम अध्यक्ष भी रहे। भारतीय सेंसर बोर्ड के फिल्म जगत से बनने वाले प्रथम सदस्य भी वही थे।

चंदूलाल शाह के बाद भारतीय फिल्मों के विकास में एक नया इतिहास रचने वाले जे. बी. एच. वाडिया ने 1933 में वाडिया मूवीटोन की स्थापना की और 'फीयरलेस वाडिया' सहित 70 से भी अधिक फिल्मों का निर्माण किया। हिंदी में फैंटेसी फिल्मों को लोकप्रियता दिलाने में उनका सबसे बड़ा योगदान रहा।

फिल्म जगत में चाचा के नाम से विख्यात चिमनलाल बी. देसाई ने ऊंचे दर्जे की फिल्में बनाने की शुरुआत की उन्होंने अपनी फिल्मों के माध्यम से एक और जहां फिल्म जगत को सुरेंद्र, मोतीलाल, जद्दनबाई (नरगिस की मां), सितारा देवी, नलिनी जयवंत, कन्हैयालाल जैसे 'ए' श्रेणी के कलाकार दिए तो वहीं महबूब खान जैसे कुशल निर्देशक भी दिए। उन्होंने फिल्म प्रोडक्शन इक्विपमेंट के डिस्ट्रीब्यूटर एम.ए. फजल भाई, जो बाद में खुद भी निर्माता बन गए, के साथ मिलकर 'नेशनल स्टूडियो' (ताड़देव) व 'न्यू टॉकीज' (बांद्रा) का निर्माण किया। सर्वाधिक बड़ी एवं विश्वविख्यात फिल्मों का निर्माण नेशनल स्टूडियो में ही हुआ।

सवाक फिल्मों के निर्माण का प्रयास हालांकि 1924 से 1927 के बीच ही शुरू हो गया था, लेकिन पहली सफलता आर्देशिर ईरानी ('आलम आरा') को ही मिली। महात्मा गांधी के बढ़ते प्रयास का सर्वाधिक असर 1923-24 में फिल्म जगत में दिखलाई पड़ा जब पुणे के पांडुरंग तालगिरी ने गांधीजी के जनसहयोग आंदोलन से प्रभावित हो 'अछूत' और 'अछूतोद्धार' नामक दो मूक फिल्में बनाईं। किसानों के शोषण के खिलाफ महाराष्ट्रीयन फिल्म कंपनी ने 'सावकरी पाश' व मदन ने 'असहयोग आंदोलन' नामक कॉमेडी फिल्म बनाई। इस दौरान जहां सुलोचना व मिस गौहर जैसी अभिनेत्रियों का उदय हुआ, वहीं वी. शांताराम जैसे निर्देशक 'नेता पालकर' फिल्म के माध्यम से उदित हुए। 1925-26 में नारी-प्रधान फिल्मों का निर्माण अधिक हुआ और उनमें से अधिकांश की हीरोइन सुलोचना उर्फ रूबी मायर्स थीं। 1929 में बांग्ला के प्रख्यात उपन्यासकार बंकिमचंद्र के उपन्यासों ('कपाल' 'कुंडला', 'युगल', 'गरीब') तथा शरत्चंद्र के उपन्यास (देवदास) पर भी फिल्में बनीं और बहुत चर्चित हुईं। इसी दौर में हिमांशु राय (स्वराज), ए.आर. कारदार ('अनोखा बाग'), देवकी बोस ('अपराधी'), बी.एन.सरकार ('चोर-कांटा' व 'पाशार मेये') मूक फिल्मों के सुपर स्टारमास्टर विट्ठल बतौर निर्देशक ('प्रिंस एंड द पावर' पर आधारित 'आवारा शाहजादा'), नितिन बोस ('चंडीदास') आदि ने बतौर निर्देशक अपने करिअर की शुरुआत की थी।

1931 में 24 सवाक फिल्में बनीं जो 1935 में बढ़कर 120 की संख्या पार कर गई। न्यू थिएटर्स की चंडीदास से के.एल. सहगल-उमा शशि की तथा ईस्ट इंडिया फिल्म्स की 'सीता' (निर्देशक देवकी बोस) से पृथ्वीराज कपूर-दुर्गा खोटे की जोड़ी खासी लोकप्रिय हुई जो 'मुगल-ए-आजम' तक चली। 1934 में ही प्रेमचंद भी फिल्म जगत् में आए और मोहन भगनानी की फिल्म 'मजदूर' की कहानी व संवाद लिखे। उनके उपन्यास 'सेवासदन' पर नानूभाई वकील ने इसी नाम से फिल्म बनाई। 1933 में फारसी भाषा में पहली फिल्म 'दस्तूरे नूर' इंपीरियल फिल्म कंपनी ने बनाई, जिसमें काम करने वाले सभी कलाकार (कानन बाला, सुलोचना, त्रिलोक कपूर, इंदुबाला आदि) हिंदू थे और उन्होंने खालिस फारसी जबान में अपने संवाद खुद बोले थे, जिसे सुनकर अरबी-फारसी के विद्वानों तक ने मुंह में उंगली दबा ली थी। इसी वर्ष आगा हश्र कश्मीरी के प्रसिद्ध नाटक 'यहूदी की लड़की' पर इसी शीर्षक से अनोखी शैली में बनी फिल्म में के.एल. सहगल और रतनबाई ने अभिनय किया था। पंकज मलिक ने इसी फिल्म से बतौर संगीत-निर्देशक काम शुरू किया और उनके निर्देशन में सहगल द्वारा गाया गीत 'दिले नादां तुझे हुआ क्या है' उस समय काफी लोकप्रिय हुआ था। किसी विदेशी फिल्मोत्सव में शामिल होने वाली 'सीता' पहली भारतीय फिल्म थी।

1934 की एक और महत्वपूर्ण देन थे-नितिन बोस, जिन्होंने इसी वर्ष न्यू थिएटर्स की चंडीदास (के.एल.सहगल, पहाड़ी सान्याल व उमा शशि) बनाकर फिल्म-निर्माण को एक नई दिशा दी थी जिसमें जाति-प्रथा की बुराइयों को उन्होंने पहली बार पर्दे पर पेश करने की हिम्मत की थी। चंडीदास से लेकर दिलीप कुमार की गंगा-जमुना तक नितिन ने दर्जनों महत्वपूर्ण फिल्में बनाई थीं जिनकी चर्चा भारत के साथ विदेशों में भी हुई। उनकी अधिकांश फिल्में बॉक्स पर सुपरहिट रहीं। 1935 में भारतीय सिनेमा के फिल्म-निर्माण को 'देवदास' (सहगल, जमुना) के रूप में एक नया स्वरूप मिला तथा पी.सी. बरुआ की प्रथम फिल्म 'रूपलेखा', जिसे उन्होंने न्यू थिएटर्स के लिए निर्देशित किया, न केवल सफल रही, बल्कि इस फिल्म में जमुना देवी ने पहली

बार संवाद भी बोले। इसके पहले वे फिल्मों में कोरस डांस (समूह नृत्य) का एक अदना-सा हिस्सा थीं। तब न्यू थिएटर्स के बी.एन. सरकार को भी आभास नहीं था कि जमुना देवी के रूप में वे भावी सुपर स्टार को पेश करने जा रहे हैं।

जमुना देवदास की हीरोइन पारो बनीं और इसके रिलीज होते ही वह सारे देश में लोकप्रिय हो गईं। देवदास के गीत व संवाद पं.केदार शर्मा ने लिखे थे और विमल राय कैमरामैन थे। आगे चलकर ये दोनों ही हिंदी सिनेमा के कर्णधार साबित हुए। केदार शर्मा ने आने वाले दिनों में अपनी फिल्म 'नीलकमल' में राजकपूर को जहां बतौर नायक पहली बार मौका दिया, वहीं 'चित्रलेखा' (भगवतीचरण वर्मा की प्रख्यात कृति) जैसी अमर फिल्म का निर्माण-निर्देशन किया। बिमल राय ने बाद में 'देवदास' (दिलीप कुमार, सुचित्रा सेन, वैजयंती माला व मोतीलाल) का निर्माण-निर्देशन भी किया और सुचित्रा सेन को पहली बार हिंदी फिल्म में बतौर नायिका पेश किया। न्यू थिएटर्स के लिए मुंगेर (बिहार) में हुए भीषण भूकंप की विभीषिका पर 'आफ्टर द अर्थ क्वेक उर्फ इंकलाब' (पृथ्वीराज कपूर व दुर्गा खोटे) बनाकर समसामयिक फिल्मों के निर्माण का श्रीगणेश किया। राजकपूर ने बाल कलाकार के रूप में इसी फिल्म से पहली बार अभिनय की दुनिया में प्रवेश किया था। नितिन बोस के निर्देशन में बनी 'धूप-छांव' (पहाड़ी सान्याल, के.सी. डे, उमा देवी) में पहली बार पार्श्व गायन की शुरुआत हुई थी।

कलकत्ता से बंबई आए हिमांशु राय ने इसी वर्ष बॉम्बे टॉकीज की स्थापना की और पहली फिल्म 'जवानी की हवा' (नजामुल हुसैन व देविका रानी) बनाई। अपनी फिल्मों में संगीत को और भी तरोताजा व लोकप्रिय बनाने के लिए उन्होंने लखनऊ की संगीत शिक्षण संस्था 'मारिश' (जो बाद में भातखंडे संस्थान के नाम से प्रसिद्ध हुई) में संगीत की वरिष्ठ छात्रा खुर्शीद मिचोर होमजी को बंबई बुलाकर उन्हें संगीत-निर्देशक बनाया। सरस्वती देवी के नाम से संगीत देने वाली खुर्शीद भारत की प्रथम संगीत निर्देशिका थीं। इसी समय उस समय का सबसे अधिक वेतन (छह हजार रुपये प्रतिमाह) पाने वाली सुलोचना की 'अनारकली' (सलीम की भूमिका में डी. बिल मोरेया) ने बॉक्स ऑफिस के रिकॉर्ड तोड़े। सुलोचना न केवल महंगी सुपर स्टार थीं बल्कि उस समय बंबई फिल्म जगत व औद्योगिक घरानों में सिर्फ उन्हीं के पास शेवरलेट कार थी। बाद में फिल्मिस्तान की सुपरहिट फिल्म 'अनारकली' (बीना राय, प्रदीप कुमार) में सुलोचना ने सलीम की मां जोधाबाई की भूमिका की। वी. शांताराम ने अपनी निर्माण संस्था प्रभात फिल्म केंद्र के बैनर तले अपनी प्रथम सवाक फिल्म 'धर्मात्मा' ('बालक ध्रुव', 'वासंती', 'रतप्रभा') का निर्माण व निर्देशन किया। इसके पहले वे मूक फिल्में ही बनाते रहे थे। अब समय था कि फिल्म-निर्माण धार्मिक, ऐतिहासिक, फैंटेसी फिल्मों की दुनिया से निकलकर सामाजिक व समसामयिक समस्याओं की तरफ मुड़ें और ऐसा ही हुआ। कुल 150 फिल्मों में से सर्वाधिक 64 फिल्में सामाजिक बनीं और फिल्म-निर्माण जन-जागरण का एक नया संदेश लेकर आया। फिल्मों के विषय-वस्तु की दिशा बदल गई।

1936 में निर्मित फिल्मों पर महात्मा गांधी के स्वतंत्रता आंदोलन व विचारधारा का व्यापक असर पड़ा। बॉम्बे टॉकीज की 'अछूत कन्या' (अशोक कुमार, देविका रानी) वाडिया मूवीटोन की 'जय भारत' (सरदार मंसूर, गुलशन), वी. शांताराम की 'अमर ज्योति' (दुर्गा खोटे, शांता आप्टे, चंद्रमोहन), 'अमर शहीद' (बाला साहब यादव, पवार), 'बेरोजगार' (लीला चिटनिस, जयराज), 'भारत का लाल' (चंद्रराव कदम, फिरोजा खातून), 'ग्रेजुएट' (एच. आर. डॉक्टर, गौहर

कर्नाटकी), 'दलित कुसुम' (जरीना खातून, आफताब), 'हमारी बेटियां' (राजकुमार, जिल्लो, प्रमिला), 'हिंद महिला' (रतनबाई, मास्टर विट्ठल, साहू मोदक), 'परिवर्तन' (कज्जन, खलील, आफताब), 'संगदिल समाज' (सरदार अख्तर, पद्मा देवी, नाजिर) आदि फिल्मों में सामाजिक विसंगतियों, दलितोद्धार, आजादी की कोशिश आदि समसामयिक समस्याओं को प्रस्तुत किया गया। एक अछूत लड़की और ब्राह्मण लड़के के प्रेम और अछूतों के प्रति भेदभाव को बड़े संवेदनशील ढंग से पेश करने वाली 'अछूत कन्या' का निर्माण सिर्फ 75 हजार रुपये में दो महीने के भीतर हुआ था, लेकिन उसने बॉक्स ऑफिस पर सफलता के नए कीर्तिमान कायम किए। प्रफुल्ल घोष ने माया में 'वंदे मातरम्' को स्वातंत्र्य गीत के रूप में पेश करने की हिम्मत की। मराठी में बनी 'संत तुकाराम' को वेनिस फिल्मोत्सव में विश्व की सर्वश्रेष्ठ तीन फिल्मों में शुमार किया गया।

1937 से 1940 का समय भारतीय सिनेमा का स्वर्ण युग कहा जा सकता है। 1935 में फिल्म जगत ने धूमधाम से अपनी रजत जयंती मनाई। 1937 दरअसल वी. शांताराम के क्रांतिकारी उदय का वर्ष था। उनकी श्रेष्ठतम फिल्मों में से तीन 'दुनिया ना माने', 'कुकु' (मराठी) व 'अनएक्सपेक्टेड' इसी वर्ष रिलीज हुई और समाजोद्धार की क्रांति जगाने में काफी सफल रहीं। न्यू थिएटर्स की विद्यापति व 'बड़ी बहन', पी.सी. बरुआ की 'मुक्ति' अपने विषयों के कारण हंगामेदार साबित हुई। इस वर्ष दो नए प्रयोग हुए। इंपीरियल की 'किसान कन्या' भारत में ही प्रोसेस की गई। यह प्रथम रंगीन फिल्म थी जिसकी पटकथा व संवाद सआदत हसन मंटो ने लिखे थे। दूसरी रंगीन फिल्म थी- 1938 में बनी सिनेकलर की 'मदर इंडिया' (शरीफ, प्रमिला, गुलाम मोहम्मद), लेकिन इनके खर्चीले होने तथा लागत वसूल न होने के कारण रंगीन फिल्मों की बजाय फिर ब्लैक एंड व्हाइट फिल्में ही बनने लगीं। दूसरा प्रयोग था- बिना एक भी गाने की फिल्म 'नवजीवन' का निर्माण।

नाजायज बच्चों के हक को लेकर 1938 में बनी न्यू थिएटर्स की 'अधिकार' एक कुरूप व्यक्ति की खूबसूरत बीवी के एक सुदर्शन पुरुष के साथ भाग जाने की कहानी पर बनी। सोहराब मोदी की 'जेलर', कुंवारी मां के समाज से संघर्ष पर आधारित 'बसंती', वेश्याओं की जिंदगी व सामाजिक मान्यताओं पर प्रहार करने वाली वी. शांताराम की 'आदमी', सोहराब मोदी की भव्य ऐतिहासिक फिल्म 'पुकार', बॉम्बे टॉकीज की 'कंगन' तथा न्यू थिएटर्स की 'स्ट्रीट सिंगर' 1938-39 की बहुचर्चित फिल्में थीं। स्ट्रीट सिंगर में सहगल द्वारा गाया गीत- 'बाबुल मोरा नैहर छूटा जाय' आज भी अमर है। इसी वर्ष निर्माताओं की संस्था 'इंपा' व वितरकों की संस्था 'इंपडा' की स्थापना हुई, जो आज भी सर्वाधिक शक्तिशाली संस्था है और जिसका निर्देश हर निर्देशक, निर्माता व वितरक को मानना पड़ता है।

1940 की सबसे बड़ी देन थे- संगीतकार नौशाद, जिनकी फिल्म 'प्रेमनगर' (विमला कुमारी, रामानंद, हुस्नबानो) सुपरहिट हुई और चोटी के संगीतकारों में उनका शुमार होने लगा। रंजीत मूवीटोन की 'अछूत', बॉम्बे टॉकीज की 'नवजवान' (अशोक कुमार, लीला चिटनिस), महबूब खान की 'औरत' सर्वाधिक चर्चित फिल्में थीं। महबूब खान ने 'औरत' (सरदार अख्तर, सुरेंद्र, याकूब, कन्हैयालाल) अंग्रेजी फिल्म 'गुड अर्थ' से प्रेरित होकर बनाई थी और फिर उसे दोहराया वर्षों बाद 'मदर इंडिया' बनाकर।

1935 से 1940 तक का समय जहां भारतीय सिनेमा का भविष्य व मार्ग-निर्धारण,

फिल्म-निर्माण की नींव पुख्ता करने, भारतीय सिनेमा को फैंटेसी, ऐतिहासिक व धार्मिक विषयों के घिसे-पिटे प्रकरण से निकालकर सामाजिक, रूढ़िगत व जर्जर हो रही विचारधाराओं के शिकंजे से मुक्त कर नई चेतना, सामाजिक व यथार्थ, मूल्यों, आदर्श व यथार्थपरक समाज व माहौल के निर्माण तथा समसामयिक व स्वातंत्र्य आंदोलन, प्रथम व द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पनपे जनजागरण क्रांति के नए संदेश फूंकने, नवजागरण व नवयुग की स्थापना का समय था। वर्ष 1941 से 1950 तक का समय पिछले पांच वर्ष में पड़े इन क्रांतिकारी बीजों व सुदृढ़ नींव पर सिनेमा का सुदृढ़ गढ़ खड़ा करने का प्रयास था इसीलिए 1935 से 1940 के पांच वर्षों को भारतीय सिनेमा का स्वर्ण युग कहा जाता है। इन पांच वर्षों में भारतीय सिनेमा में जितना कुछ हुआ वह आने वाले दशकों में भी संभव नहीं हो सका। इन पांच वर्षों के आधार पर ही भारतीय सिनेमा, सिनेमा उद्योग के रूप में खड़े होने का मार्ग प्रशस्त कर सका।

1941 से 1950 का दशक अपनी जिन खास उपलब्धियों के लिए भारतीय सिनेमा के इतिहास में मील का पत्थर बना, उनमें से कुछ प्रमुख उपलब्धियां थीं- लोकप्रिय मधुर संगीत-गीत की मिठास, नई पीढ़ी के अभिनेता-अभिनेत्रियों का उदय, जिन्होंने सशक्त अभिनय का नया इतिहास रचा, खासकर दिलीप कुमार, राजकपूर व देव आनंद ने अपनी-अपनी जिन शैलियों की स्थापना की उसी का अनुसरण आज भी नायक कर रहे हैं। कलकत्ता व लाहौर के प्रतिभाशाली कलाकारों का वहां से मोहभंग होना तथा अधिक लोकप्रियता, शोहरत एवं धन कमाने की गरज से बंबई आगमन, भारत-पाक विभाजन के बाद काफी संख्या में मुस्लिम कलाकारों, फिल्मकारों व तकनीशियनों का पाकिस्तान पलायन, मद्रास (अब चेन्नई) में हिंदी फिल्मों के निर्माण की शुरुआत, द्वितीय विश्वयुद्ध, स्वातंत्र्य आंदोलन एवं स्वातंत्र्योत्तर भारत की स्थापना का फिल्मों पर व्यापक असर तथा रोमानी फिल्मों की बढ़ती लोकप्रियता।

इस दशक में जहां नौशाद की संगीत लहरियां जन-जन में लोकप्रिय हुई, खेमचंद्र प्रकाश, अनिल विश्वास, गुलाम हैदर, आर.सी. बोराल, पंकज मलिक, सरस्वती देवी, रफीक गजनबी आदि का वर्चस्व रहा। 1935-1940 के दशक के संगीतकारों ने मधुर व सुरीली धुनें बनाईं, वहीं एस.डी. बर्मन, सी. रामचंद्र, वसंत देसाई, एस.एन. त्रिपाठी, चित्रगुप्त, हुस्नलाल, मंगतराम, सुधीर फड़के, हंसराज बहल, शंकर, जयकिशन जैसे संगीतकारों का उदय भी इसी दशक में हुआ और इनमें से हर किसी ने आगे चलकर संगीत की दुनिया में अपनी अलग-अलग बोलियां विकसित कीं और काफी मधुर धुनें दीं। प्रख्यात सितारवादक पंडित रविशंकर भी संगीत निर्देशन के क्षेत्र में उतरे और 1946 में प्रदर्शित चेतन आनंद की पहली फिल्म 'नीचा नगर' (रफीक अनवर, उमा आनंद, कामिनी कौशल) का संगीत निर्देशन किया, लेकिन संगीत निर्देशन को उन्होंने अपना पेशा नहीं बनाया। इस दशक में संगीतकारों के लिए संगीत की दुनिया में स्थापित होने की जहां पृष्ठभूमि बनी वहीं इनकी लोकप्रियता, आम जनता में सर्वाधिक पसंद की जाने वाली धुनों तथा इन संगीतकारों की बढ़ती मांग के कारण पुराने संगीतकारों के करिअर धीरे-धीरे अस्ताचल की ओर बढ़ चले। इस दशक में नए संगीतकारों ने फैंटेसी, ऐतिहासिक से लेकर रोमानी, सामाजिक, धार्मिक- हर तरह की फिल्मों में संगीत दिया, जिसके आधार पर उन्होंने आगे चलकर अपने करिअर को एक विशेष वर्ग में ढाल लिया। जैसे अगले दशक में एस.एन. त्रिपाठी की मांग धार्मिक तथा फैंटेसी फिल्मों में बहुत अधिक होने लगी।

अभी तक निर्माता-निर्देशक कारदार और संगीतकार नौशाद का ही अपना एक ग्रुप था,

बाद में महबूब, एस. यू. सन्नी, के. आसिफ भी इस कड़ी में शामिल हो गए। इसी तरह 'बरसात' (1949) से राजकपूर ने शंकर-जयकिशन के साथ अपनी टीम बनाई तो देव आनंद ने एस. डी. बर्मन, वी. शांताराम ने वसंत देसाई व सी. रामचंद्र के साथ तथा भगवान ने भी सी. रामचंद्र के साथ अपनी टीम बनाई। आगे चलकर संगीत निर्देशकों व निर्माता-निर्देशकों की अपनी एक टीम बन गई। इस दशक की शुरुआत से ही कारदार-नौशाद की टीम ने 1942 में 'शारदा' (महताब, उल्लास), 'नई दुनिया' (शोभना समर्थ, जयराज), 1943 में 'कानून' (महताब, साहू मोदक), 1944 में 'पहले आप' (शमीम वासी, अनवर हुसैन), 1946 में 'शाहजहां', 'संन्यासी' (शमीम, नसीम, अमर), 1947 में 'दर्द' (मुनव्वर, सुल्ताना, नशरत, सुरैया), 1949 में 'दिल्लगी' (सुरैया, श्याम, शारदा), 'दुलारी' (मधुबाला, सुरेश, गीताबाली) और 1950 में 'दास्तान' (सुरैया, राजकपूर) जैसी सुपरहिट फिल्में दीं। दर्द सुरैया की पहली फिल्म थी। जिसमें सुरैया को 13 वर्ष की उम्र में नौशाद ने बतौर स्टार सिंगर पेश किया था। इसी तरह महबूब के साथ ही उनकी जोड़ी बनी और उन्होंने 'अनमोल घड़ी' (नूरजहां, सुरेंद्र, सुरैया), 1947 में 'ऐलान' (सुरेंद्र, मुनव्वर, सुल्ताना), 'अनोखी अदा' (नसीम, सुरेंद्र, प्रतिमा), 1949 में 'अंदाज' (दिलीप कुमार, नरगिस, राजकपूर) व 'आन' (दिलीप कुमार, निम्मी, नादिरा, प्रेमनाथ) जैसी सुपरहिट फिल्में दी थीं। इन फिल्मों के सभी गाने न केवल बेमिसाल थे, बल्कि बेहद लोकप्रिय भी हुए। महबूब ने नौशाद से पहले 1942 में विश्वास के साथ 'रोटी' (चंद्रमोहन, शेख मुख्तार, सितारा), रफीक गजनवी के साथ 1943 में 'नजमा' (अशोक कुमार, बीना, सितारा) व 'तकदीर' (नरगिस, मोतीलाल, चंद्रमोहन- नरगिस की पहली फिल्म), 1945 में गुलाम हैदर के साथ 'हुमायूं' (अशोक कुमार, बीना, नरगिस) आदि फिल्में की, लेकिन उनके सभी गाने उस हद तक लोकप्रिय नहीं हो सके थे जिस हद तक 1946 से 1950 के बीच बनी फिल्मों के हुए थे। नौशाद ने उनके अलावा दूसरे निर्माता-निर्देशकों के साथ 'माला', 'दर्शन' (1941), 'नई दुनिया', 'शारदा', 'स्टेशन मास्टर' (1942), 'नमस्ते', 'संयोग' (1943), 'बहार, 'गीत', 'जीवन', 'रतन' व 'संन्यासी' (1944), 'कीमत' (1945), 'नाटक' (1947), 'मेला' (1948) आदि फिल्मों की धुनें बनाई थीं जिनमें आज भी 'रतन' व 'मेला' के गीत न केवल लोकप्रिय हैं, बल्कि इन्हें अमर संगीत की शृंखला में जोड़ा जाता है।

गुलाम हैदर की महत्वपूर्ण फिल्में थीं- 'खजांची', 'खानदान', 'जमींदार', 'चल-चल रे नौजवान', 'फूल', 'लैला-मजनू'। के. आसिफ की बतौर निर्माता-निर्देशक 'फूल' (बीना, पृथ्वीराज कपूर) प्रथम फिल्म थी। इसी तरह रफीक गजनवी की 'स्वामी', 'तकदीर', 'विषकन्या', सोहराब मोदी की 'एक दिन की सौतन', 'लैला मजनू' प्रसिद्ध फिल्में थीं। प्रथम संगीतकार जोड़ी के रूप में वास्तविक शुरुआत 1946 में हुस्नलाल-मंगतराम ने की।

1935-40 की महत्वपूर्ण देन खेमचंद्र प्रकाश इस दशक के सबसे व्यस्त संगीतकार थे। 'उम्मीद', 'हॉलीडे इन बॉम्बे', 'परदेसी', 'प्यास', 'शादी' (1941), 'दुःख-सुख', 'चांदनी', 'फरियाद', 'इकरार', 'खिलौना', 'मेहमान' (1942), 'चिराग', 'गौरी', 'तानसेन' (1943), 'धनवान', 'भृर्तहरि', 'मुमताज महल', 'शहंशाह बाबर' (1944), 'धन्ना भगत' (1945), 'गांव', (1946), 'मेरा गांव', 'मुलाकात', 'समाज को बदल डालो' (निर्माता-निर्देशक विजय भट्ट), फिल्मिस्तान की किशोर साहू निर्देशित 'सिंदूर' (1947) तथा 'आशा' उनकी महत्वपूर्ण फिल्में थीं। खेमचंद्र प्रकाश को फिल्मी धुनों की इंडस्ट्री कहा जाता था। अधिक से अधिक फिल्में करने के चक्कर में वे संगीत

की धुनों पर पर्याप्त ध्यान नहीं दे सके, जिसके परिणामस्वरूप 1945 से उनके करिअर का सूर्यास्त शुरू हो गया। उनकी ही पीढ़ी के गुलाम हैदर व रफीक गजनवी ने कम किंतु चुनी हुई फिल्में कीं, लेकिन नए संगीतकारों की आंधी को ये दोनों भी ज्यादा समय तक नहीं झेल सके।

नए संगीतकारों में सी. रामचंद्र द्वारा 'मुस्कराहट' (1943), 'जगत', 'दिल की बात', 'ललकार', 'मनोरमा', 'रौनक' (1944), 'नगमा-ए-सहारा', 'सम्राट चंद्रगुप्त', 'सावन', 'बच्चों का खेल' (1945), 'सफर', 'अहिंसा', 'लीला', 'मतवाले', 'साजन', 'शादी से पहले' (1946), 'शहनाई', 'खिड़की', 'मेरा मुन्ना', 'नदिया के पार' (1947) आदि फिल्मों में संगीत दिया गया। इस दौर की अन्य महत्वपूर्ण फिल्में थीं- डॉ. कोटनीस की अमर कहानी, व्ही शांताराम की 'शकुंतला', 'शिकारी', 'अफसर', 'बरसात' आदि।

दिलीप कुमार, राजकपूर, देव आनंद के अलावा इस दशक की अन्य महत्वपूर्ण उपलब्धि थी- नरगिस, सुरैया, नूरजहां, मधुबाला, नलिनी जयवंत, कामिनी कौशल, मीना कुमारी, नूतन, रहमान, गीताबाली, शशिकला, बलराज साहनी, किशोर साहू जैसे सितारों का फिल्माकाश में उदय, जिन्होंने 1951-1960 के दशक व उसके बाद के दशकों में भी अपने सशक्त अभिनय की छाप छोड़ी और अभिनय की दुनिया में न केवल क्रांति की बल्कि अभिनय कला को उसके मौजूदा स्वरूप से अलग ले जाकर उसे एक नया स्वरूप दिया।

इसी दशक में के. आसिफ, एस. यू. सन्नी, किशोर साहू, चेतन आनंद, राजकपूर, देवेंद्र गोयल, एस.डी. नारंग, महेश कौल, फणि मजूमदार, रमेश सहगल, कमाल अमरोही, जिया सरहदी, के. ए. अब्बास जैसे सशक्त निर्देशकों का भी उदय हुआ। के. आसिफ ने 'फूल', एस.यू. सन्नी ने 'मेला' (1948), 'समाधि' (1950), ज्ञान मुखर्जी ने 'किस्मत' (1943), 'संग्राम' (1950), कमाल अमरोही ने 'महल' (1949), चेतन आनंद ने 'नीचा नगर' व 'अफसर' (1950) और राजकपूर ने 'बरसात' (1949) जैसी सुपरहिट फिल्में दीं। ये सभी विश्वप्रसिद्ध व सफलता के नए कीर्तिमान कायम करने वाली फिल्में थीं। इनमें से अधिकतर फिल्मों के नायक अशोक कुमार, दिलीप कुमार, राजकपूर व देव आनंद थे।

1951 से 1960 का दशक पूर्व दशक में प्रारंभ हुए मूल्यों की स्थापना का वर्ष था। पिछले दशक में उदय होने वाले सितारे, निर्देशक, संगीतकार एवं अन्य तकनीशियन इस दशक में पूरी तरह से स्थापित हो गए। इसके साथ ही हॉलीवुड की फिल्मों की नकल व फिल्म के कलात्मक एवं सार्थक पक्ष पर ग्लैमर व व्यावसायिकता का जहर भी इस कदर घुला कि फिल्म जगत् उससे मुक्त होने की बजाय दिनोंदिन इस जहर में आकंठ डूबता चला गया, साथ ही फिल्म-निर्माण का स्तर दो भागों में बंट गया- उच्च स्तर व निम्न स्तर की सतही फिल्में। हॉलीवुड की कुछ फिल्मों की तो सीन-ब-सीन नकल की गई।

1961 में जिया सरहदी की 'हम लोग' (बलराज साहनी, नूतन, श्याम), राजकपूर की 'आवारा' (राजकपूर, नरगिस, पृथ्वीराज कपूर), भगवान की 'अलबेला', बी.आर. चोपड़ा की पहली फिल्म 'अफसाना' (अशोक कुमार, बीना, मुनव्वर, सुल्ताना), मद्रास में जैमिनी फिल्म्स की 'संसार' व ए.वी.एम. फिल्म्स की 'बहार', वी. शांताराम की 'अमर भूपाली', नवकेतन की 'बाजी', किशोर साहू की 'काली घटा', राजेंद्र जैन की 'दीदार' (अशोक कुमार, नरगिस, दिलीप कुमार, निम्मी) जैसी उल्लेखनीय एवं लोकप्रिय फिल्में बनीं तो वैजयंती माला (बहार) तथा बीनाराय (काली घटा) ने अपने अभिनय जीवन की शुरुआत की और तबस्सुम व परीक्षित

साहनी पहली बार बाल कलाकार के रूप में दीदार में आए। दीदार चतुष्कोणीय प्रेम पर आधारित पहली फिल्म थी जो सुपरहिट भी हुई और लोकप्रिय भी। बी.आर. चोपड़ा ने अपनी पहली फिल्म सुपरहिट फिल्म 'अफसाना' का पुनर्निर्माण बाद में 'दास्तान' (दिलीप कुमार, शर्मिला टैगोर, प्रेम चोपड़ा) के नाम से किया, लेकिन वह अफसाना जैसा करिश्मा नहीं दिखा सकी।

1952 में अमिय चक्रवर्ती की 'दाग' (दिलीप कुमार, निम्मी), विजय भट्ट की 'बैजू बावरा' (भारत भूषण, मीना कुमारी), के.ए. अब्बास की 'अनहोनी' (राजकपूर, नरगिस), आर.बी. तलवार की 'संगदिल' (दिलीप कुमार, मधुबाला), जैमिनी की 'मि. संपत' (मोतीलाल) व हीरेन गुप्ता की 'आनंदमठ' इस वर्ष की श्रेष्ठतम फिल्में थीं। दिलीप कुमार की विभिन्न भूमिकाओं वाली कई फिल्में भी इसी वर्ष प्रदर्शित हुई थीं। 'आनंदमठ' हेमंत कुमार की बतौर संगीतकार पहली फिल्म थी।

महबूब खान ने 'आन' की शूटिंग भारत में 16 एम.एम. में की, जिसे लंदन ले जाकर उन्होंने 35 एम.एम. में परिवर्तित किया तथा दूसरे तकनीकी प्रयोग भी किए। इस तरह के प्रयोग वाली यह पहली भारतीय फिल्म थी, जिसका अनुकरण बाद में के. आसिफ ('मुगल-ए-आजम') सहित कई निर्माताओं ने किया। बाद में 35 एम.एम. के कैमरे व लैंस भारत में भी उपलब्ध होने लगे।

1953 का वर्ष फिल्मिस्तान की नंदलाल-जसवंतलाल निर्देशित 'अनारकली' (बीना राय, प्रदीप कुमार), बिमल राय की 'दो बीघा जमीन' (बलराज साहनी, निरूपा राय) व 'परिणीता' (अशोक कुमार, मीना कुमारी), रमेश सहगल की 'शिकस्त' (दिलीप कुमार, नलिनी जयवंत), अमिय चक्रवर्ती की 'पतिता' (देव आनंद, उषा किरण), सोहराब मोदी की 'झांसी की रानी' (महताब, सोहराब मोदी), राजकपूर की 'आह', वी. शांताराम की 'सुरंग' (शशिकला, शीला रमानी) व 'तीन बत्ती चार रास्ता' (संध्या, निरूपा राय, शशिकला) जैसी फिल्मों के लिए उल्लेखनीय रहा। इसी वर्ष शम्मी कपूर ने 'ठोकर' से अपने फिल्मी करिअर की शुरुआत की। अभी तक कलकता में रहकर दूसरे निर्माताओं के लिए फिल्में निर्देशित कर रहे बिमल राय अपनी टीम, जिसमें हृषिकेश मुखर्जी, नबेंदु घोष आदि उनके सहायक शामिल थे, के साथ बंबई आ गए और बिमल राय प्रोडक्शन की स्थापना की तथा 'दो बीघा जमीन' जैसी प्रयोगधर्मी व बॉक्स ऑफिस पर सफल फिल्म बनाकर अंतरराष्ट्रीय ख्याति के फिल्मकार बन गए।

1954-56 का दौर सुपरहिट फिल्मों का रहा। 1954 में फिल्मिस्तान की 'नागिन' (वैजयंती माला, प्रदीप कुमार), राजकपूर की 'बूट पॉलिश', गुरुदत्त की प्रथम फिल्म 'आर-पार' (गुरुदत्त, मधुबाला), सोहराब मोदी की 'मिर्जा गालिब' (भारत भूषण, सुरैया), विमल राय की बिराज बहू तथा 1955 में गुरुदत्त की 'मिस्टर एंड मिसेज 55' (गुरुदत्त, मधुबाला), सुबोध मुखर्जी निर्देशित 'मुनीमजी' (देव आनंद, नलिनी जयवंत), वी. शांताराम की 'झनक-झनक पायल बाजे' (गोपीकृष्ण, संध्या), विमल राय की 'देवदास' (दिलीप कुमार, सुचित्रा सेन, वैजयंती माला), जैमिनी की 'इंसानियत' (दिलीप कुमार, बीना राय, देव आनंद), पक्षीराज फिल्म्स की 'आजाद' (दिलीप कुमार, मीना कुमारी), अमिय चक्रवर्ती की 'सीमा' (बलराज साहनी, राजेंद्र कुमार), एस. यू. सन्नी की 'उड़न खटोला' (दिलीप कुमार, निम्मी) जैसी हिट फिल्मों ने फिल्म उद्योग का कारोबार और फैलाने में पर्याप्त मदद की।

'बूट पॉलिश' में जहां राजकपूर ने हॉलीवुड के प्रख्यात फिल्मकार विक्टोरिया डि रिका की शैली अपनाई, वहीं फिल्मिस्तान की 'शर्त' अल्फ्रैड हिचकाक की 'स्ट्रेंजर्स ऑन द ट्रेन', एच.एस.

रवेल की 'मस्ताना', चार्ली चैपलिन की 'द किड', सत्येन बोस की 'परिचय' हॉलीवुड की जॉनी वोलिडा की नकल थी। आने वाले वर्षों में (1955 में) जहां जुबली कुमार के नाम से प्रसिद्ध राजेंद्र कुमार ने फिल्मों में पदार्पण किया, वहीं बंबई में सत्येन बोस, सुबोध मुखर्जी, मोहन सहगल, राजेंद्र सिंह बेदी ('गरम कोट'), तपन सिन्हा, आई.एस. जौहर ('नास्तिक') कलकत्ता में तथा मद्रास में एम.वी. रमन ('पहली झलक' : वैजयंती माला, किशोर कुमार) ने बतौर निर्देशक अपने करिअर की शुरुआत की ओर आगे चलकर अपनी सशक्त एवं सार्थक फिल्मों के जरिए हिंदी सिनेमा को नई पहचान देने में कामयाब हुए।

1956 में प्रदर्शित राजकपूर की 'जागते रहो' व कलकत्ता में सत्यजित राय की 'अपराजिता', बिमल राय की डॉक्यूमेंट्री 'गौतम द बुद्धा' ने जहां अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार व ख्याति अर्जित की वहीं 'बरसात' से 'चोरी-चोरी' तक फिल्म जगत् की सर्वाधिक लोकप्रिय रोमांटिक जोड़ी (राजकपूर व नरगिस) अलग हो गई। 'जागते रहो' में नरगिस फिल्म के सिर्फ अंतिम एक दृश्य में आईं। वर्षों से सुपरहिट फिल्में बनाने और भारतीय सिनेमा को हर क्षेत्र में नई प्रतिभाओं को जन्म देने वाले न्यू थिएटर्स का इस वर्ष उदय हुआ तो हैदराबाद में आने वाले दिनों के सर्वाधिक पूजनीय महानायक एन. टी. रामाराव (नया आदमी) का उदय हुआ।

1957 से 1960 की सर्वाधिक भव्य उपलब्धि थी- महबूब खान की 'मदर इंडिया' (1957) व के. आसिफ की 'मुगल-ए-आजम' (1960), जिसने भारतीय सिनेमा में एक अलग क्रांति-सी ला दी थी। आज भी 'मदर इंडिया' व 'मुगल-ए-आजम' अमर फिल्में मानी व सर्वाधिक देखी जाती हैं। इनके अलावा 1957 में राजकपूर की 'अब दिल्ली दूर नहीं', ए.वी.एम. की 'भाभी' (बलराज साहनी, श्यामा, नंदा), वी. शांताराम की 'दो आंखें बारह हाथ' (वी. शांताराम, संध्या), अमिय चक्रवर्ती की 'कठपुतली' (बलराज साहनी, वैजयंती माला), बी. आर. चोपड़ा की 'नया दौर' (दिलीप कुमार, वैजयंती माला), सुबोध मुखर्जी की 'पेइंग गेस्ट' (देव आनंद, नूतन), गुरुदत्त की 'प्यासा' (गुरुदत्त, वहीदा रहमान, माला सिन्हा), एल. वी. प्रसाद की 'शारदा' (राजकपूर, मीना कुमारी), नासिर हुसैन की 'तुम-सा नहीं देखा', 1958 में सत्येन बोस की 'चलती का नाम गाड़ी' (अशोक कुमार, मधुबाला, किशोर कुमार), देव आनंद की 'काला पानी' (देव आनंद मधुबाला, नलिनी जयवंत, किशोर साहू), बिमल राय की 'मधुमती' (दिलीप कुमार, वैजयंती माला) व 'यहूदी' (सोहराब मोदी, दिलीप कुमार, मीना कुमारी), 1959 में हृषिकेश मुखर्जी की 'अनाड़ी' (राजकपूर, नूतन), बी. आर. चोपड़ा की यश चोपड़ा निर्देशित 'धूल का फूल' (अशोक कुमार, राजेंद्र कुमार, माला सिंहा, नंदा), विजय भट्ट की 'गूंज उठी शहनाई' (राजेंद्र कुमार, अमीता, अनीता), गुरुदत्त की 'कागज के फूल' (गुरुदत्त, वहीदा रहमान), जैमिनी की 'पैगाम' (दिलीप कुमार, वैजयंती माला, राजकपूर), तथा 1960 में 'मुगल-ए-आजम' (पृथ्वीराज कपूर, दिलीप कुमार, मधुबाला, अजीत, निगार सुलताना) के अलावा बी. आर. चोपड़ा की बिना गाने वाली 'कानून' (अशोक कुमार, राजेंद्र कुमार, नंदा), राजकपूर की 'जिस देश में गंगा बहती है' (राजकपूर, पद्मिनी, प्राण), गुरुदत्त की 'चौदहवीं का चांद' (गुरुदत्त, वहीदा रहमान), कमाल अमरोही की किशोर साहू निर्देशित 'दिल अपना और प्रीत पराई' (मीना कुमार, राजकुमार, नादिरा), जैमिनी की रामानंद सागर निर्देशित 'घूंघट' (बीना राय, आशा पारेख, प्रदीप कुमार, भारत भूषण), देव आनंद की विजय आनंद निर्देशित 'काला बाजार' (देव आनंद, वहीदा रहमान, नंदा), एस.यू. सन्नी कृत 'कोहिनूर' (दिलीप कुमार, मीना कुमारी), फिल्मालय की आर. के. नैयर

निर्देशित 'लव इन शिमला' (जॉय मुखर्जी, साधना) आदि सुपरहिट फिल्में थीं।

विजय आनंद (काला बाजार), यश चोपड़ा (धूल का फूल), प्रख्यात लेखिका इस्मत चुगताई के पति शाहिद लतीफ (सोने की चिड़िया), मनमोहन देसाई ('छलिया') तथा आर.के. नैयर ('लव इन शिमला') ने अपनी पहली ही फिल्म से निर्देशन की दुनिया में अपनी जगह बना ली। वहीं 'दिल भी तेरा हम भी तेरे' से धर्मेंद्र, 'लव इन शिमला' से जॉय मुखर्जी व साधना ने अपने अभिनय जीवन की शुरुआत की और आने वाले वर्षों में लंबे समय तक स्टार बने रहे।

दरअसल 1961-1970 का दशक हर तरह से संधिकाल था जिसमें 1931-1940, 1941-1950 व 1951-1960 के कलाकारों, संगीतकारों, निर्देशकों का वर्चस्व बना रहा, खासकर 1941-1950 व 1951-1960 के दशकों में आए सितारों का। दिलीप कुमार, राजकपूर, देव आनंद, नरगिस, सुरैया, मीना कुमारी, गीताबाली, नूतन, माला सिंहा, वहीदा रहमान, बीना राय, नंदा, वैजयंती माला, राजेंद्र कुमार, राजकुमार, शम्मी कूपर, धर्मेंद्र, सुनील दत्त, मनोज कुमार, शशि कपूर, भारत भूषण, प्रदीप कुमार आदि कलाकारों का। इस दशक में दिलीप कुमार, राज कपूर व देव आनंद ने फिल्मों की संख्या काफी कम कर दी और सिर्फ गिनी-चुनी फिल्मों में ही काम किया। इन सभी ने इस दशक में कई महत्वपूर्ण फिल्में दीं जिनमें से कुछ अमर यादगार साबित हुई।

1961-1970 के दशक की सबसे महत्वपूर्ण देन थे- सायरा बानो (1961, 'जंगली'), विश्वजीत (1962, 'बीस साल बाद'), संजीव कुमार (1965, 'निशान'), राजेश खन्ना व बबीता (1966, 'राज'), हेमामालिनी (1968, 'सपनों का सौदागर'), अमिताभ बच्चन (1969, 'सात हिंदुस्तानी'), राखी (1970, 'जीवन-मृत्यु'), रेखा ('सावन-भादो'), रेहाना सुल्तान, शत्रुघ्न सिन्हा व अनिल धवन (चेतना)। इसी दशक में 'संगम', 'आराधना', 'मेरा नाम जोकर', 'सत्यकाम', 'खिलौना', 'जॉनी मेरा नाम', 'उपकार', 'मेरे महबूब', 'अनुप्रभा', 'ताजमहल', 'साहब बीवी और गुलाम', 'मुझे जीने दो', 'तीसरी कसम', 'गाइड', 'लीडर', 'राम और श्याम', 'आदमी', 'काजल', 'सरस्वतीचंद्र', 'गुमराह', 'जंगली', 'पूरब और पश्चिम', 'बीस साल बाद' तथा 'राखी' जैसी संवेदनशील और सुपरहिट फिल्में प्रदर्शित हुईं। इनमें से कुछ ने अंतरराष्ट्रीय ख्याति भी अर्जित की।

1971-1980 का दशक फिल्म जगत् के कमर्शियलाइजेशन स्टार सिस्टम व स्टार केटेगरी ब्रेक-अप (नंबर वन स्टेटस) का बुरी तरह शिकार हो गया। इस दशक में पिछले दशकों के मुकाबले हालांकि सबसे ज्यादा फिल्में बनीं, लेकिन सबसे कम बॉक्स ऑफिस पर सफलता हासिल कर सकीं। स्टार सिस्टम की शुरुआत पिछले दशक में उस समय शुरू हो चुकी थी जब फिल्म जगत् का एक पक्ष जुबली कुमार (राजेंद्र कुमार) को नंबर वन मानने लगा था तो दूसरा पक्ष रिबेल स्टार (शम्मी कपूर) को। इसी तरह अभिनेत्रियों में नंबर वन की लड़ाई वैजयंती माला व वहीदा रहमान के बीच अटक गई थी, लेकिन इसका कुरूप रूप 1971-1980 के दशक में आया जब राजेश खन्ना को सुपरस्टार, फिर एंग्री यंगमैन अमिताभ बच्चन को सुपर-डुपर और इस समय शाहरुख खान को किंग खान के नाम से नवाजा जाने लगा।

1971-1980 के इस दशक में दर्शकों को रिझाने के लिए जहां एक तरफ अंग-प्रदर्शन और बोल्ड थीम वाली कम बजट की फिल्मों ('जरूरत', 'दोराहा', 'कामशास्त्र', 'गुप्तज्ञान', 'कामना', 'कॉल गर्ल', 'यौवन', 'समझौता', 'बस्ती और बाजार', 'कोरा आंचल', 'कुंवारा बदन', 'जलते बदन', 'चरित्र', 'नया नशा', 'अंग से अंग लगा ले', 'प्यासे दिन', 'कोरा बदन', 'बाजार बंद करो',

'आलिंगन', 'हवस' आदि) की जैसे आंधी-सी आ गई, वहीं सामाजिक, रोमानी एवं मानवीय संवेदना को उकेरने वाली फिल्मों की जगह ले ली हिंसा और मारधाड़-प्रधान एक्शन फिल्मों ने। फिल्म जगत में आए इस व्यापक एवं क्रांतिकारी बदलाव ने फिल्मों से जैसे उसका कलात्मक एवं मानवीय पहलू छीन लिया। इस बदलाव से जहां एंग्री यंगमैन अमिताभ बच्चन का वर्चस्व-सा छा गया, वहीं रेहाना सुल्तान, राधा सलूजा, जीनत अमान, परवीन बाबी, योगिता बाली, जाहिरा तथा अंग प्रदर्शन के लिए पूरी तरह से तैयार नई अभिनेत्रियों की पूरी खेप फिल्म जगत में आ बिराजी, लेकिन इनमें सिर्फ जीनत अमान व परवीन बाबी ही प्रसिद्धि पा सकीं।

सेक्स एवं ग्लैमर की इस आंधी से राजकपूर व मनोज कुमार जैसे सार्थक फिल्म बनाने वाले निर्माता भी नहीं बच सके। राजकपूर ने 'सत्यम् शिवम् सुंदरम्' व 'राम तेरी गंगा मैली' में तथा मनोज कुमार ने अपनी लगभग सभी फिल्मों में ग्लैमर, सेक्स व अंग प्रदर्शन को बखूबी भुनाया, लेकिन उन्होंने बहुत ही कलात्मक ढंग से ऐसे दृश्यों को फिल्माया और उन पर कुरुचिपूर्ण जिस्म प्रदर्शन को हावी नहीं होने दिया। दूसरी तरफ हृषिकेश मुखर्जी, गुलजार, श्याम बेनेगल तथा प्रकाश झा जैसे फिल्मकारों की एक अलग जमात थी जो सेक्स एवं एक्शन फिल्मों की आंधी के बीच भी सोद्देश्यपूर्ण फिल्में बनाने में जुटे हुए थे।

1981-1990 व 1991-2000 का दशक भी सेक्स व एक्शन-प्रधान फिल्मों के चक्रव्यूह से नहीं निकल पाया। यह सब डूबते फिल्म उद्योग व ग्लैमर व्यवसाय को बचाने के नाम पर किया गया। 2001 का यह दशक इस मामले में जरूरत से ज्यादा बोल्ड निकला सेक्स व अंग-प्रदर्शन के इस फॉमूले को और भी विकृत अंदाज में अपनाया और एक जमाने के सशक्त एवं सार्थक फिल्म-निर्माण के झंडाबरदार महेश भट्ट व उनकी अभिनेत्री बेटी पूजा भट्ट ने- 'जिस्म', 'पाप', 'मर्डर' आदि फिल्में बनाकर। इन फिल्मों की बॉक्स ऑफिस पर रिकार्डतोड़ सफलता ने फिल्म-निर्माण की दिशा में एक नया हंगामा पैदा कर दिया और बहुत सारे फिल्म-निर्माता एवं निर्देशक अपनी फिल्मों में नायिकाओं एवं अन्य अभिनेत्रियों के शरीर के अधिक से अधिक कपड़े उतारने में जुट गए। फिल्म जगत में शोहरत एवं धन कमाने के लालच में नई अभिनेत्रियों ने हर तरह के समझौते करने शुरू कर दिए। व्यवसाय के नाम पर कला का इससे अधिक पतन दूसरी कला विधाओं में नहीं हुआ। हॉलीवुड की फिल्मों में नग्नता और हिंसा के अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाने, बॉलीवुड में फिल्मों के ग्लोबलाइजेशन एवं अंतरराष्ट्रीय फिल्म व्यावसायिक प्रतिद्वंद्विता में, हॉलीवुड के मुकाबले खड़े होने की फिल्म-निर्माताओं की असीम आकांक्षा, लालसा और ललक ने भी फिल्म के कलापक्ष का ताबूत खड़ा करने का प्रयास किया, लेकिन बॉलीवुड के निर्माता यह तथ्य भूल गए कि तीन दशक पहले इसी सेक्स और हिंसा की बैसाखी पर खड़ी जापानी, फ्रेंच, स्वीडन एवं ब्राजील की फिल्मों ने भले ही विश्व बाजार में खड़े होने के पायदान ढूंढ लिए थे, लेकिन अंततः उनकी यही लालसा उनकी शवयात्रा का कारण भी बन गई और अंत में सशक्त एवं संवेदनशील फिल्मों की ओर लौटकर उन्हें अपनी अस्मिता बचानी पड़ी थी। अन्यथा उस दौर में उन्मुक्त सेक्स व नग्नता का जितना खुला प्रदर्शन जापान, फ्रांस, स्वीडन, बाजील व पोलैंड की फिल्मों में हुआ था, उतना अन्यत्र कहीं नहीं -हॉलीवुड तक में नहीं हुआ।

अशोक कुमार एकमात्र अभिनेता थे जिन्होंने पूरे सात दशक फिल्म जगत में बिताए और इस दौर के गौरवशाली इतिहास व उत्थान-पतन के चश्मदीद गवाह रहे। दिलीप कुमार, राजकपूर एवं देव आनंद इस कड़ी के दूसरी पीढ़ी के सशक्त एवं संवेदनशील अभिनेता रहे जिन्होंने अपनी

मौलिक एवं सर्वग्राह्य अभिनय-शैली द्वारा अलग-अलग अभिनय स्कूल कायम किए जिसकी नकल अनेक अभिनेताओं ने की। एक समय तो यह भी कहा जाने लगा था कि आज का समूचा फिल्म जगत सिर्फ दिलीप कुमार, राजकपूर, देव आनंद एवं शम्मी कपूर के अभिनय स्कूल पर ही टिका हुआ है। उसकी खुद की कोई भी मौलिकता नहीं है अपने अभिनय में।

तीसरी पीढ़ी के अभिनेता अमिताभ बच्चन ने 'दीवार' व 'शोले' से फिल्म निर्माण की शैली व दिशा एकदम से बदल देने तथा आर्थिक पतन के कगार पर खड़े फिल्म उद्योग में अपनी एक्शन फिल्मों के जरिए नए प्राण फूंकने व उसे नवस्फूर्ति प्रदान करने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने एक तरफ एक्शन फिल्मों में सशक्त अभिनय किया तो दूसरी तरफ 'आनंद', 'मिली', 'कभी-कभी', 'अभिमान', 'सिलसिला' और ढलती उम्र में 'अग्निपथ', 'मोहब्बतें', 'कभी खुशी कभी गम', 'आंखें', 'मेजरसाब', 'बागबान', 'देव', 'ब्लैक', 'चीनी कम' और 'सरकार' जैसी सशक्त एवं संवेदनशील फिल्मों में प्रभावशाली अभिनय किया।

'गुड्डी' से लेकर 'कल हो न हो' तक जया बच्चन ने सशक्त अभिनय का वह इतिहास रचा जो इससे पहले व बाद में किसी अन्य अभिनेत्री को नसीब नहीं हुआ। उनकी खुद की अपनी अभिनय-शैली, मौलिकता तथा प्रस्तुतिकरण का अंदाज एक अलग अभिनय स्कूल बन गया। वहीदा रहमान 'सी.आई.डी.' (देव आनंद) से लेकर 2003 में बनी 'ओम जय जगदीश' तक विभिन्न प्रकार की फिल्मों में हर तरह की सशक्त एवं संवेदनशील भूमिकाएं निभाने वाली अभिनेत्री रहीं।

1960 के दशक के आखिरी और 1970 के दशक के शुरुआत का दौर राजेश खन्ना और धर्मेंद्र जैसे अभिनेताओं और शर्मिला टैगोर, मुमताज, लीना चंदवारकर और हेलन जैसी अभिनेत्रियों द्वारा अभिनीत रोमांटिक और एक्शन फिल्मों का दौर था। 1970 के दशक के मध्य में रोमांटिक फिल्मों का चलन कम हो गया और उसकी जगह हिंसा प्रधान फिल्मों और डकैतों पर आधारित फिल्मों ने ले लिया। इस दौर में अभिनेताओं में एंग्री यंग मैन के रूप में विख्यात अमिताभ बच्चन, मिथुन चक्रवर्ती और अनिल कपूर तथा अभिनेत्रियों में हेमामालिनी, जया बच्चन और रेखा का वर्चस्व रहा और इनका वर्चस्व 1990 के शुरुआत तक कायम रहा।

हालांकि श्याम बेनेगल, मणि कौल, कुमार शाहनी, केतन मेहता, गोविंद निहलानी और विजय मेहता जैसे कुछ हिंदी फिल्म निर्माताओं ने 1970 के पूरे दशक के दौरान वास्तविक समानांतर फिल्मों का निर्माण भी जारी रखा। हालांकि आर्ट फिल्मों को संसाधनों की कमी का सामना करना पड़ा इसलिए व्यावसायिक फिल्मों का चलन जारी रहा और 'शोले' (1975) जैसी फिल्मों का निर्माण हुआ जिसने अमिताभ बच्चन को मुख्य अभिनेता के रूप में स्थापित कर दिया। 1975 में ही धार्मिक फिल्म 'जय संतोषी मां' का भी निर्माण हुआ। 1975 की ही एक अन्य महत्वपूर्ण फिल्में थीं यश चोपड़ा निर्देशित और सलीम-जावेद लिखित फिल्म 'दीवार'। एक गैंग लीडर भाई के खिलाफ एक पुलिसमैन भाई पर आधारित यह आपराधिक फिल्म कुख्यात स्मगलर हाजी मस्तान की वास्तविक जिंदगी पर आधारित थी। हाजी मस्तान की भूमिका अमिताभ बच्चन ने निभाई थी। डैनी बोयल ने इस फिल्म की व्याख्या 'भारतीय सिनेमा की कुंज' के रूप में की थी।

1980 के दशक की अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त फिल्म मीरा नायर की 'सलाम बाम्बे' (1988) थी, जिसने 1988 केन्स फिल्म फेस्टिवल में कैमरा डीयोर जीता और बेस्ट फॉरेन लैंग्वेज

फिल्म के लिए अकेडमी अवार्ड के लिए नामांकित हुई।

1980 के दशक के आखिरी और 1990 के दशक की शुरुआत के दौरान 'कयामत से कयामत तक' (1988), 'मैंने प्यार किया' (1989), 'हम आपके हैं कौन' (1994) और 'दिलवाले दुलहनिया ले जाएंगे' (1995) जैसी पारिवारिक फिल्मों की सफलता से प्रेरित होकर परिवार पर आधारित रोमांटिक संगीतमय फिल्मों का दौर वापस लौट आया। इस दौरान आमिर खान, सलमान खान और शाहरुख जैसे अभिनेताओं का उदय हुआ। इन तीनों अभिनेताओं ने मिलकर उसी तरह की त्रिमूर्ति बनाई जैसी 50 और 60 के दशक में राजकपूर, देव आनंद और दिलीप कुमार की थी लंबे समय तक भारतीय दर्शकों के दिलों तक राज किया। उसी तरह 1990 से लेकर 2000 तक आमिर, सलमान और शाहरुख की त्रिमूर्ति का वर्चस्व कायम रहा। इस दौरान की अभिनेत्रियों में श्रीदेवी, माधुरी दीक्षित, जूही चावला और काजोल का उदय हुआ। इसी दौरान गोविंदा और अक्षय कुमार जैसे अभिनेताओं और रवीना टंडन एवं करिश्मा कपूर जैसी अभिनेत्रियों को लेकर एक्शन एवं कामेडी प्रधान फिल्में बनाई गई जो खूब चलीं दूसरी तरफ राम गोपाल वर्मा और अनुराग कश्यप जैसे निर्माता-निर्देशकों की नई पौध आई जिसने 'सत्या' जैसी फिल्मों के जरिए महानगरों की सामाजिक सच्चाई को खोलकर रखा। एक तरह से 1990 के दशक के अंत में समानांतर सिनेमा का एक बार फिर उदय होता प्रतीत हुआ। इस दौरान नाना पाटेकर और मनोज वाजपेयी जैसे कलाकार सामने आए तो मनीषा कोइराला, तब्बू और उर्मिला मातोंडकर जैसी अभिनेत्रियों का अविर्भाव हुआ।

नयी सदी के शुरुआती वर्षों में विश्व जगत में भारतीय सिनेमा की लोकप्रियता बढ़ी। इन वर्षों में सिनेमा निर्माण पर होने वाले खर्च और उससे होने वाली आमदनी में कई गुना इजाफा हो गया। टेलीविजन, इंटरनेट और मोबाइल फोनों जैसे संचार माध्यमों के अंधाधुंध विकास की बदौलत आमदनी बढ़ाने के कई रास्ते खुल गए। इस दौरान फिल्म निर्माण की गुणवत्ता, सिनेमेटोग्राफी, एनिमेशन और स्पेशल इफेक्ट्स आदि में काफी सुधार आया। इस दौरान भारतीय फिल्मों के बाजार में भारी विस्तार हुआ और विदेशों में भारतीय सिनेमा की मांग बढ़ी और विदेशी दर्शकों को ध्यान में रखकर भी फिल्में बनाई जाने लगी। इस दौरान रिलीज होने वाली 'लगान' (2001) 'देवदास' (2002), 'कोई मिल गया' (2003), 'कल हो ना हो' (2003), 'वीर जारा' (2004), 'रंग दे बसंती' (2006), 'लगे रहो मुन्नाभाई' (2006), 'कृष' (2006), 'धूम-2' (2006), 'चक दे इंडिया' (2007), 'ओम शांति ओम' (2007), 'रब ने बना दी जोड़ी' (2008) और 'गजनी' (2009) जैसी फिल्मों ने न केवल भारत में बल्कि विदेशों में खब कमाई की। इन फिल्मों से सलमान खान, शाहरुख खान, आमिर खान, ऋत्विक रोशन और अभिषेक बच्चन जैसे अभिनेताओं जबकि ऐश्वर्य राय, प्रीति जिंटा, रानी मुखर्जी, प्रियंका चोपड़ा और करीना कपूर जैसी अभिनेत्रियों का उदय हुआ।

हॉलीवुड की तरह ही भारतीय सिनेमा में शुरू से ही ऐसे प्रतिभाशाली एवं समर्पित फिल्मकार होते रहे हैं और होते रहेंगे जो सिनेमा को ऊंचाइयां देते रहे। भारतीय सिनेमा समय और दर्शकों की बदलती अभिरुचियों व मांग के तहत् खुद में परिवर्तन करता रहा है और यही कारण है कि आज जब जापान, पोलैंड, रूस, फ्रांस, स्वीडन, चेकोस्लोवाकिया आदि तमाम देशों में सिनेमा मरणासन्न अवस्था में भारत का सिनेमा दिन दूनी रात चौगुनी गति से तरक्की कर रहा है। 1980 के दशक में अंतरराष्ट्रीय ख्यातिलब्ध जापानी फिल्म निर्देशक अकीरा कुरुसोवा

ने कहा था कि भारतीय सिनेमा, खासकर हिंदी सिनेमा कभी मर नहीं सकता। आज कुरुसोवा का यह वक्तव्य सौ फीसदी सही साबित हो रहा है।

हालांकि आज सिनेमा में कथ्य एवं संदेश से ज्यादा महत्वपूर्ण व्यवसाय हो गया है। 21वीं सदी में मल्टीप्लेक्स के आने की वजह से सिनेमा बनाने और देखने दोनों में व्यापक फर्क आ गया है। शहरों में मल्टीप्लेक्स ने दर्शकों को सुविधा और सुरक्षा दोनों प्रदान की है। नतीजतन घरों में बैठे दर्शक थिएटरों में आए इससे फिल्मों की आमदनी बढ़ी और निवेश भी। इनके साथ ही कुछ कारपोरेट घरानों ने फिल्म प्रोडक्शन में कदम रखा जिसके कारण फिल्म निर्माण का कारपोरेटाइजेशन हो गया। आज निर्माता, निर्देशक और वितरक का पूरा ध्यान कमाई पर रहने लगा है। आज फिल्में 100 करोड रुपये का व्यवसाय करने लगी हैं और आज फिल्मों के हिट या सफल होने के मायने बदल गए हैं। आज इस बात का मायने खत्म हो गया है कि दर्शकों को फिल्में कितनी पसंद आईं, महत्वपूर्ण यह हो गया है कि किस फिल्म ने कितने करोड़ की कमाई की। यह माना जाने लगा है कि फिल्म से जितनी कमाई होगी, वह फिल्म उतनी अच्छी होगी। यह कारण है कि कुछ सप्ताह पहले 100 करोड़ या उससे अधिक कमाई करने वाली फिल्मों को कोई याद नहीं रखता लेकिन लेकिन कुछ हजार या लाख रुपये की कमाई करने वाली फिल्में आज भी सिनेमा को दिशा दे रही है और उनकी नकल करके फिल्में बनाई जा रही है। बहरहाल, भविष्य में फिल्मों का रूप निश्चित ही बदलेगा और यह क्या रूप लेगा यह देखना एक अच्छी फिल्म की तरह दिलचस्प होगा।

(लेखक यूनीवार्ता में कार्यरत युवा पत्रकार हैं)

भारतीय सिनेमा में पहली बार

हिमांशु बाजपेयी

1. सात जुलाई 1896 को लुमिअर ब्रदर्स ने मुंबई के वाट्सन होटल में 6 फिल्मों का पैकेज 'मैजिक लैंप' फिल्म दिखाई जो कि भारत में प्रदर्शित की गई पहली फिल्म थी। अगले ही साल इस फिल्म के पैकेज को कलकत्ता में भी दिखाया गया।
2. देश में पहली बार किसी घटना की फिल्म 1897 में भाटवडेकर ने उतारी। उन्होंने मुंबई के हैंगिंग गार्डन में हुई एक कुश्ती का फिल्मांकन किया था।
3. भारत में सबसे पहला चलचित्र कैमरा 1898 में कोलकाता के हीरालाल सेन ने खरीदा था। इससे वे राजा महाराजाओं की दिनचर्या और राज-प्रासादों का फिल्मांकन करके आम जनता को दिखाते थे।
4. 1901 में केंब्रिज विश्वविद्यालय से गणित की परीक्षा में सर्वाधिक अंक पाने वाले भारतीय छात्र आर पी परांजपे के भारत वापसी की घटना पर सावे दादा ने देश की पहली डाक्यूमेंट्री फिल्म बनाई।
5. 1902 में कलकत्ता के क्लॉसिकल थिएटर में के शशि ने ग्रामोफोन डिस्क पर पहला गीत रिकार्ड करवाया।
6. 1907 में एफ. मदान ने कलकत्ता में देश का पहला सिनेमा हॉल एल्फिन्सस पिक्चर पैलेस बनवाया।
7. 1912 में भारत की पहली थिएट्रिकल फिल्म 'पुंडलिक' प्रदर्शित हुई जो कि आर.जी. तोरणे ने बनाई थी।
8. 3 मई 1913 को देश की कहानी आधारित पहली फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' मुंबई के कोरोनेशन थिएटर में प्रदर्शित हुई जिसे दादा साहब फाल्के ने बनाया था।
9. देश की पहली फिल्म समीक्षा 5 मई 1913 को बाम्बे क्रानिकल अखबार में छपी। ये फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' की समीक्षा थी।
10. विदेश में प्रदर्शित हुई पहली भारतीय फिल्म भी 'राजा हरिश्चंद्र' थी जो कि 1914 में लंदन में दिखाई गई।
11. 1918 में कोहिनूर फिल्म कम्पनी की शुरुआत करने वाले द्वारिका दास संपत ने मूक फिल्मों में पार्श्व संगीत की शुरुआत की जिसमें पर्दे के करीब ही साजिंदे संगीत बजाते थे।
12. 1920 में बाबूराव पेंटर ने अपनी फिल्म वत्सला हरण के लिए पहली बार पोस्टर जारी किया।
13. दिसंबर 1913 में दादा साहब फाल्के की दूसरी फिल्म 'मोहिनी भस्मासुर' में पहली बार दो

स्त्री कलाकारों ने काम करना स्वीकार किया। ये थी मां-बेटी दुर्गाबाई और कमलाबाई। इससे पहले तक पुरुष ही स्त्री पात्र बनते थे।

14. किसी भारतीय फिल्म में काम करने वाली पहली विदेशी कलाकार अमेरिकी अभिनेत्री डोरोथी किंगडम थी जिन्होंने 1920 में निर्देशक सुचेत सिंह की फिल्म 'शकुंतला' में काम किया।
15. समकालीन सामाजिक कहानी पर बनी देश की पहली फिल्म 1921 में बनी धीरेन गांगुली की 'बिलात फेरत' थी।
16. 1924 में बनी 'काला नाग' देश की पहली थ्रिलर फिल्म थी।
17. 1925 में आई फिल्म 'लाइट आफ एशिया' जो कि भारत और जर्मनी के साझा प्रयास से बनी थी से पहली बार भारतीय फिल्मोद्योग को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर पहचान मिली।
18. 1921 में प्रदर्शित फिल्म 'विदेशी वस्त्रों की होली' में पहली बार महात्मा गांधी किसी फिल्म में दिखाई दिए।
19. कोहिनूर फिल्म कंपनी की 1923 में आई फिल्म 'भक्त विदुर' देश में सरकार द्वारा प्रतिबंधित की जाने वाली पहली फिल्म थी। इसके कुछ दृश्य अंग्रेजों को नागवार गुजरे थे।
20. देश की पहली महिला निर्माता निर्देशक और लेखक फातमा बेगम थीं जिन्होंने 1925 की फिल्म 'बुलबुल-ए-परिस्तान' से इस नए चलन की शुरुआत की।
21. 1926 में निर्मित पेंढारकर बंधुओं की फिल्म 'वंदे मातरम आश्रम' पहली फिल्म थी जिस पर प्रदर्शित होने से पहले ही रोक लगा दी गई।
22. सिल्वर जुबली मनाने वाली देश की पहली फिल्म 1929 में आई 'कपाल कुंडला' थी।
23. देश की पहली सवाक् फिल्म आर्देशिर ईरानी की 'आलम आरा' थी जो कि 1931 में मुंबई के मेजेस्टिक सिनेमा में दिखाई गई। पहली बार किसी फिल्म में 7 गाने भी थे। इसी फिल्म से फिल्मों को उसके पहले पार्श्व गायक वजीर मोहम्मद खान मिले।
24. 1933 में आई 'सैरंध्री' देश की पहली रंगीन फिल्म थी लेकिन इसका प्रिंट साफ न होने की वजह से ये रिकार्ड 'किसान कन्या' के नाम गया।
25. 'किसान कन्या' फिल्म की नायिका पद्मा को कलर फिल्म में काम करने वाली पहली नायिका होने के कारण कलर क्वीन का खिताब मिला था।
26. 1933 में बनी फिल्म 'कर्मा' देश की पहली अंग्रेजी सवाक् फिल्म थी। विदेश में शूट होने वाली पहली भारतीय फिल्म भी यही थी। देश की पहली द्विभाषी फिल्म भी 'कर्मा' ही थी।
27. हिन्दी फिल्मों में चुंबन दृश्य की शुरुआत भी सबसे पहले 'कर्मा' से ही हुई।
28. 1935 में पहली बार शरतचंद के उपन्यास 'देवदास' पर इसी नाम से फिल्म बनी इसके बाद इन फिल्मों का सिलसिला चल पड़ा।
29. 1934 में आई फिल्म 'हंटरवाली' से देश में स्टंट फिल्मों की शुरुआत हुई।
30. फिल्म 'हंटरवाली' की नायिका अभिनेत्री नादिया देश की पहली स्टंट क्वीन थी।
31. बोलती फिल्मों में 1937 में आई 'नौजवान' पहली फिल्म थी जिसमें एक भी गाना नहीं था।
32. 1935 में आई फिल्म 'जवानी की हवा' से बालीवुड को इसकी पहली महिला संगीतकार मिली। नाम था सरस्वती देवी। ये असल में लखनऊ की एक पारसी महिला थीं।

33. 1939 में आई सोहराब मोदी की 'पुकार' देश की पहली ऐतिहासिक कथानक वाली फिल्म थी।
34. 1937 में इंडियन मोशन पिक्चर प्रोड्यूसर्स एसोसिएशन का गठन हुआ जो कि फिल्म व्यावसाइयों का देश में सबसे पहला संगठन था।
35. दुर्गा खोटे देश की पहली स्नातक शिक्षित नायिका थीं, जिन्होंने बोलती फिल्मों में काम किया। ये शादीशुदा होने के बाद फिल्मों में आईं।
36. 1941 में आई फिल्म 'किस्मत' ने कोलकाता के राक्सी टॉकीज में लगातार 3 साल 8 महीने चलकर रिकार्ड बनाया। ये पहली फिल्म थी जो एक ही थिएटर में इतने लंबे समय तक चली थी। 'किस्मत' का रिकार्ड बाद में 'शोले' और 'शोले' का रिकार्ड 'दिलवाले दुल्हनिया ले जाएंगे' ने तोड़ा।
37. 1944 में आई फिल्म 'चांद' से हिंदी सिनेमा को उसकी पहली संगीतकार जोड़ी हुस्नलाल भगतराम मिली।
38. 1946 में आई फिल्म 'धरती के लाल' इप्टा द्वारा निर्मित पहली फिल्म थी। ये फिल्म संयुक्त रूसी सामराज्य में वितरित होने वाली पहली भारतीय फिल्म भी थी।
39. 1946 में आई चेतन आनंद की फिल्म 'नीचा नगर' कान फिल्म समारोह में सर्वश्रेष्ठ फिल्म का खिताब जीतने वाली पहली फिल्म थी।
40. 1951 में आई सोहराब मोदी की फिल्म 'झांसी की रानी' भारत की पहली टेक्नीकलर फिल्म थी।
41. 1954 में फिल्मफेयर पुरस्कारों की शुरुआत हुई।
42. सर्वश्रेष्ठ अभिनेता का सबसे पहला फिल्मफेयर अवार्ड दिलीप कुमार ने फिल्म 'दाग' के लिए जीता।
43. सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री का सबसे पहला फिल्मफेयर अवार्ड मीना कुमारी ने फिल्म 'बैजूबावरा' के लिए जीता।
44. सर्वश्रेष्ठ फिल्म का सबसे पहला फिल्मफेयर अवार्ड 'दो बीघा जमीन' को मिला।
45. 1956 में बिमल राय फिल्मफेयर पुरस्कारों की हैट्रिक पूरी करने वाले पहले निर्देशक बने थे। जिन्होंने 1953 ('दो बीघा जमीन'), 1954 ('परिनीता') और 1955 ('बिराज बहू') का अवार्ड जीता था।
46. सर्वश्रेष्ठ निर्देशक का पहला फिल्मफेयर बिमल रॉय को मिला।
47. सर्वश्रेष्ठ संगीत का सबसे पहला फिल्मफेयर फिल्म 'बैजू-बावरा' के लिए नौशाद को मिला।
48. सर्वश्रेष्ठ गीतकार का सबसे पहला फिल्मफेयर शैलेंद्र को 1959 में फिल्म 'यहूदी' के लिए मिला।
49. सर्वश्रेष्ठ गायक का सबसे पहला अवार्ड 1959 में लता मंगेशकर को 'मधुमती' के लिए मिला।
50. 1951 में आई राजकपूर की फिल्म 'आवारा' वैश्विक स्तर पर कामयाब होने वाली भारत की सबसे पहली फिल्म थी।
51. 1954 से फिल्मों के लिए राष्ट्रीय पुरस्कारों की शुरुआत हुई।

52. 1954 में आई फिल्म 'जागृति' विद्यार्थी जीवन पर बनी देश की सबसे पहली फिल्म थी
53. मुंबई के मेट्रो थिएटर में आयोजित पहले फिल्मफेयर समारोह में ग्रेगरी पैक पहले गेस्ट आफ आनर थे।
54. 1952 में फिल्म 'बैजू बावरा' पहली फिल्म थी जिसमें शास्त्रीय संगीत के दो सबसे बड़े नामों उस्ताद अमीर खां और डीवी पलुस्कर ने जुगलबंदी की थी।
55. बैजयंती माला फिल्मफेयर अवार्ड ठुकराने वाली पहली अभिनेत्री थी। उन्हें 1955 की 'देवदास' के लिए सहायक अभिनेत्री का फिल्मफेयर मिला था जबकि उनके मुताबिक वे मुख्य अभिनेत्री थीं।
56. साहिर लुधियानवी पहले गीतकार थे जिन्होंने प्रति गीत के हिसाब से मेहनताना लेने के बजाए प्रति फिल्म का एकमुश्त मेहनताना लेने का चलन शुरू किया।
57. रतन फिल्म के बाद संगीतकार नौशाद अली 25 हजार रुपये मेहनताना लेने वाले देश के पहले संगीतकार बन गए।
58. 1951 की फिल्म 'आन' के लिए देश ही नहीं बल्कि दुनिया में पहली बार 100 वाद्य यंत्रों वाले आर्केस्ट्रा का प्रयोग हुआ था।
59. फिल्मों में बैक ग्राउंड स्कोर और साउंड मिक्सिंग की शुरुआत नौशाद ने की। अपनी फिल्म 'आन' के बैकग्राउंड स्कोर के लिए वे लंदन गए। ये सबसे पहली घटना थी जब बैकग्राउंड स्कोर के लिए कोई संगीतकार विदेश गया हो।
60. 1951 में बीबीसी के आर्केस्ट्रा ने नौशाद की बनाई धुन के साथ प्रोग्राम पेश किया। ये पहला मौका था जब किसी भारतीय फिल्म संगीतकार की धुन पर किसी पश्चिमी आर्केस्ट्रा ने प्रोग्राम दिया हो।
61. 'जादू' फिल्म के लिए नौशाद ने एकार्डियन, पियानो, कोंगा और स्पेनिश गिटार वाद्य यंत्रों को पहली बार किसी भारतीय फिल्म में इस्तेमाल किया।
62. फिल्म 'अंदाज' में पहली बार नायिका पियानो पर बैठकर गाना गाते दिखाई दी और उसके बाद ये एक कामयाब चलन बन गया।
63. साहिर लुधियानवी पहले गीतकार थे जिन्होंने अपने जमाने में संगीतकार से 1 रुपये ज्यादा लेने का चलन शुरू किया था।
64. 1957 में आई फिल्म 'मदर इंडिया' को बालीवुड की पहली आफीशियल रीमेक माना जाता है, यह महबूब खान की ही 1940 में आई फिल्म औरत का रीमेक थी।
65. 'मदर इंडिया' आस्कर पुरस्कारों की सर्वश्रेष्ठ विदेशी फिल्म की श्रेणी में नामित होने वाली पहली भारतीय फिल्म थी।
66. 'मदर इंडिया' के लिए कार्लोवी फिल्म समारोह में सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री का पुरस्कार पाने वाली नरगिस पहली भारतीय अभिनेत्री थीं।
67. 1959 में आई 'कागज के फूल' देश की पहली सिनेमास्कोप फिल्म थी।
68. 5 अगस्त 1960 को निर्देशक के आसिफ की फिल्म 'मुगले आजम' देश भर के 150 सिनेमाघरों में एक साथ रिलीज होने वाली पहली फिल्म थी।
69. 'मुगले आजम' के सिर्फ 1 गाने 'प्यार किया तो डरना क्या' को फिल्माने में 1 मिलियन रुपये का खर्च आया था जबकि समय एक पूरी फिल्म 1 मिलियन से कम में बन जाती

थी।

70. 'मुगले आजम' फिल्म के ही एक अन्य गीत 'ऐ मोहब्बत जिंदाबाद' के लिए पहली बार 100 गायकों के कोरस स्वर का इस्तेमाल किया गया।
71. मुगले आजम के लिए पहली बार शास्त्रीय गायक बड़े गुलाम अली खां ने फिल्मों को अपनी आवाज दी और बदले में 25000 रुपये का भारी भरकम मेहनताना लिया जबकि उस दौर में मोहम्मद रफी जैसे बड़े गायक भी तीन-चार सौ रुपये लेते थे।
72. देश की पहली भोजपुरी फिल्म 1962 में आई 'गंगा मइया तोहे पियरी चढ़इबो' थी।
73. 1963 में आई फिल्म 'मेरे महबूब' के शीर्षक गीत के लिए सिर्फ 4 वाद्यों का इस्तेमाल हुआ था।
74. देश की युद्ध आधारित पहली फिल्म 1964 में आई चेतन आनंद की फिल्म 'हकीकत' थी।
75. 1964 में आई सुनील दत्त की फिल्म 'यादें' भारत ही नहीं बल्कि विश्व सिनेमा की पहली फिल्म थी जिसमें सिर्फ एक ही अभिनेता था और पूरी फिल्म एक ही सेट पर फिल्माई गई थी।
76. 1969 की फिल्म आराधना से हिंदी सिनेमा में पहली बार सुपरस्टार शब्द चलन में आया और राजेश खन्ना पहले सुपर स्टार बने।
77. 1965 में आई फिल्म 'गाइड' पहली फिल्म थी जिसने फिल्मफेयर पुरस्कारों की चारों बड़ी श्रेणियों (सर्वश्रेष्ठ फिल्म, सर्वश्रेष्ठ डायरेक्टर, सर्वश्रेष्ठ अभिनेता और सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री के पुरस्कार जीते।
78. 1969 में ही सिनेमा के लिए सबसे बड़े भारतीय पुरस्कार दादा साहब फाल्के पुरस्कार की शुरुआत हुई।
79. पहला फाल्के अवार्ड देविका रानी को मिला।
80. 1973 की फिल्म 'बॉबी' से बालीवुड में पहले पहल टीनएज लव स्टोरी और 'जंजीर' से अमिताभ बच्चन के दौर की शुरुआत हुई।
81. 1971 में दादा साहब फाल्के पर पहला डाक टिकट जारी किया गया।
82. 1975 में आई 'शोले' पहली फिल्म थी जिसने देश के 60 से ज्यादा थिएटरों में गोल्डन जुबली और 100 से ज्यादा थिएटरों में सिल्वर जुबली मनाई।
83. शोले पहली फिल्म थी जिसके संवादों का कैसेट जारी हुआ था।
84. 1974 की 'नया दिन नई रात' पहली फिल्म थी जिसमें एक ही अभिनेता ने 9 अलग-अलग भूमिकाएं अदा की।
85. 1977 में मशहूर फिल्मकार सत्यजित राय ने अपनी पहली हिंदी फिल्म 'शतरंज के खिलाड़ी' बनाई।
86. 1941 में लक्स साबुन के प्रचार में नजर आने वाली लीला चिटनिस पहली अभिनेत्री थीं।
87. 1982 में आई फिल्म 'गांधी' के लिए आस्कर अवार्ड पाने वाली भानू अथैया पहली भारतीय थीं।
88. गीतकारों में सबसे पहला दादा साहब फाल्के 1991 में मजरूह सुल्तानपुरी को मिला।
89. कुमार सानू लगातार पांच वर्षों तक फिल्मफेयर सर्वश्रेष्ठ गायक का अवार्ड जीतने वाले पहले गायक बने।

90. 1967 में शर्मिला टैगोर बिकिनी में नजर आने वाली पहली अभिनेत्री थीं। फिल्म थीं 'एन इवनिंग इन पेरिस।'
91. 1995 में आई 'दिलवाले दुल्हनिया ले जाएंगे' मुंबई के मराठा मंदिर सिनेमा हाल में 15 साल से भी ज्यादा समय तक चलने वाली पहली फिल्म बनी।
92. 1998 में आई 'छोटा चेतन' भारत की पहली 3-डी फिल्म थी।
93. 1999 में आई सुभाष घई की फिल्म 'ताल' भारत की पहली पूर्णतया बीमाकृत फिल्म थी।
94. 1999 में आई 'प्यार में कभी कभी' पहली फिल्म थी जिसमें सभी 300 कलाकार नवोदित थे।
95. लंदन के मैडम तुसाद संग्रहालय में जगह पाने वाले अमिताभ बच्चन बॉलीवुड के पहले सितारे थे।
96. मशहूर संगीतकार नौशाद 2005 में आई फिल्म 'ताजमहल' का 86 साल की उम्र में संगीत देने वाले विश्व के पहले कलाकार थे।
97. 2009 में 'वाट्स योर' राशि में प्रियंका चोपड़ा ने 12 भूमिकाएं निभाईं। ये पहला मौका था जब किसी अभिनेत्री ने ऐसा किया हो।
98. संगीतकार ए.आर. रहमान अकादमी अवार्ड पाने वाले पहले भारतीय संगीतकार बने। उन्हें ये सम्मान 2008 की फिल्म 'स्लमडाग मिलेनियर' के लिए दिया गया।
99. 'मुगले आजम' पहली फिल्म थी जिसे 2004 में ब्लैक एंड व्हाइट से कलर में पुनः प्रदर्शित किया गया और ये दोबारा हिट हुई।
100. शाहरुख खान की 2011 में आई 'रा-वन' पहली भारतीय फिल्म थी जिसकी लागत 175 करोड़ के आसपास पहुंची।

(लेखक युवा पत्रकार और म.गां.अं.हि.वि., वर्धा में शोध छात्र हैं)

बस, इक जुनूं की खातिर

सुधीर सक्सेना

सन 1869-70। बर्तानवी हुकूमत का अंधकार-युग। दासता का ऐसा दौर, जब प्रतिरोध नगण्य था और विभिन्न संकायों में प्रयोगधर्मिता अत्यल्प। ऐसे समय में देश में अनेक ऐसी प्रतिभाओं ने जन्म लिया, जिन्होंने वक्त की मुंडेर पर रोशनी के चिराग बाले। 12 अक्टूबर, 1869 को गुजरात स्थित पोरबंदर में मोहनदास करमचंद गांधी का जन्म हुआ और इसके करीब एक छमाही के बाद महाराष्ट्र के नासिक में धुंडिराज गोविंद फाल्के का। दोनों ही अलीक योद्धा सिद्ध हुए। एक ने सत्य की लाठी से दुनिया को मुक्ति की ओर ठेलने का अद्‌भुत-अपूर्व उपक्रम किया, तो दूसरे ने भारत में फिल्म निर्माण की नींव डाली। एक राष्ट्रपिता कहलाया, तो दूसरा भारतीय सिनेमा का पितामह। एक युग पुरुष कहलाया, तो दूसरे ने सर्वथा नए युग सिने-युग की आधारशिला रखी।

फाल्के के जीवन-वृत्त पर गौर करें तो कई बातें उभरती हैं। उन्होंने न सिर्फ फिल्में बनाईं, बल्कि फिल्म निर्माण की विभिन्न विधाओं में पारंगत होकर वे एक संस्था बनकर उभरे। लेकिन, यह बाद की बात है। उन्हें गढ़ने में कई शहरों, शख्सियतों और संस्थाओं का योगदान रहा। पिता संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। मुंबई के एलफिंस्टन कॉलेज में प्राध्यापक। स्वाभाविक है कि बालक धुंढि का पौराणिक आख्यानों से परिचय और चरित्रों से मैत्री बाल्यकाल में ही हो गई थी। उनके सिनेमाई उपक्रमों में उनकी आनुवांशिक का भी योगदान रहा। दादा साहब नासिक के समीप त्र्यंबकेश्वर में जन्मे। नासिक में कुंभ की परिपाटी है और त्र्यंबकेश्वर तीर्थ-नगरी है। यदि वहां का धार्मिक और कर्मकांडी वातावरण बालक धुंढि को आलोड़ित करता रहा हो, तो विस्मय कैसा? बहरहाल, धुडीराज ने वहां पाटी पढ़ने के बाद मुंबई में शिक्षा-दीक्षा पाई। हाईस्कूल करने के बाद उन्होंने सन 1885 में ख्यातनाम जे.जे. स्कूल ऑफ आर्ट्स में प्रवेश लिया और अधिक कौशल अर्जित करने के प्रयोजन से तदंतर वे बड़ौदा चले गए। सन 1890 में बडौदा के कलाभवन में प्रवेश लेकर उन्होंने इंजीनियरिंग, स्कल्पचर, ड्राइंग-पेंटिंग और फोटोग्राफी का ज्ञान अर्जित किया।

पहले नासिक। फिर मुंबई। और फिर बड़ौदा। मील के पत्थर अभी शेष थे। धुंढ़िराज धुनी शख्सियत थे। अधिक से अधिक सीखने को व्यग्र। उन पर जुनूं तारी था। वे खुद को निरंतर मांज रहे थे। अहर्निश। क्रमवार। बड़ौदा के कलाभवन से निकले तो करिअर का सवाल सम्मुख था। अपने करिअर के लिए उन्होंने प्रथमतः फोटोग्राफी को चुना। और फोटोग्राफी के कॅरिअर के लिए उन्होंने पहला ठीहा चुना गोधरा।

कल्पना करें कि सन 1890 के दशक में गोधरा, सदी के अंतराल के बाद सुर्खियों में आया

गोधरा कैसा रहा होगा, जहां युवा फाल्के ने फोटो-स्टूडियो खोला था। बहरहाल, गोधरा में स्टूडियो एक धूपछांही सिलसिले की शुरुआत मात्र था। कला के प्रति गहरी रुझान उनमें लगातार विकस रही थी। कला माध्यमों को लेकर वे सतत सचेत थे। अभी उन्हें कई शहरों से गुजरना था। कइयों के साथ रहकर बहुत कुछ सीखना था और बहुत कुछ ऐसा रचना था, जो अपने समय से आगे की सोच से जुड़ा था। वह युगांतकारी था और जादुई भी।

किसी घर में न घर कर बैठना धुंडीराज के नसीब में था। वह जरूरी भी था कि एक ठिकाने बैठकर वक्त के लिहाज से बड़ा काम मुमकिन नहीं होता। उसके लिए दर-दर भटकना पड़ता है। एक ठौर से दूसरे ठौर जाना होता है। लगातार जूझना पड़ता है। जमाने को अपने किए से रोशन करने के लिए हमेशा जज्बा चाहिए, जोश भी और जुनूं भी।

धुंड़ीराज में यह सब था। न बड़ौदा उनका गंतव्य था और न ही गोधरा। कुछ ही अर्से में उन्होंने स्टूडियो समेटा और भारतीय पुरातत्व विभाग में ड्राफ्टमैन हो गए। वे कला के विभिन्न रूपों और रंगों को जानने की ललक से भरे हुए थे। जल्द ही लोगों ने पाया कि युवा धुंढिराज एक जर्मन जादूगर के साथ बतौर मेकअपमैन काम कर रहे हैं।

दरअसल, सन 1909 में जर्मनी जाने से ही युवक फाल्के की जिंदगी में वह मोड़ आया, जो उन्हें ऊंचे और क्रांतिकारी मकाम तक ले गया। जाहिर है कि धार्मिक वातावरण के बावजूद फाल्के का 'टैबूज' से कोई वास्ता न था। विदेश गमन उनके लिए निषिद्ध न था। बेचैनी उन्हें मथ रही थी। मथानी की मानिंद। भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण में वे ज्यादा रोज मुलाजिम न रहे। उन्होंने छापाखाना खोला और एक मासिक पत्रिका भी निकाली। प्रेस के लिए नई आधुनिक मशीनों की खातिर ही वे जर्मनी गए। पुरातत्व विभाग में नौकरी के दरम्यां उनका तजुर्बा खूब बढ़ गया था। तीस के होते-होते वे एक हुनर-मंद शख्सियत थे। फोटोग्राफी, ड्राइंग-पेंटिंग, नाट्य विधा, सेट-निर्माण, छपाई, भ्रम-कला और जादूगरी.... जर्मनी जाकर उन्होंने आधुनिक मशीनों की तकनीक और संचालन के बारे में जाना। उन्हें नई-नई खोजों की जानकारी मिली। उन्होंने पाया मशीनों की एक नई दुनिया उभर रही है और वह ज्ञात दुनिया से भिन्न नई दुनिया रच रही है। मशहूर चित्रकार राजा रवि वर्मा के लिथोग्राफी प्रेस में काम करना उसके लिए एक नए और उपयोगी तजुर्बे का सबब बना। राजा रवि वर्मा की भारतीय देवी-देवताओं की चित्रकला के विभिन्न पहलुओं से परिचय उनके लिए बहुत लाभदायी रहा। इस अनुभव ने उन्हें ऐसा माड़ा कि उसकी छाप कालांतर में उनकी धार्मिक फिल्मों की निर्माण-कला पर दिखाई दी।

समय को विस्मित करने का सामान धीरे-धीरे जुट रहा था। विविध अनुभवों की पूंजी और व्यग्रता। माध्यमों से गुजरते हुए नए माध्यम की तलाश...। ऐसे में 1910 का साल गुजर गया लेकिन गुजरने से पेश्तर यह साल व्यग्र फाल्के को उनके मार्ग की ओर स्पष्ट इंगित कर गया। हुआ यह कि दिसंबर के आसपास फाल्के को मुंबई के वाटसन होटल में एक फिल्म देखने को मिल गई। यह फिल्म थी 'लाइफ ऑफ क्राइस्ट' इस फिल्म ने उन्हें इस कदर आलोड़ित किया कि फिर वे फिल्मों से विलग नहीं हो सके।

'लाइफ ऑफ क्राइस्ट' ने फाल्के के भीतर फिल्मों को देखने का चस्का पैदा किया और फिल्म बनाने का बीज भी। वह मूक फिल्मों का दौर था, ऐंद्रजालिक दौर। फिल्मों की नई नवेली दुनिया आकर ले रही थी। पहली मोशन फिल्म- The Horse in motion, (1878), पहली होम-मूवी Roundhay Garden Scene (1888), पहली शॉट-आधारित फिल्म Monkey-

shines No. 1 (1889-90), पहली कॉपीराइटेड फिल्म Fred otts Sneeze (1893-94), पहली प्रोजेक्शन-फिल्म Workers learning the Lumiere factory (1895) और दर्शकों के सम्मुख पहली फिल्म Berlin Wintergarten Novelty Program (1895) के सिलसिले ने आगे बढ़कर एक सर्वथा नया संसार रच दिया था और उसका जादू लोगों के सिर चढ़कर बोल रहा था।

युवा फाल्के ने लाइफ ऑफ क्राइस्ट क्या देखी, उनके भीतर का फिल्मकार जाग उठा। वे सोते-जागते फिल्मों का ख्वाब देखने लगे। मगर यह इश्क आसां न था। इसके लिए पूंजी और तकनीक की दरकार थी। सफर कठिन था, लेकिन फाल्के ने आसमान में ध्रुवतारा देख लिया था। एकबारगी तय करने के बाद कि हर सूरत में फिल्म बनानी है, वे साहसपूर्वक शोध में जुट गए। वे खूब फिल्में देखते और रात-दिन फिल्म-निर्माण की युक्तियों में जुटे रहते। श्रम और उधेड़बुन से वे बीमार हो गए, लेकिन बीमारी भी राह का रोड़ा नहीं बन सकी। अस्वस्थता में ही उन्होंने मटर के पौधे के विकासक्रम पर फिल्म बना डाली। इस प्रायोगिक फिल्म से उनके भीतर आत्मविश्वास पनपा। अब प्रश्न यह था कि फिल्म बने तो कैसे बने? भारत, में न तकनीक उपलब्ध थी और न उपकरण। तकनीक-उपकरण ही क्यों, फिल्म निर्माण विदेशी उपक्रम था।

फाल्के गीता के संदेश से वाकिफ थे : 'संशयात्मा विनश्यति।' वे निश्चय कर चुके थे। कहीं कोई संशय नहीं। विलायत जाए बिना कोई उपाय न था। तय किया लंदन जाएंगे। इंश्योरेंस पालिसी समेत कुछ चीजें गिरवी रखीं और लंदन पहुंचे। वहीं उनकी मुलाकात हुई जाने-माने फिल्म निर्माता और 'बाइस्कोप' पत्रिका के संपादक सेसिल हेपवोर्थ से। सेसिल इस युवा भारतीय के संकल्प और साहस से प्रभावित हुए। फाल्के को लंदन में सिनेमाई उपकरण व सामग्री खरीदने में सेसिल से मदद मिली और मार्गदर्शन भी।

फाल्के ने लंदन में फिल्म बनाने का तरीका देखा, सीखा और समझा। जब उन्हें अपने सीखे पर भरोसा हो गया, वे भारत लौटे। फाल्के भारत से संकल्प लेकर विलायत गए थे। लंदन से मुंबई लौटे तो विलियमशन कैमरे समेत उपकरणों से लदेफंदे थे। कथानक खोजने में उन्हें ज्यादा देर नहीं लगी। तय किया कि सत्यवादी राजा हरिश्चंद्र पर फिल्म बनाएंगे। 'राजा हरिश्चंद्र' नाटक तब सर्वत्र लोकप्रिय था। फिल्म का नाम दर्शकों को आकर्षित करने को पर्याप्त था। एक बड़ी दिक्कत यह थी कि रानी तारामती का किरदार कौन निभाए? फिल्म लोगों के लिए अजनबी माध्यम था। एक हद तक अजूबा। मगर नाटकों से, परसी थिएटर और नाट्य मंडलियों से लोग परिचित थे। उनमें भी महिलाओं का चरित्र पुरुष पात्र ही निभाते थे।

फाल्के बिला शक अपने वक्त से आगे की सोच रखते थे। उनकी दिली ख्वाहिश थी कि रानी तारामती का किरदार पुरुष के बजाए कोई महिला कलाकार ही निभाए। वर्जनाओं के उस युग में यह आसान न था। उन्हें नायाब तरीका सूझा कि क्यों इन इसके लिए इश्तेहार दिया जाए? उन्होंने वृत्तपत्रों में विज्ञापन दिया, लेकिन इससे भी बात नहीं बनी। जाहिरात से महिला कलाकार तो सामने नहीं आईं, लेकिन इसमें फाल्के की सोच और सूझबूझ का परिचय दुनिया को मिला। इससे स्पष्ट हो गया कि फाल्के लकीर के फकीर नहीं हैं। यह कदम संकीर्ण व पारंपरिक सोच की बजाए उनकी प्रगतिशील, सही मायनों में उनकी कार्यकारी प्रगतिशीलता, दर्शाता है। बहरहाल, अंततः उनकी फिल्म में सालुंके नामक पुरुष कलाकार ने रानी तारामती की भूमिका निभाई। सालुंके ने फाल्के की फिल्म 'लंका दहन' में भी अभिनय किया। उसका

नाम रजतपट के प्रथम लोकप्रिय अभिनेता और अभिनेत्री के तौर पर दर्ज हुआ। महिला पात्रों का अभिनय महिला कलाकारों से कराने का श्रेय भी जल्द ही फाल्के के खाते में तब दर्ज हो गया, जब उनकी कामयाब फिल्म 'मोहनी भस्मापुर' में दुर्गा और कमला गोखले ने काम किया। ऐसा नहीं है कि दादा साहब फाल्के के पूर्व भारत में फिल्म निर्माण की पहल नहीं हुई थी। महाराष्ट्र के ही दो उद्यमी सावे दादा और दादा साहब तोरणे फिल्मांकन में दखल दे चुके थे, लेकिन उनके प्रयासों को खालिस फिल्मों के खाने में वर्गीकृत नहीं किया जा सकता था। सावेदादा ने जहां आयातित कैमरे से नाटकों और विशेष समारोहों को फिल्माया था, वहीं तोरणे ने 'पुंडालिक' नाटक को कैमरे से शूट कर फिल्म की तरह दिखाया था। सावे और तोरणे ने विपरीत फिल्म निर्माण की विभिन्न शर्तों और उसके तकाजों को पूरा किया। उन्होंने 'राजा हरिश्चंद्र' के लिए जमकर और मुकम्मल तैयारियां कीं और उसमें सब कुछ झोंक दिया। 'राजा हरिश्चंद्र' पूरी तौर पर फाल्के और सिर्फ फाल्के की फिल्म थी। फिल्म का प्रबंधन, प्रदर्शन और वितरण पूरी तौर पर उनके हाथों में था। प्रदर्शन के लिए वे उस जमाने में दूरस्थ गांवों में गए। अपने हुनर से उन्होंने फिल्म निर्माण के विभिन्न संकायों को कुशलता से संभाला। भारतीय फिल्म उद्योग के अनेक ग्रांड मास्टरों ने बाद में उनकी इस परंपरा को निबाहा और आगे बढ़ाया। फाल्के 'राजा हरिश्चंद्र' फिल्म के क्या नहीं थे? अंग्रेजी का आसरा लें, तो 'आल इन वन'। वह अपनी और देश की इस पहली फिल्म के कलानिर्देशक, दृश्यकार, कैमरामैन, संपादक, मेकअपमैन, कॉस्ट्यूम डिजाइनर, डेवलपर, चित्रकार, निर्माता और वितरक थे। 'राजा हरिश्चंद्र' और बाद की अपनी फिल्मों में दादा साहब ने अपने ज्ञान और कौशल को उनमें उड़ेल दिया। अपनी फिल्मों से उन्होंने तीन मकसद साधे। उन्होंने अपूर्व उपक्रम से मोशन पिक्चर को प्रारंभ से ही मनोरंजन के प्रतिरूप, कला के माध्यम और भारतीय संस्कृति के वाहक के रूप में स्थापित कर दिया। सामाजिक सरोकारों को जोड़ दें तो भारतीय फिल्में आज भी उसी पथ पर अग्रसर हैं।

3 मई, सन् 1913 को बंबई के कोरोनेशन थिएटर में 'राजा हरिश्चंद्र' का पहला सार्वजनिक प्रदर्शन हुआ। यह एक नए और क्रांतिकारी युग का सूत्रपात था। वह बाल, पाल, लाल का जमाना था। गांधी दक्षिण अफ्रीका में सत्य के प्रयोग कि प्रयोग कर चुके थे। इधर फाल्के ने भी देश में एक नया प्रयोग कर डाला था। गांधी जिस तरह पूर्णतः सत्याग्रह को समर्पित हो चुके थे, दादा साहब फाल्के ने अपना संपूर्ण जीवन फिल्मों को समर्पित करने का संकल्प अटूट रहा। समय कठिन था। सिनेमा को लेकर लोगों में भ्रांतियां थीं और शंकाएं भी। इसके भविष्य को लेकर कोई भी आश्वस्त न था, न आमजन, न शिक्षित संभ्रांतजन और न ही बौद्धिक बिरादरी। बहुतों का ख्याल था कि सिनेमा का बुलबुला जल्दी ही बैठ जाएगा। कोई सोच भी नहीं सकता था कि फाल्के एक ऐसे विराट उद्योग की नींव रख रहे हैं, जो मनोरंजन के सारे माध्यमों को पीछे छोड़ देगा और निवेश और रोजगार के असीम अवसर उपस्थित करेगा। 'राजा हरिश्चंद्र' की कामयाबी ने लोगों की सोच और उसकी दिशा बदल दी।

मुंबई दादा साहब को फला था, लेकिन वह उनका मुकाम न था। दादा साहब ने इस खूबसूरत पड़ाव को छोड़ने का फैसला किया। उन्होंने मुंबई से नासिक को कूच किया। अब नासिक में रहकर फिल्में बनाने लगे। शहर तब इतना विस्तृत न था। दक्खिनी हिस्से में उन्हें काफी खुली जगह मिली। उन्होंने वहीं सिने-स्टूडियो खोलने का फैसला किया। स्थान सुरम्य था।

स्टूडियो के इर्द-गिर्द बढ़िया लोकेशंस, सुंदर बगीचा, मंदिर और जल प्रपात। दादा साहब के पास स्टूडियो को सुनिश्चित अवधारणा थी। स्टूडियो में भवन, पुस्तकालय, चिड़ियाखाना, कलाकारों व तकनीशियनों के लिए विश्राम गृह जैसी सुविधाएं थीं। यह सब उनकी वक्त से आगे की सोच का द्योतक था। वहां दफ्तर भी था और रासायनिक प्रयोगशाला भी। शूटिंग के लिए इफरात खुली जगह थी। दृश्य दिन का हो या रात का, उन दिनों शूटिंग खुली हवा में करने का चलन था।

दादा साहब को आशातीत सफलता मिली। नासिक में उन्होंने 'मोहनी भस्मासुर' बनाई और फिर' 'सत्यवान सावित्री'। दोनों फिल्में हिट हुईं और दादा साहब की लोकप्रियता बुलंदियों पर जा पहुंची। दादा साहब अपनी हरेक फिल्म के बीस प्रिंट्स जारी करने लगे। तत्कालीन समय के मान से यह महान उपलब्धि थी। दादा साहब ने कम समय में बड़ा करिश्मा कर दिखाया था। प्रयोगधर्मिता से उनका नाता बरकरार था। उन्होंने एक के बाद एक रचनात्मक प्रयोग किए। स्पेशल इफेक्ट्स, ट्रिक फोटोग्राफी आदि। उपकरणों को लेकर वे बहुत सचेत थे। वे सही मायनों में खुद को 'अपडेट' करने वाली शख्सियत थे। यह निरंतर अद्यतन का ही नतीजा था कि सन 1914 में वे पुनः लंदन गए।

दादा साहब लंदन से लौटे तो ऊर्जा से लबरेज थे। उन्होंने नासिक में हिंदुस्तान फिल्म कंपनी की स्थापना की। इससे पूर्व अपने दो माह के पहले लंदन प्रवास के बाद उन्होंने मुंबई में दादर में फाल्के फिल्म्स नामक कंपनी शुरू की थी। उन्हें जब सफलता मिली तो अनेक व्यवसायी भी सिनेमा की ओर आकृष्ट हुए। फलतः उनकी और दादा साहब की साझेदारी में हिंदुस्तान सिनेमा कंपनी की स्थापना हुई। सन 1913 में पहली मूक फिल्म से शुरुआत कर सन 1917 तक दादा साहब 23 फिल्में बना चुके थे। अपने यादगार सफल के पच्चीस बरसों में दादा साहब ने 'राजा हरिश्चंद्र (1913) 'सत्यवान सावित्री' (1914) 'लंका दहन' (1917) 'श्रीकृष्ण जन्म' (1918) 'कालिया मर्दन' (1919) 'कंसवध' (1920) 'शकुंतला' (1920) 'संत तुकाराम' (1921) 'भक्त गोरा' (1923) समेत 125 फिल्मों का निर्माण किया। उनकी तीन चौथाई फिल्मों का लेखन-निर्देशन उन्हीं का था। उनकी अंतिम मूक फिल्म थी, सन 1932 में निर्मित 'सेतुबंधन' जिसे बाद में डब करके आवाज भी दी गई थी। दादा साहब ने एकमात्र सवाक् फिल्म बनाई 'गंगावतरण'। यह फिल्म सन् 1937 में बनी थी। गौरतलब है कि सन 1931 में आर्देशिर ईरानी की 'आलम आरा' से भारतीय फिल्मों का सवाक युग शुरू हो गया था। 'आलम आरा' क्या आई, मूक फिल्मों के दिन लद गए। दादा साहब भी 1932 में सेतुबंधन के बाद फिल्मी दुनिया से बाहर रहने लगे थे। करीब बीस साल के सघन अनुभव से दादा साहब नए युग की आहट को बखूबी सुन रहे थे। मूक फिल्मों के दौर में दादा ने क्या नहीं किया था? उन्हें तारामती की भूमिका के लिए न कोई अभिनेत्री मिलनी थी, न मिली। न नाटकमंडलियों से बात का नतीजा निकला और न ही इश्तेहारों का। विवश हो दादा साहब कोठेवालियों के पास भी गए थे। वहां भी उन्हें टका सा जवाब मिला था। अंततः एक ईरानी रेस्त्रां में बात बनी थी। वहां का रसोइया ना-नुकुर के बाद कैमरे के सामने अभिनय को तैयार हो गया था। रिहर्सल भी हो गया। शूटिंग के पहले दादा ने कहा 'कल से शूटिंग करेंगे। तुम अपनी मूंछें साफ कराके आना।'

'मैं मूंछें कैसे साफ करा सकता हूं। मूंछें तो मर्द-मराठा की शान है' दादा को जवाब मिला था। दादा ने पहले-पहल सिर पीट लिया था। भला मूछों वाली तारामती को लोग कैसे सहन

करेंगे। बमुश्किल वह रसोइया इस समझाइश पर मूंछ मुड़ाने को तैयार हुआ था कि शूटिंग पूरी होने पर वह फिर मूंछ बढ़ा लेगा। यह रसोइया कोई और नहीं सालुंके था। भारत की पहली फीचर फिल्म की पहली हीरोइन।

'राजा हरिश्चंद्र' के निर्माण पर कुल जमा करीब 15 हजार रुपयों का खर्च आया था। सन 1912 में यह एक बड़ी रकम थी। एक तरह से यह दांव खेलने जैसा था। ब्लाइंड गेम। जमाना नाटकों का था। दो आने में लोग छह घंटे के नाटक का आनंद लेते थे। ऐसे में तीन आने खर्च कर एक घंटे की फिल्म कौन देखता। और फिल्म भी ऐसी जिसमें पर्दे के पीछे से पात्रों का परिचय और संवाद बोले जाते थे। दादा कई रोज गुंताडे में रहे। फिर विज्ञापन दिया। मजमून कुछ ऐसा था : 'सिर्फ तीन आने में देखिए दो मील लंबी फिल्म में 57 हजार चित्र।' बता बन गई। दर्शकों ने पौराणिक गाथा को चलते-फिरते देखा तो वाह-वाह कर उठे।

दादा के जीवन में इस वाह-वाह का दौर हमेशा नहीं रहा। जोश, जज्बे और जुनूं के बूते रूपहली इबारतें लिखने का दौर करीब बीस साल चला। उनकी पत्नी सरस्वतीबाई सही अर्थों में सहधर्मिणी थीं। वे संपादन में हाथ बंटातीं। दिए के प्रकाश में फिल्में धोती। सब कलाकारों के लिए खाना पकातीं। दादा खाते-पीते, सोते-जागते फिल्मों में खोए रहते। उनकी बड़ी बेटी मंदाकिनी ने भी उनकी फिल्म 'कालिया मर्दन' में अभिनय किया। उसे पहली बाल-कलाकार का श्रेय मिला। शुरुआती सफलता ऐसी थी कि रुपयों की गड्डियां बैलगाड़ी में भर-भर कर लाई जाती थीं। फिर दुर्दिन आए। सरस्वतीबाई ने उफ् नहीं की। सारे गहने-बर्तन बेच डाले। फिल्मों में ध्वनि आई और पैसों का दखल बढ़ने लगा। दादा ने 'गंगावतरण' (1937) से सिने जगत में लौटने का प्रयास किया। प्रयास असफल रहा। मूक फिल्मों के जादूगर का जादू चला नहीं। 'गंगावतरण' दादा की पहली और अंतिम सवाक फिल्म साबित हुई। दादा ने फिल्मों से तौबा कर ली। उन्होंने अपने जुनूं की खातिर कभी अपना घर गिरवी रखा था। तब सफलता ने उनकी लाज रखी थी, लेकिन 'गंगावतरण' के बाद वे गर्दिश में डूब गए। आंखों की बीनाई पर असर शुरुआती दौर से ही पड़ चुका था। साठ पार के हुए तो कई बीमारियों ने जकड़ लिया। स्मृति-लोप भी हुआ। आखिरी वर्षों में याददाश्त करीब-करीब चली गई। नातिन उषा (पाटनकर) बीमार और अशक्त नाना को दवा देती, तब भी नाना फिल्मों ही ही बातें करते। फिल्में उनकी जिंदगी जो थीं। फिल्में उनकी जीवनी शक्ति थी। और यह शक्ति छीन गई थी।

दादा साहब बेहतरीन फिल्मकार थे, लेकिन उनमें बिजनेस सेंस नहीं था। उन्होंने फिल्मों और सिर्फ फिल्मों के बारे में सोचा। न तो परिवार के बारे में और न बुढ़ापे के बारे में। बापू ने भी भी अपने परिवार की ओर कहां ध्यान दिया था? दादा के हाथों से चीजें फिसलती गईं। आर्थिक दशा बिगड़ती गई। पहले बद फिर बदतर। छोटे बेटे की पढ़ाई-लिखाई भी ढंग से नहीं हो सकी। सन् 1938 में भारतीय सिनेमा ने रजत जयंती मनाई। चंदूलाल शाह और सत्यमूर्ति की अध्यक्षता में समारोह हुआ। दादा साहब भी बुलाए गए। आमंत्रण के अलावा और कुछ नहीं। समारोह में प्रभात फिल्म्स के शांताराम भी थे। उन्होंने पहल की। निर्माताओं, निर्देशकों, वितरकों से धन एकत्र किया और फाल्के साहब को भेजा। शांताराम की यही रकम बुढ़ापे में भारतीय सिनेमा के पितामह के काम आई। मुसीबतें इतनी थीं कि परिवार को फिल्मों से नफरत हो गई। उनकी कई फिल्मों की रीलों को उनके बेटे ने ही जला दिया। दादा साहब 30 अप्रैल, 1870 ईस्वी को जन्मे थे। अपनी चौहत्तरवीं सालगिरह वे मना नहीं सके। अभावों और

दुश्वारियों के बीच 16 फरवरी, 1944 को नासिक में उन्होंने अंतिम सांस ली।

नासिक में दादा साहब का बांग्ला अब नहीं है। उसे ढ़हाकर वहां नई इमारत खड़ी कर दी गई है। पता नहीं बंगले से मिली बेशकीमती चीजें कहां गईं? उनके कैमरे का भी कोई अता-पता नहीं है। नासिक के पुराने बाजार में उनकी कार जरूर जर्जर हालत में मिली थी। उनके लिए बरसों-बरस कुछ नहीं हुआ, लेकिन सन् 1969 में फाल्के शताब्दी वर्ष में बड़ी घटना घटी। इस वर्ष भारतीय सिनेमा में फाल्के के अभूतपूर्व योगदान के सम्मान में दादा साहब फाल्के सम्मान शुरू हुआ। राष्ट्रीय स्तर के इस सर्वोच्च सिने सम्मान ने अभिनव इतिहास रचा। केंद्र सरकार की ओर से प्रदत्त यह प्रतिष्ठा-सम्मान अब तक 43 सिने-हस्तियों को दिया जा चुका है। सन 1969 में देविका रानी से शुरू हुए इस क्रम में प्राण के चयन ने बीते वर्ष शताब्दी-वेला में नए प्राण फूंके।

भारतीय सिनेमा के शताब्दी वर्ष में भारतीय सिनेमा के पितामह दादा साहब फाल्के के पौत्र किरण फाल्के ने मांग की कि दादा साहब को भारत रत्न से नवाजा जाए। दादा साहब की पहली फिल्म बनाने की संघर्ष कथा पर परेश मोकाशी ने मराठी में एक फिल्म बनाई है, 'हरिश्चंद्राची फैक्ट्री'। सन 2013 भारतीय सिनेमा के लिए जश्न का साल है। उत्सव-पर्व। सिने जगत ने सौ सालों में दादा साहब फाल्के के लिए क्या किया, सिने-जगत जाने....

हां दादा साहब फाल्के का मोम का पुतला कहीं जरूर बनाया गया है।

(लेखक प्रख्यात कवि और भोपाल से प्रकाशित दुनिया इन दिनों मासिक के संपादक हैं)

दादा साहब फाल्के और भारतीय सिनेमा

धरवेश कठेरिया

'यदि मुझमें फिल्म निर्माण के लिए कलात्मक और तकनीकी प्रतिभा न होती
और यदि मुझमें साहस और कुछ कर दिखाने की लगन न होती
तो भारत में 1913 में फिल्म उद्योग की स्थापना न हुई होती।'
(निधन से कुछ वर्ष पूर्व दादा साहब फाल्के की लिखित पंक्तियां)

भारतीय सिनेमा के जनक दादा साहब फाल्के का जीवन संघर्षों से भरा रहा है। वे हमेशा सिनेमा की बेहतरी को और आगे बढ़ाने के लिए प्रयासरत रहे। उन्होंने पूरा जीवन सिनेमा को समर्पित कर दिया। उनके इस योगदान और समर्पण को देखते हुए आगे चलकर भारत सरकार द्वारा सिनेमा में महत्वपूर्ण योगदान के लिए 'दादा साहब फाल्के पुरस्कार' की घोषणा की गई यह पुरस्कार 1969 से प्रतिवर्ष सिनेमा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान के लिए दिया जाता है।[1]

दादा साहब ने भारत में सिनेमा की ऐसी मजबूत नींव रखी जिसने आगे चलकर विश्वपटल पर भारतीय सिनेमा को गौरवान्वित किया। सिनेमा में इसी महत्वपूर्ण योगदान के लिए दादा साहब फाल्के को 'भारतीय सिनेमा का जनक' कहा जाता है।

भारतीय सिनेमा के पितामह दादा साहब फाल्के का पूरा नाम धुंडीराज गोविंद फाल्के था उनका जन्म 30 अप्रैल 1870 में[2] एक ब्राहम्ण परिवार के घर नासिक जिले के त्र्यंबकेश्वर नामक एक स्थान पर हुआ था। अपनी शिक्षा मराठा हाईस्कूल से करने के बाद फाल्के ने अपनी आगे की पढ़ाई बंबई (आज का मुंबई) के प्रसिद्ध कला विद्यालय जेजे स्कूल ऑफ आर्ट्स (1884) से की। ललित कलाओं के साथ छायांकन कला ने फाल्के को बहुत हद तक प्रभावित किया दादा साहब को बड़ौदा के कला भवन ने भी काफी आकर्षित किया। यहां उन्होंने रंगकर्म के पाठ सीखे और फोटोग्राफी तकनीकी की बारीकियों पर कई प्रयोग करते हुए फिल्म प्रोसेसिंग की तकनीकी से भी भली भांति परिचित होते गए। दादा साहब ने नाटकों में मंच सज्जा का काम भी बखूबी निभाया। दादा साहब को फोटोग्राफी का इतना शौक था कि 1890 में उनको जो छात्रवृत्ति मिली उससे उन्होंने एक स्टिल कैमरा खरीद लिया था। सभी व्यस्तताओं के बावजूद दादा साहब अपने फोटोग्राफी के शौक से कभी अलग नहीं हुए।

शिक्षा पूरी होने के बाद दादा साहब फाल्के ने विभिन्न व्यवसायों में अपना भाग्य आजमाया, फोटोग्राफी में भी कॅरिअर बनाने का विचार किया लेकिन इसमें कोई खास सफलता नहीं मिली। दादा साहब फाल्के की सिनेमा में हमेशा कुछ नया करने की कोशिश ने आज उन्हें 'सिनेमा का जनक' बना दिया वरना वे एक सरकारी मुलाजिम होते। क्योंकि 1903 में वे शासकीय नौकरी में लगे।[3] दादा साहब को नौकरी करना पंसद नहीं आया और स्वदेशी आंदोलन

से प्रेरित होकर उन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ दी। दादा साहब पर लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का गहरा प्रभाव देखने को मिलता है। ड्राफ्टमैन और फोटोग्राफर के पद पर कार्य कर चुके दादा साहब फाल्के ने राजा रवि वर्मा की प्रेस में एक लंबे समय तक काम किया। यही वह समय था जब फाल्के ने अपने अनुभवों को एक नया रास्ता दिया और खुद का छापाखाना खोला। 1909 में वे जर्मनी गए।[4] दादा साहब ने जर्मनी में छापाखाने की मशीनों के संबंध में महत्वपूर्ण जानकारी हासिल की और तीन रंगों वाली छपाई मशीन लेकर भारत आए। छापाखाने का व्यवसाय लंबे समय तक नहीं चल सका। कुछ समय बाद उनकी भागीदारी टूट गई। दादा साहब फाल्के के लिए यह एक ऐसा समय था जब वह अंदर से बिल्कूल टूट चुके थे। छापाखाने में दिनों-रात काम करने के कारण उनकी आंखों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा जिसके कारण उन्हें एक लंबे समय तक आराम करना पड़ा। आंखों की समस्या से जूझते दादा साहब इन दिनों घोर निराशा में डूब चुके थे।

दादा साहब फाल्के और सिनेमा की उत्पत्ति :

नीरसता का जीवन व्यतीत कर रहे दादा साहब के जीवन में तब एक निर्णायक मोड़ आया जब उन्होंने क्रिसमस के दौरान 1910 में मुंबई के एक थिएटर में प्रभु यीशु के जीवन पर आधारित बनी एक फिल्म 'द लाईफ ऑफ क्राइस्ट' देखी।[5] यही वह समय था जब दादा साहब फाल्के के मन में 'द लाइफ ऑफ क्राइस्ट' देखकर प्रभु यीशु की जगह भगवान श्रीकृष्ण और श्रीराम घूम रहे थे। यह चिंतन भविष्य में मूर्त रूप लेने वाला था और भारत में एक नई कला का उदय होने जा रहा था। एक नए इतिहास का उदय।

'द लाइफ ऑफ क्राइस्ट' फिल्म देखने के बाद दादा साहब फाल्के के मनोसंसार में एक हलचल उत्पन्न होने लगी और भविष्य में स्वयं के द्वारा बनाई जाने वाली फिल्मों की तस्वीर उनके मन-मस्तिष्क में घूमने लगी। 'द लाइफ ऑफ क्राइस्ट' को दादा साहब ने कई बार देखा और अपनी पत्नी सरस्वती 'काकी' फाल्के को भी दिखाई। 'द लाइफ ऑफ क्राइस्ट' का ही प्रभाव था कि उन दिनों दादा साहब फाल्के मुंबई के सभी सिनेमाघरों (थिएटरों) में लगी फिल्में नहीं देख लेते थे तब तक वह चैन से नहीं बैठते थे। दादा साहब फाल्के ने फिल्म निर्माण प्रक्रिया का आरंभ एक मटर के पौधे से किया। उन्होंने एक गमले में एक मटर का पौधा बो दिया और वह रोज उसके विकसित होने के चित्र लेते रहे। यह प्रक्रिया एक लंबे समय तक चली जब तक कि वह मटर का पौधा पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो गया। इस प्रकार यह दादा साहब फाल्के की पहली फिल्म 'मटर के पौधे का विकास' बनकर तैयार हुई। यह वह फिल्म थी जिसको दिखाकर दादा साहब ने अपनी बीमा पालिसी पर बाजार की दर पर फिल्म निर्माण करने हेतु पैसा उधार लिया।

फिल्म निर्माण सामग्री को क्रय करने के लिए दादा साहब लंदन गए। उस समय विदेशों में फिल्म निर्माण की प्रक्रिया को गुप्त रखा जाता था। दादा साहब के लिए यह सुखद संयोग ही रहा कि प्रख्यात फिल्मकार सेसिल हेपवर्थ ने उन्हें न केवल फिल्म निर्माण प्रक्रिया के महत्वपूर्ण बिंदुओं से परिचित कराया अलवत्ता उन्हें अपना स्टूडियो दिखाया जो कि ट्रिक फोटोग्राफी के लिए उस समय प्रसिद्ध था। फिल्मकार सेसिल हेपवर्थ ने दादा की फिल्म निर्माण प्रक्रिया के प्रति रुचि को देखते हुए स्टूडियो के विभिन्न भागों से भी परिचित कराया। यही वह समय था जब दादा साहब फाल्के ने फिल्म निर्माण प्रक्रिया की गहराइयों को बारीकी से समझा। उस समय

फिल्म की पी (रील) में छेद करना महत्वपूर्ण काम माना जाता था क्योंकि यह कार्य बंद अंधेरे कमरे में किया जाता था। रोशनी की एक भी किरण फिल्म को खराब कर देती थी और फिल्म पी में किया गया छेद अगर थोड़ा भी इधर-उधर हुआ तो फिल्म चलते समय कैमरे या प्रोजेक्टर में फंस जाती थी। यह जिम्मेदारीपूर्ण कार्य भी दादा बड़े आसानी से कर लेते थे। यही दादा की खासियत थी कि वह फिल्म निर्माण के हर क्षेत्र में माहिर थे। लंदन से लौटकर दादा साहब फाल्के ने पहली भारतीय फिल्म बनाने के लिए विषय का चुनाव 'राजा हरिश्चंद्र' के रूप में किया। चूंकि फिल्म 'द लाइफ ऑफ क्राइस्ट' देखते समय फाल्के के दिमाग में भगवान श्रीकृष्ण और श्रीराम की कल्पना की थी लेकिन इन पर फिल्म बनाने के लिए अधिक धन और पात्रों (कलाकारों) की आवश्यकता होती इस कारण फाल्के ने प्रथम फिल्म के विषय के रूप में 'राजा हरिश्चंद्र' को चुना।

दादा साहब फाल्के ने अपनी पहली फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' बनाने का निर्णय लिया और इसकी तैयारियों में जुट गए। चूंकि फाल्के पहले ही फिल्म निर्माण संबंधी तकनीकी उपकरणों की खरीद लंदन से कर चुके थे इस कारण अब उनके पास 'हरिश्चंद्र' को बनाने के लिए अतिरिक्त धन की आवश्यकता थी इस संकट की घड़ी में जब कोई काम नहीं आया तो उनकी पत्नी जिन्हें फाल्के की प्रतिभा पर पूरा भरोसा था सामने आई और उन्होंने फाल्के के सपने को पूरा करने के लिए अपने सारे जेवर दे दिए, यह फिल्म निर्माण की पहली सीढ़ी थी जिसे फाल्के ने पार कर लिया। पैसों की व्यवस्था होते ही अब फाल्के को फिल्म में काम करने वाले पात्रों की जरूरत थी। 'राजा हरिश्चंद्र' में अधिक कलाकारों की आवश्यकता नहीं थी कहानी के हिसाब से तीन-चार कलाकारों की ही जरूरत थी लेकिन फाल्के की कोशिश यहां आकर एक बार फिर दम तोड़ती नजर आई क्योंकि उस समय थिएटर या नाटक-नौंटकी में काम करना समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता था। दादा साहब के अथक प्रयासों के बाद भी कोई फिल्म में काम करने को तैयार ही नहीं हुआ। यहां तक कि स्त्री पात्र को निभाने के लिए रेड लाइट एरिया की महिलाएं भी तैयार नहीं थीं।

भारत में बनने वाली पहली फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' जिसके लिए नायिका की तलाश हो रही थी। नायिका न मिलने की घटना से भारत में फिल्म जगत की उद्भवकालीन स्थितियों का अंदाजा लगया जा सकता है। वही फिल्म उद्योग आज सौ वर्षों के अंतराल के बाद क्या से क्या हो गया है? यह खुली आंखों से देखे हुए सपने के सच होने जैसा लगता है यही हमारे समाज में परिवर्तन की दिशा है। फाल्के ने विज्ञापन दिए, हर तरह से प्रयास किए लेकिन कोई ऐसा नहीं मिला जो इस फिल्म में अभिनय करने को तैयार होता। फाल्के को एक बार फिर अपना सपना टूटता नजर आने लगा। निराशा के इन क्षणों में फाल्के को सालुंके नामक युवक ने सहारा दिया। यह युवक एक रेस्तरां में वेटर का काम करता था वह गोरा छरहरा महिला समान सुकुमार दिखने वाला युवक था। 'राजा हरिश्चंद्र' में तारामती की भूमिका इसी युवक के द्वारा निभाई गई है। कलाकारों की समस्या यहीं खत्म नहीं होती है। महिला किरदारों के साथ-साथ पुरुष पात्रों के लिए भी कलाकारों का मिलना विकट चुनौती थी। उस दौर में रंगमंच पर अभिनय करना समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता था। यही कारण था कि 'राजा हरिश्चंद्र' के पश्चात भी फाल्के की अनेक फिल्में आईं जिनमें उन्होंने महिला पात्रों के लिए या तो अन्ना सालुंके का सहयोग लिया या अपनी पत्नी काकी फाल्के को मनाया। फाल्के की एक फिल्म में तो सालुंके ने सीता

और राम दोनों की भूमिका अदा की और वह उस फिल्म में नायक और नायिका दोनों ही बने।[6] इस प्रकार सालुंके भारतीय सिनेमा में डबल रोल निभाने वाले पहले अभिनेता भी बने।

'राजा हरिश्चंद्र' के निर्माण के दौरान, कर्मियों के अभाव में फाल्के ने अपनी प्रतिभा तथा अनुभव के बल पर सेट लगाने, दृश्य लेखन, फिल्म धोने तथा संपादन जैसे अनेक कार्य खुद ही किए। उनके पास फिल्म निर्माण संबंधी बारीकियों को समझने वाली अद्‌भुत दृष्टि थी और साथ में बेमिसाल तकनीकी ज्ञान। अंततः 3700 सौ फीट लंबी फिल्म के साथ 'राजा हरिश्चंद्र' भारत की पहली कथा फिल्म के रूप में तैयार हुई। लंदन में फिल्मकार सेसिल हेपवर्थ से सीखी ट्रिक फोटोग्राफी का उपयोग फाल्के ने इस 40 मिनट लंबी फिल्म में बखूबी किया। अपनी निर्माण कला से उत्साहित फाल्के ने 2 अप्रैल, 1913 को ओलंपिया सिनेमाघर में बंबई के संभ्रांत वर्ग के लिए इस फिल्म की एक विशेष स्क्रीनिंग रखी।[7] बाद में इसे व्यावसायिक रूप में कोरोनेशन थिएटर में 3 मई, 1913 को प्रदर्शित किया गया।[8] इस फिल्म के प्रति दर्शकों की पहली प्रतिक्रिया 'अविश्वसनीय' थी, उन्हें यकीन ही नहीं हो रहा था कि इसका संपूर्ण निर्माण कार्य एक भारतीय के द्वारा किया गया है। 5 मई, 1913 को बॉम्बे क्रॉनिकल अखबार में 'राजा हरिश्चंद्र' की समीक्षा प्रकाशित हुई।[9] अखबार ने फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' के संबंध में चमत्कार और अद्‌भुत जैसे शब्दों का इस्तेमाल करते हुए समाचार को प्रकाशित किया।

टिकट के ऊंचे दाम भारतीय दर्शक को रास नहीं आ रहे थे वह उन्हें हतोत्साहित कर रहे थे। क्योंकि भारतीय दर्शक सिनेमा टिकट के आधे दाम में पूरी रात का संगीतमय कार्यक्रम देखने के आदी थे। अतः उनके लिए सिर्फ 40 मिनट के मनोरंजन के लिए दो आना चुकाना हास्यास्पद था। फाल्के बड़ी ही सहजता से इन सारी बातों को महसूस करते हुए, इस निर्णय पर पहुंचे कि बिना प्रभावशाली व आकर्षक प्रचार के उनकी फिल्म को सही शुरुआत मिलना मुश्किल है। अतः उन्होंने आरंभ के कुछ दिनों के लिए दो यूरोपियन लड़कियों के 10-15 मिनट के नृत्य की व्यवस्था की, जबकि बंबई के बाहर उन्होंने अपने प्रचार के तरीके में थोड़ी तब्दीली की। उन्होंने अपने विज्ञापन में 40 मिनट की जगह फिल्म के दो मील लंबे 50,000 चित्रों (फ्रेम) की चर्चा करनी शुरू की। इस विज्ञापन को देखने के बाद लोगों को लगता था कि इतनी लंबी फिल्म के लिए दो आना खर्च करना समझदारी है। इसके साथ ही उन्होंने कुछ अग्रणी समाचारपत्रों के संवाददाताओं को आमंत्रित कर प्रेस के लिए अलग से शो रखा। फिल्म की गुणवत्ता से उत्साहित प्रेस ने 'राजा हरिश्चंद्र' की खूब तारीफ की। फाल्के की तरकीब काम कर गई और फिल्म को देखने के लिए लोगों की भीड़ जमा होने लगी। इस पूरी प्रक्रिया से फाल्के को एक ऐसा मूलमंत्र मिल गया था जो उनसे पहले के फिल्मकार समझने में असमर्थ रहे। उन्हें समझ में आ गया था कि सिर्फ फिल्म निर्माण ही काफी नहीं हैं, उसका अच्छे से प्रचार करना भी उतना ही महत्वपूर्ण है। इस तरह फाल्के स्वयं अपनी फिल्म के वितरक भी बन गए।

फिल्म की अपार सफलता के पश्चात फाल्के ने नासिक में 'फाल्के फिल्म्स' के नाम से अपना एक स्टूडियो शुरु किया और समूचा परिवार फिल्म निर्माण के क्षेत्र में लग गया। जल्द ही उन्होंने 'भस्मासुर मोहिनी' (1913) नामक दूसरी फिल्म का निर्माण कर लिया।[10] यह फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' की अपेक्षा थोड़ी छोटी थी और जिसकी लंबाई 3245 फीट थी। यह पहला मौका था जब फाल्के को पार्वती और मोहिनी के किरदारों को निभाने के लिए दो महिलाओं की सहायता मिली। दुर्गा गोखले और कमला गोखले नामक मां-बेटी की इस जोड़ी ने यह भूमिकाएं

निभाई और फिल्म में अभिनय कर सिनेमा के इतिहास में सदा के लिए अपना नाम दर्ज कर लिया। फाल्के की तीसरी फिल्म 'सत्यवान सावित्री' अगले कुछ महीनों में बनकर तैयार थी और 1914 में रीलीज हुई।[11] दादा साहब फाल्के चित्रकार राजा रवि वर्मा की कला से बहुत प्रभावित थे, जिस प्रकार राजा रवि वर्मा हिंदू धार्मिक कथाओं को अपने केनवास में उकेर देते थे, उसी प्रकार फाल्के धार्मिक किरदारों को अपने चलित चित्रों में जीवंत रूप प्रदान कर देते थे। 'सत्यवान सावित्री' के बाद, फिल्म निर्माण से संबंधित बिजली-चलित कुछ मशीनें खरीदने हेतु फाल्के ने एक बार पुनः लंदन की ओर अपना रुख किया। वे साथ में अपनी कुछ फिल्में भी ले गए। फिल्म की उत्कृष्ट तकनीक से प्रभावित होकर कुछ स्टूडियो मालिकों ने उन्हें लंदन में ही फिल्में बनाने का प्रस्ताव दिया। परंतु फाल्के स्वदेश में ही फिल्म निर्माण को बढ़ावा देने का मोह त्याग न सके और उन प्रस्तावों को अस्वीकृत कर, भारत लौट आए।

बिजली-चलित उपकरणों का उपयोग, फाल्के फिल्म निर्माण के क्षेत्र में विश्व-स्तर पर भारत की अमिट छाप छोड़ने के लिए करना चाहते थे। परंतु प्रथम विश्व युद्ध ने एक बार पुनः परिस्थितियों को फाल्के और उनके सपनों के बीच अंतराल की स्थिति बना दी। आर्थिक संकट ने दोबारा फाल्के को आ घेरा। परंतु इन विपरीत परिस्थितियों में भी फाल्के और उनका परिवार फिल्म निर्माण के मोह को त्याग न सका और पुनः एकजुट और समर्पित होकर आगे बढ़े। काकी को दादा साहब की प्रतिभा पर अटूट विश्वास था इसलिए काकी ने विषम परिस्थितियों में भी दादा साहब का साथ नहीं छोड़ा और फिल्म निर्माण से लेकर संबंधित अन्य कार्यों में भी मदद की। फाल्के की निष्ठावान यूनिट जिसमें करीब 500 लोग शामिल थे जो आर्थिक संकट के वक्त आधे वेतन पर कार्य कर रहे थे, के लिए काकी अकेले भोजन तैयार करती, कपड़े और कास्ट्यूम धोती और बाद में खुद फिल्म निर्माण के कार्य में दादा साहब की मदद करती। इसी दौर में दादा साहब ने अपनी पुत्री मंदाकिनी से फिल्म 'कालिया मर्दन' में कृष्ण की भूमिका कराई तथा काकी को फिल्म 'लाइफ ऑफ श्रीयाल' में एक चरित्र निभाने को मनाया। काकी ने भूमिका निभाने से पूर्व दो शर्तें रखी। पहली ये कि स्वयं दादा साहब उनके नायक की भूमिका निभाएंगे और दूसरी यह कि काकी का नाम फिल्म प्रचार में शामिल ना किया जाए। काकी कि इन शर्तों से अंदाजा लगाया जा सकता है कि काकी दादा साहब की मदद तो हमेशा करती थीं लेकिन कैमरे के पीछे रहकर। अपने परिवार और निष्ठावान टीम के सहयोग से फाल्के ने युद्धकाल में ही 'लंका दहन' फिल्म का निर्माण किया। इस फिल्म ने बॉक्स ऑफिस पर सफलता के नए आयाम स्थापित किए। इसी फिल्म में सालुंके ने राम और सीता दोनों का चरित्र निभाया। सालुंके की फिल्म के सेट पर ही हर छह घंटे बाद दाढ़ी बनाने के लिए नाई तैनात रहता था। इस मामले में दादा की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म थी।[12] इस फिल्म की सफलता के पश्चात दादा साहब एक बार पुनः कामयाबी और प्रसिद्धि के शिखर पर पहुंच गए। कहते हैं इस पौराणिक फिल्म का ऐसा असर था कि जब-जब अभिनेता श्रीराम की भूमिका में पर्दे पर दृष्टिगोचर होता, तब-तब दर्शक श्रद्धावश अपने पैरों से जूते निकालकर अलग रख देते। फिल्म की सफलता का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि इससे अर्जित धनराशि को पुलिस के संरक्षण में बैलगाड़ियों में भरकर दादा साहब के घर पहुंचाया जाता था।[13]

1917 में 'फाल्के फिल्म्स' का 'हिंदुस्तान कंपनी' में विलय हो गया।[14] हिंदुस्तान फिल्म कंपनी के साथ भी फाल्के का सफलता की वही स्वर्ण गाथा अनवरत जारी रही। परिणाम स्वरूप

कंपनी के बैनर तले निर्मित 'श्रीकृष्ण जन्म' ने कामयाबी की नई आयतें लिखी। परंतु फिल्म की यही कामयाबी और आर्थिक सफलता फाल्के के हिंदुस्तान फिल्म कंपनी से अलगाव के कारण भी बनीं। व्यावसायिक भागीदारों द्वारा अनेक आर्थिक अड़चने डालने से खफा फाल्के ने बनारस को अपनी नई कार्य स्थली चुना और वहां उन्होंने एक नाटक लिखकर प्रदर्शित किया। परंतु फाल्के खुद को अपने पहले प्रेम, फिल्म निर्माण से ज्यादा दिनों तक पृथक नहीं रख पाए। वे 1922 में एक बार फिर हिंदुस्तान फिल्म कंपनी लौट आए। लेकिन तब तक स्थितियां बहुत परिवर्तित हो चुकी थी। शुरुआती दौर में जहां धार्मिक फिल्मों का प्रभुत्व था वहीं अब दूसरे विषयों पर निर्मित फिल्में सिनेमा में हावी होने लगी थी। नए-नए फिल्मकार फिल्म निर्माण के क्षेत्र में उतर चुके थे तथा उनके द्वारा बनाई गई सामाजिक एवं ऐतिहासिक फिल्में दर्शकों को खूब रास आ रही थी। फाल्के अपनी ही बनाई दुनिया में खुद को अजनबी सा महसूस कर रहे थे। विपरीत परिस्थितियों और ढलती उम्र के बावजूद फाल्के ने एक बार फिर हिम्मत की और खुद को चुनौतियों के लिए तैयार किया। उन्होंने फिल्म निर्माण से बहुत आर्थिक लाभ कमाया परंतु सारी पूंजी वे वापस फिल्मों में ही लगा देते।

14 मार्च 1931 में सिनेमा को आवाज मिली[15] और मूक फिल्मों का दौर पीछे छूट गया। 1931 में ही दादा साहब की अंतिम मूक फिल्म 'सेतु बंधन' आई।[16] परंतु अब सिनेमा को आवाज मिल चुकी थी इस कारण 'सेतु बंधन' में आवाज डालने (डबिंग) के बाद पुनः रिलीज किया गया।

बीस फीचर फिल्में और करीबन सौ लघु फिल्में बनाने वाले दादा साहब की जमा पूंजी में टका भी न था, इसलिए उन्हें आजीविका अर्जित करने के लिए निर्देशक के रूप में पुनः फिल्म उद्योग से जुड़ना पड़ा।[17] पिछले बीस वर्षों में दादा साहब अनेकों फिल्में बना चुके थे। 64 वर्ष की उम्र में दादा साहब ने कैमरा थामा और कोल्हापुर सिनेटोन के लिए हिंदी व मराठी में धार्मिक फिल्म 'गंगावतरण' बनाई। इस फिल्म को निर्मित होने में करीब दो साल का समय और तकरीबन दो लाख रुपये खर्च हो गए। 6 अगस्त, 1937 को यह फिल्म बॉम्बे के रॉयल ओपरा हाउस में प्रदर्शित हुई।[18] अद्‌भुत कलाकारी और बेहतर चित्रण के बावजूद फिल्म बॉक्स ऑफिस पर सफल नहीं हो सकी। परंतु रॉयल ओपरा हाउस में प्रदर्शित होने वाली प्रथम फिल्म का सम्मान इसे जरूर मिला। निर्देशक के रूप में दादा साहब की यह पहली सवाक फिल्म थी और साथ ही यह उनकी बनाई अंतिम फिल्म भी साबित हुई।[19] बिगड़ते स्वास्थ्य ने उन्हें फिल्म निर्माण से विमुख कर दिया। यह कैसी विडंबना है कि जिस शख्स ने भारत में सिनेमा रूपी बीज को बोया जिसकी फसल आज भी फिल्मकार बड़े गर्व और हक से काट रहे हैं और विश्व पटल पर पहचान दिलाई, वही शख्स अपने अंतिम दिनों में खुद अपनी पहचान से वंचित हो गया। फिल्मी दुनिया की चकाचौंध और फिल्मी लोगों से दूर 16 फरवरी, 1944 को नासिक में[20] दादा साहब फाल्के ने इस संसार को अलविदा कह दिया।

सम्मान जो जीते जी ना मिला :

1930 का दशक दादा साहब के लिए मुसीबतों भरा रहा। सिनेमा के जनक कहे जाने वाले और अपने समय के महान फिल्म निर्माणकर्ता को यह दशक रास नहीं आया। दादा साहब 1920 से 30 के दशक में आखिरी कुछ वर्ष सिनेमा से दूर हो गए थे। यही कारण रहा कि जब दादा साहब पुनः सिनेमा में वापस होते हैं तो उनको सिनेमा बदला हुआ नजर आता है। अब सिनेमा

की प्रस्तुती और विषय बदल चुके थे और दादा साहब इस बदलाव को अपनी निर्माणकला में शामिल नहीं करना चाहते थे। वे सिनेमा को एक पवित्र कला के रूप में देखते थे। सिनेमा की दुनिया ने अब उन्हें भूला दिया। सिनेमा का पितामह अब गुमनामी के अंधेरों में गुम हो गया था और उसका बनाया हुआ सिनेमा जोर-शोर से रोशन हो रहा था। दादा साहब को इस बात का हमेशा दुख रहा कि सिनेमा और सिनेमा के लोगों ने उन्हें जीते जी भूला दिया।

फाल्के पुरस्कार और सम्मानित हस्तियां :

सिनेमा में वैसे तो अनेकों सम्मानों की प्रतिवर्ष घोषणा की जाती है लेकिन 'दादा साहब फाल्के' सम्मान की घोषणा का सबको वेसब्री से इंतजार रहता है क्योंकि यह सम्मान सिनेमा का सबसे महत्वपूर्ण सम्मान है, जिसे पाना हर सिनेकर्मी का सपना होता है। 1969 से प्रतिवर्ष सिनेमा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान के लिए दिए जा रहे इस सम्मान से वर्ष 2013 तक निम्नलिखित सिनेकर्मियों जिनमें अभिनेता, अभिनेत्री, संगीतकार, निर्देशक, गायक, गायिका, सिनेमैटोग्राफर, लेखक, निर्माता, गीतकार आदि को सम्मानित किया जा चुका है। सम्मानित विभूतियों के नाम इस प्रकार हैं

1. 1969, श्रीमती देविकारानी, अभिनेत्री, आंध्र प्रदेश।
2. 1970, बी एन सरकार, निर्माता, पश्चिम बंगाल।
3. 1971, पृथ्वीराज कपूर, अभिनेता (मरणोपरांत), पंजाब।
4. 1972, पंकज मलिक, संगीतकार, पश्चिम बंगाल।
5. 1973, सुलोचना (रूबी मेयर्स), अभिनेत्री, महाराष्ट्र।
6. 1974, बोमिरेड्डी नरसिम्हा रेड्डी, निर्देशक, आंध्र प्रदेश।
7. 1975, धीरेन गांगुली, अभिनेता, निर्देशक, पश्चिम बंगाल।
8. 1976, काननदेवी, अभिनेत्री, गायिका, पश्चिम बंगाल।
9. 1977, नितिन बोस, सिनेमैटोग्राफर, लेखक एवं निर्देशक, पश्चिम बंगाल।
10. 1978, रायचंद बोराल, संगीतकार, निर्देशक, पश्चिम बंगाल।
11. 1979, सोहराब मोदी, अभिनेता, निर्माता एवं निर्देशक, महाराष्ट्र।
12. 1980, पैड़ी जयराज, अभिनेता, निर्देशक, आंध्र प्रदेश।
13. 1981, नौशाद अली, संगीतकार, निर्देशक, उत्तर प्रदेश।
14. 1982, एल बी प्रसाद, अभिनेता, निर्माता एवं निर्देशक, आंध्र प्रदेश।
15. 1983, दुर्गा खोटे, अभिनेत्री, महाराष्ट्र।
16. 1984, सत्यजित राय, निर्देशक पश्चिम बंगाल।
17. 1985, वी शांताराम, अभिनेता, निर्माता एवं निर्देशक, महाराष्ट्र।
18. 1986, बी नागी रेड्डी, निर्माता, आंध्र प्रदेश।
19. 1987, राजकपूर, अभिनेता, निर्देशक, महाराष्ट्र।
20. 1988, अशोक कुमार, अभिनेता, बिहार।
21. 1989, लता मंगेशकर, गायिका, महाराष्ट्र।
22. 1990, अक्कीनेनी नागेश्वर राव, अभिनेता, आंध्र प्रदेश।
23. 1991, भालजी पेंढारकर, लेखक, निर्माता एवं निर्देशक, महाराष्ट्र।
24. 1992, भूपेन हजारिका, कवि, लेखक, पत्रकार, गायक, संगीतकार एवं अभिनेता, असम।

25. 1993, मजरूह सुल्तानपुरी, गीतकार, उत्तर प्रदेश।
26. 1994, दिलीपकुमार, अभिनेता, महाराष्ट्र।
27. 1995, डॉ. राजकुमार, अभिनेता, कर्नाटक।
28. 1996, शिवाजी गणेशन, अभिनेता, तमिलनाडु।
29. 1997, कवि प्रदीप, गीतकार, मध्य प्रदेश।
30. 1998, बी आर चोपड़ा, निर्माता, निर्देशक पंजाब।
31. 1999, ऋषिकेश मुखर्जी, निर्देशक, पश्चिम बंगाल।
32. 2000, आशा भोसले, गायिका, महाराष्ट्र।
33. 2001, यश चोपड़ा, निर्माता, निर्देशक, पंजाब।
34. 2002, देव आनंद, अभिनेता, निर्माता एवं निर्देशक, पंजाब।
35. 2003, मृणाल सेन, निर्देशक, पश्चिम बंगाल।
36. 2004, अडूर गोपालकृष्णन, लेखक, निर्माता एवं निर्देशक, केरला।
37. 2005, श्याम बेनेगल, निर्देशक, आंध्र प्रदेश।
38. 2006, तपन सिन्हा, निर्देशक, पश्चिम बंगाल।
39. 2007, मन्ना डे, गायक, पश्चिम बंगाल।
40. 2008, वी के मूर्ति, सिनेमैटोग्राफर, कर्नाटक।
41. 2009, डी रामानायडू, निर्माता, निर्देशक, आंध्र प्रदेश।
42. 2010, के बालचंदर, निर्देशक, तमिलनाडु।
43. 2011, सौमित्र चटर्जी, अभिनेता, पश्चिम बंगाल।
44. 2012, प्राण किशन सिकंद, अभिनेता, दिल्ली।

फाल्के और वर्तमान सिनेमा की धारा :

कहते हैं बदलाव प्रकृति का नियम है और हर बदलाव अपने साथ कुछ नयापन लेकर आता है जो मानव जाति तथा समाज के लिए उपयोगी एवं फायदेमंद हो। बहरहाल बदलाव भले अपने साथ नवीनता संजोए रहता है परंतु कुछ क्षेत्र है जहां ये उपयोगी साबित नहीं होते। यह तथ्य हिंदी सिनेमा पर सटीक बैठता है। हिंदी सिनेमा पिछले कुछ दशकों में, संपूर्ण बदलाव के दौर से गुजरा और वर्तमान में एक बिल्कुल नए अवतार में हमारे सामने है।

फिल्म निर्माण की कला एक बिल्कुल नए रूप में हमारे समक्ष है चाहे वो फिल्मों की विषयवस्तु हो, संगीत हो, फिल्मांकन हो, तकनीकी, वितरण पद्धति हो या प्रचार के तरीके। हर क्षेत्र में एक नया पक्ष है कुछ ऐसा जो शुरुआती दौर में किसी स्वप्न से कम न था। तकनीक ऐसी कि हर किसी को दॉतों तले उंगली दबाने पर मजबूर कर दे चाहे वो फिल्म 'रोबोट' में नायक का पीछा करते हुए मशीनी मानव का अलग-अलग छदम रूप धारण करना हो या फिल्म 'रॉ-वन' में मशीनी मानव बने नायक शाहरुख खान का बुलेट की रफ्तार से भागती ट्रेन पर दौड़ना, रोहित शेट्टी की फिल्मों में गाड़ियों को हवा में लहराते हुए नायक के सिर के ऊपर से निकल जाना हो या 'जिंदगी न मिलेगी दोबारा' की समुद्र में स्कूबा डाइविंग, तकनीकी ने सब कुछ बदल दिया है। बहरहाल ये सभी कदम स्वागत-योग्य हैं। परंतु फिर भी एक ऐसा तथ्य है जो इन सारी खूबियों के बावजूद वर्तमान सिनेमा को प्रारंभिक दौर के सिनेमा के समक्ष बौना सिद्ध कर रहा है। ऐसा नहीं कि गुणवत्तापूर्ण फिल्में बननी बंद हो गई हैं परंतु सामाजिक परिवेश, तथा भारतीय दर्शकों

की विशिष्ट पसंद, प्राथमिकताओं, मूल्यों तथा संवेदनाओं को देखते हुए ऐसी फिल्मों की संख्या नगण्य है। ऐसा प्रतीत होता है मानो आज का सिनेमा समाज में हो रहे तकनीकी विकास तथा संचार क्रांति से समरसता स्थापित कर अपना अस्तित्व बचाने का प्रयास कर रहा है। इस प्रक्रिया में फिल्म निर्माता इस महत्वपूर्ण तथ्य को पूर्णतः नजरअंदाज कर रहे हैं कि लोग (दर्शक) अभी भी अपनी सदियों पुरानी परंपरा, मूल्यों तथा भावनाओं से जुड़े हुए हैं। उनके लिए विकास सिर्फ जीवन को और आरामदेह बनाने का जरिया है ना कि उनकी भावनाओं और मूल्यों की प्रतिपूर्ति करने का कोई विकल्प और यहीं वे धोखा खा गए और नतीजा फ्लॉप फिल्मों की लंबी फेहरिस्त के रूप में हमारे सामने है।

तकनीकी रूप से आज के फिल्मकारों से काफी पीछे दादा साहब दर्शकों के इस स्वभाव से भली-भांति परिचित थे। वे अच्छी तरह जानते थे कि संस्कार तथा धार्मिक भावनाओं की जड़ें भारतीयों के हृदय में काफी गहरी हैं। वे इस तथ्य को पूर्णतः मानते थे कि समाज भले ही कितना भी भौतिकवादी और अवसरवादी हो जाए, मशीनी युग के प्रभाव से धर्म का बाहरी रूप कितना भी बदल जाए परंतु यथार्थ में एक आम आदमी का विश्वास कभी शिथिल नहीं होगा। 20 वर्षों में दादा साहब ने 117 फिल्मों का निर्माण किया। परंतु उनकी हर फिल्म दर्शकों की सामाजिक तथा धार्मिक अवधारणा को संतुष्ट करती है। यहां तक कि जब दादा साहब अपनी फिल्म यात्रा के दौरान असफलता के दौर से गुजर रहे थे और उनके समकालीन फिल्मकार अपनी फिल्मों में अभद्र दृश्यों का समावेश कर सफलता के घोड़े पर सवार शोहरत की बुलंदियों को छू रहे थे, तब भी दादा साहब ने अपने आदर्शों तथा मान्यताओं को कभी दांव पर नहीं रखा। उनके जिंदा रहते फिल्मी दुनिया के लोग उन्हें भूल गए। इसका दुःख उन्हें जीवन के अंत तक रहा। उनकी मृत्यु के बाद सन् 1969 से सिनेमा के क्षेत्र में सर्वाधिक योगदान करने बाले व्यक्ति को दादा साहब फाल्के के नाम से फिल्मी दुनिया का सर्वोच्च सम्मान प्रदान किया जाता है। दादा साहब ने हमेशा आम लोगों के लिए फिल्में बनाई शायद इसलिए उनकी हर फिल्म वास्तविकता, सामाजिक तथा धार्मिकता के धरातल पर आधारित थी। परंतु इसके विपरीत आज के फिल्मकार फिल्मों का निर्माण उन कुछ मुठ्ठी भर लोगों के लिए करते हैं जिनकी पहुंच मल्टीप्लेक्सों तक सीमित है। फिल्म निर्माण के जरिए धन एकत्रित करने की अपनी असीमित लालसा के चलते आज के फिल्मकार समाज से हटते चले जा रहे हैं। अपने सामाजिक दायित्वों तथा मूल्यों की अनदेखी कर ये फिल्मकार धन कमाने की होड़ में लगे हुए हैं।

व्यावसायिकता तथा भूमंडलीकरण के आगमन ने आग में घी डालने का काम किया। अब इन फिल्मकारों की लालसा राष्ट्रीय सीमा पारकर अंतरराष्ट्रीय जमीन तक पहुंच गई है। भूमंडलीकरण ने इन फिल्मकारों को मौका दिया कि वे अपनी फिल्में दुनिया के दूसरे छोर पर प्रदर्शित कर सके। आज सिनेमा की गुणवत्ता का मूल्यांकन इस बात पर आधारित होता है कि रिलीज होते ही किस फिल्म ने कितनी कमाई की। मल्टीप्लेक्स संस्कृति ने इसे और अधिक प्रबलता प्रदान की है। समाज को आइना दिखाने के ध्येय से सिनेमा का निर्माण अब अतीत का विषय बन चुका है। महंगाई और आर्थिक मुश्किलों को झेलते आम लोगों का हाल सिनेमा द्वारा अब किसी भी कोण से परिभाषित नहीं होता। भूमंडलीकरण ने जिन विकृतियों को जन्म दिया है सिनेमा ने उसे स्वीकृति देकर विज्ञापित किया है।

ये तथ्य सभी फिल्मी प्रेमियों के लिए निराशाजनक हैं। हम अपने मूल संस्कृति तथा उद्देश्यों

को बिखराकर सिर्फ दूसरे देशों की संस्कृति की अंधी नकल करने में मशगूल है। भारत में सिनेमा के 100 वर्ष पूर्ण होने के अवसर पर हमें सिनेमा के मूल उद्देश्यों सामाजिक दायित्वों को पुनः परिभाषित करने की आवश्वयकता है।

संदर्भ गंथ :

1. नई दुनिया, फिल्म विशेषांक 1996, भारत में सिनेमा, इंदौर, पृ. 169।
2. वही, पृ. 168।
3. वही।
4. वही।
5. वही।
6. आजकल, मासिक, जुलाई 2006, पृ. 36।
7. नई दुनिया, फिल्म विशेषांक 1996, भारत में सिनेमा, इंदौर, पृ. 173।
8. वही पृ. 168।
9. वही। पृ. 173।
10. वही।
11. वही।
12. वही पृ. 168।
13. आजकल, मासिक, जुलाई 2006, पृ. 37।
14. वही।
15. नई दुनिया, फिल्म विशेषांक 1996, भारत में सिनेमा, इंदौर, पृ. 167।
16. वही पृ. 169।
17. आजकल, मासिक, जुलाई 2006, पृ. 37।
18. नई दुनिया, फिल्म विशेषांक 1996, भारत में सिनेमा, इंदौर, पृ. 169।
19. आजकल, मासिक, जुलाई 2006, पृ. 37।
20. नई दुनिया, फिल्म विशेषांक 1996, भारत में सिनेमा, इंदौर, पृ. 169।

सहायक संदर्भ :

1. एक सौ वर्षों की सचित्र कहानी, भारत में सिनेमा 1896 से 1996, नई दुनिया, फिल्म विशेषांक 1996, इंदौर।
2. भारत, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 2009, 2010, 2011, 2012।
3. सिनेमा और संस्कृति, राही मासूम रजा, प्रो. कुंवरपाल सिंह (संपादन एंव संकलन) प्रकाशक- वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001।
4. मीडिया और बाजारवाद, रामशरण जोशी, प्रकाशक- राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, जगतपुरी, दिल्ली, 2002।
5. सिनेमा की सोच, अजय ब्रह्मात्मज, प्रकाशक- वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
6. फिल्म पत्रकारिता, विनोद तिवारी, प्रकाशक- वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007।
7. जनसंचार, राधेश्याम शर्मा, प्रकाशक- हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, हरियाणा, 1999।

8. भारतीय सिनेमा का अंतःकरण, विनोद दास, प्रकाशक- मेधा बुक्स, दिल्ली, 2003।
9. मीडिया नगर 02 (उभरता मंजर) प्रकाशक- वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005।
10. आजकल, मासिक जुलाई 2006।
11. अहा जिंदगी (फिल्म विशेषांक), अंक, जनवरी, 2008, प्रकाशक- भास्कर समूह, नई दिल्ली।
12. अहा जिंदगी (सिनेमा विशेषांक), अंक, जून, 2012, प्रकाशक- भास्कर समूह, नई दिल्ली।
13. हंस पत्रिका, हिंदी सिनेमा के सौ साल, विशेषांक, (फरवरी-2013)।
14. योजना, अंक, नवंबर, 2005, प्रकाशक- प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली।
15. मीडिया विमर्श (फिल्म विशेषांक), अंक, जनवरी-मार्च, 2009, (फिल्म विशेषांक), अंक, जनवरी-मार्च, 2013, प्रकाशक- युगबोध डिजिटल प्रिंटर्स, रायपुर, छत्तीसगढ़।
16. www.imdb.com
17. www.bollywoodhungama.com
18. www.wikipedia.org
19. www.boxofficeindia.com
20. www.movieindustrymarketing.com
21. www.raaga.com
22. www.ask.com
23. www.wherelncity.com
24. www.timesofindia.indiatimes.com
25. www.the-numbers.com
26. www.bollywoodtrade.com
27 www.indianfilmtrade.com

(लेखक म.गां.अं.हि.वि., वर्धा के संचार एवं मीडिया अध्ययन केंद्र में सहायक प्रोफेसर हैं)

'चित्रलेखा' और सिनेमाई रूपांतरण की समस्याएं

जवरीमल्ल पारख

भगवतीचरण वर्मा के प्रख्यात उपन्यास 'चित्रलेखा'* का प्रकाशन 1934 में हुआ था, उस समय वह 31 वर्ष के थे और एक कवि के तौर पर उनकी पहचान बनने लगी थी लेकिन 'चित्रलेखा' ने उन्हें एक उपन्यासकार के रूप में भी प्रतिष्ठित कर दिया। 'चित्रलेखा' ऐतिहासिक कल्पना पर आधारित उपन्यास है जो चंद्रगुप्त मौर्य के युग की कहानी हमारे सामने प्रस्तुत करता है। मुख्य कथा जिन पात्रों के माध्यम से सामने आती है, वे ऐतिहासिक नहीं हैं लेकिन उन्हें जिस देशकाल में पेश किया गया है और वे जैसा व्यवहार करते हैं, जो उनका सोच है, वह काफी हद तक उस दौर का प्रतिनिधित्व करता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि उपन्यास की कोई प्रासंगिकता नहीं है। जिस पाप-पुण्य का प्रश्न उपन्यास के केंद्र में है, वह ठीक उसी रूप में भले ही बहुत प्रासंगिक न हो, लेकिन इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि अब भी लोग लौकिक जीवन को अभिशाप की तरह देखते हैं और धर्म, अध्यात्म को ही मुक्ति का मार्ग समझते हैं। उपन्यास का मुख्य कथ्य इस प्रश्न से जुड़ा है कि क्या जीवन और जगत से वैराग्य अपने में कोई मूल्य है? जीवन में आसक्ति रखने वाले और जीवन का 'भोग' करने वाले क्या जीवन से भागने वालों की तुलना में तुच्छ होते हैं? क्या संसार में रहने वाले त्याग का मूल्य नहीं जानते? अनुभव महत्त्वपूर्ण है या पुस्तकीय ज्ञान? स्त्री और पुरुष को उनके आचरण से जानना चाहिए या उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा से? ऐसे कई प्रश्न हैं जो इस उपन्यास में उठाए गए हैं, जिनकी प्रासंगिकता से इनकार नहीं किया जा सकता। फिर भी, एक उपन्यास के रूप में 'चित्रलेखा' 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'दिव्या' की तुलना में साधारण उपन्यास है। नायिका के नाम पर आधारित होने के बावजूद चित्रलेखा में वह ओज और गरिमा नहीं है जो दिव्या में, निउनिया या भट्टिटीनी में दिखायी देती है। इस उपन्यास की प्रासंगिकता बहुत सीमित है, वैचारिक धरातल पर वह आधुनिक मूल्यों का वाहक है, लेकिन समाज के बुनियादी प्रश्नों से यह उपन्यास टकराने का साहस नहीं करता। उपन्यास निश्चय ही बहुत रोचक ढंग से लिखा गया है और जो दार्शनिक प्रश्न उठाए गए हैं उन्हें ग्रहण करने में पाठकों को उलझन नहीं होती।

इस उपन्यास की कथा बहुत सीधी-सादी है। महाप्रभु रत्नांबर के दो शिष्य श्वेतांक और विशालदेव यह जानना चाहते हैं कि पाप क्या है और पुण्य क्या है लेकिन रत्नांबर के पास इसका कोई बना-बनाया उत्तर नहीं है। उनका मानना है कि पाप और पुण्य की पहचान संसार में रहकर ही हो सकती है। अपने अनुभवों से मनुष्य अच्छे और बुरे का ज्ञान प्राप्त करता है। अनुभव हासिल करने के लिए वह अपने इन दोनों शिष्यों को दो अलग-अलग व्यक्तियों के पास भेजता है। श्वेतांक को सामंत बीजगुप्त के पास भेजता है जो रत्नांबर के अनुसार 'भोगी' है और विशालदेव को कुमारगिरि के पास जो 'योगी' है। रत्नांबर के अपने शब्दों में, ''कुमारगिरि योगी है, उसका दावा है कि उसने

संसार की समस्त वासनाओं पर विजय पा ली है। संसार से उसको विरक्ति है, और अपने मतानुसार उसने सुख को भी जान लिया है, उसमें तेज है और प्रताप है; उसमें शारीरिक बल है और आत्मिक बल है। जैसा कि लोगों का कहना है, उसने ममत्व को वशीभूत कर लिया है। कुमारगिरि युवा है; पर यौवन और विराग ने मिलकर उसमें एक अलौकिक शक्ति उत्पन्न कर दी है। संसार उसका साधन है और स्वर्ग उसका लक्ष्य' (चित्रलेखा, पृ. 9)। इसके विपरीत, रत्नांबर के अनुसार, 'बीजगुप्त भोगी है; उसके हृदय में यौवन की उमंग है और आंखों में मादकता की लाली। उसकी विशाल अट्टालिकाओं में भोग-विलास नाचा करते हैं; रत्नजटित मदिरा के पात्रों में ही उसके जीवन का सारा सुख है। वैभव और उल्लास की तरंगों में वह केलि करता है, ऐश्वर्य की उसके पास कमी नहीं है। उसमें सौंदर्य है, और उसके हृदय में संसार की समस्त वासनाओं का निवास। उसके द्वार पर मातंग झूमा करते हैं; उसके भवन में सौंदर्य के मद से मतवाली नर्तकियों का नृत्य हुआ करता है। ईश्वर पर उसे विश्वास नहीं, शायद उसने कभी ईश्वर के विषय में सोचा तक नहीं है। और स्वर्ग तथा नरक की उसे कोई चिंता नहीं। आमोद और प्रमोद ही उसे जीवन का साधन है तथा लक्ष्य भी है' (चित्रलेखा, पृ.9)।

यही बीजगुप्त चित्रलेखा से प्यार करता है। चित्रलेखा नर्तकी है। लेकिन यही उसकी पहचान नहीं थी। उपन्यास के अनुसार वह ब्राह्मण विधवा थी। विधवा होने के समय उसकी उम्र महज अठारह वर्ष की थी। वैधव्य के दौरान ही कृष्णादित्य नामक युवक उसके जीवन में आया जो क्षत्रिय पिता और शूद्र का पुत्र था। दोनों में प्रेम हुआ लेकिन उनके प्रेम को समाज की स्वीकृति नहीं मिली। कृष्णादित्य और चित्रलेखा को उनके माता-पिता ने त्याग दिया। उन दोनों को दर-दर की ठोकरें खानी पड़ी। कृष्णादित्य यह दुख सहन न कर सका और उसने आत्महत्या कर ली। कृष्णादित्य से चित्रलेखा को जो संतान उत्पन्न हुई वह भी जीवित नहीं रह सकी। चित्रलेखा के लिए जब सब दरवाजे बंद हो गए तब एक नर्तकी ने उसे आश्रय दिया जहां उसने नृत्य और गायन सीखा। वे ही उसके जीवन के सहारे बने। उसके सौंदर्य और कला की ख्याति चारों ओर फैलने लगी। इसी दौरान बीजगुप्त के संपर्क में भी आयी और दोनों एक दूसरे से प्रेम करने लगे। मृत्युंजय नामक सामंत अपनी पुत्री यशोधरा का विवाह बीजगुप्त से करना चाहते हैं लेकिन चित्रलेखा इसमें सबसे बड़ी बाधा है। चित्रलेखा को बीजगुप्त से अलग करने के लिए मृत्युंजय कुमारगिरि की सहायता लेता है। कुमारगिरि इसमें कामयाब तो हो जाता है और बीजगुप्त को अपने बंधन से मुक्त करने के लिए चित्रलेखा कुमारगिरि की शरण में चली जाती है।

अपनी तपस्या और संयम पर गर्व करने वाला कुमारगिरि चित्रलेखा के सौंदर्य के आगे अपने को विवश पाता है और वह स्वयं उसके सौंदर्य जाल में फंस जाता है। यहां तक कि चित्रगुप्त का प्यार पाने के लिए वह झूठ का सहारा लेता है और चित्रलेखा को यशोधरा से बीजगुप्त के विवाह का झूठा समाचार सुनाकर उसे अपनी वासना का शिकार बनाता है। जबकि बीजगुप्त यशोधरा के सौंदर्य से प्रभावित होते हुए भी चित्रलेखा को भुला नहीं पाता। यही नहीं जब बीजगुप्त को मालूम पड़ता है कि श्वेतांक यशोधरा से प्रेम करने लगा है और उससे विवाह करना चाहता है, तो वह अपनी संपत्ति और सम्राट चंद्रगुप्त के दरबार में मिला सम्मान सभी कुछ श्वेतांक को दे देता है। चित्रलेखा को जब कुमारगिरि के झूठ की जानकारी मिलती है तो उसका मन घृणा से भर जाता है और वह कुमारगिरि का आश्रम छोड़ देती है। बीजगुप्त अपने ऐश्वर्य और विलासिता पूर्ण जीवन का त्याग कर पाटलिपुत्र से प्रस्थान कर जाता है और चित्रलेखा भी सबकुछ त्यागकर बीजगुप्त के साथ चली

जाती है।

इस उपन्यास की मुख्य शक्ति प्रेमकथाएं नहीं हैं। विभिन्न प्रेमकथाएं जो एक दूसरे से टकराती आगे बढ़ती हैं वह कहना लेखक का उद्देश्य नहीं है। लेखक का उद्देश्य उन दार्शनिक सवालों पर जीवनानुभवों के माध्यम से बहस करना है, जो विभिन्न पात्रों के माध्यम से हमारे सामने आते हैं। इस उपन्यास के सभी प्रमुख पात्र इस बहस में हिस्सेदारी करते हैं। पाप और पुण्य के अलावा भी कई प्रश्न उपन्यास में सामने आते हैं। मसलन, उपन्यास के पहले ही परिच्छेद में चित्रलेखा और बीजगुप्त मदिरापान करते हुए इस प्रश्न पर विमर्श करते हैं कि 'जीवन का सुख क्या है?' 'यौवन का अंत क्या है?' व्यक्ति और समुदाय के बीच संबंध क्या है? ये और ऐसे कई प्रश्न उपन्यास में निरंतर सामने आते हैं और पात्र अपने-अपने ढंग से उनका उत्तर देने का प्रयत्न करते हैं। उपन्यास में वैचारिक बहसें कोई नई चीज नहीं है। रवींद्रनाथ टैगोर, प्रेमचंद, हजारीप्रसाद द्विवेदी, यशपाल आदि लेखकों के उपन्यासों में भी विस्तृत वैचारिक बहसें देख सकते हैं लेकिन जब किसी उपन्यास का फिल्मांतरण किया जाता है, तब उसमें चलने वाली वैचारिक बहसों को यथावत पेश करना आसान नहीं होता। उपन्यास का आस्वादन पाठक पढ़कर उठाते हैं। उसे सुविधा होती है कि वह पढ़े गए हिस्से को बार-बार पढ़कर उसको समझने का प्रयत्न करे लेकिन फिल्म के साथ यह सुविधा नहीं है। उसे तो समय के प्रवाह में अनवरत देखना होता है। सुनने में एकाग्रता की ज्यादा आवश्यकता होती है और फिल्म देखते वक्त जो कहा जा रहा है उसको उतनी एकाग्रता से ग्रहण नहीं किया जा सकता। लंबे-लंबे और जटिल विचार विमर्श से सामान्य दर्शक दूर छिटक जाते हैं। हिंदी फिल्मों का सामान्य दर्शक मनोरंजन के लिए फिल्म देखता है और मनोरंजन की उसकी समझ भी सतही होती है जिसमें प्रेम कहानियां, खलनायक या खलनायिका, विदूषक और उनका फूहड़ हास्य और गीत, संगीत, नृत्य यही उसकी मनोरंजन की समझ है। इसलिए गंभीर से गंभीर विषय पर बनी फिल्मों में भी जब ये मसाले डालने की कोशिश की जाती है, तो उसकी गंभीरता क्षतिग्रस्त हो जाती है। 'चित्रलेखा' पर आधारित फिल्म के साथ भी कुछ ऐसी ही दुर्घटना होती है।

'चित्रलेखा' पर प्रख्यात फिल्मकार केदार शर्मा ने दो बार फिल्म बनाई। पहली बार 1941 में और दूसरी बार 1964 में। केदार शर्मा जिनका पूरा नाम किदारनाथ शर्मा (1910-1999) है, बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उनकी दर्शनशास्त्र, कविता, चित्रकला और छायांकन में समान रुचि थी और उन्होंने अंग्रेजी में एम. ए. तक शिक्षा प्राप्त की थी। उनका सिनेमा के प्रति विशेष आकर्षण था। पढ़ाई पूरी कर एक फिल्मकार के रूप में अपना कैरियर बनाने के लिए प्रख्यात फिल्म कंपनी न्यू थिएटर्स के निर्देशक देवकी बोस के साथ काम करने के लिए कलकत्ता पहुंच गए। कुछ समय बेरोजगारी में बिताने के बाद उन्हें न्यू थिएटर्स में पोस्टर बनाने और स्थिर छायांकन करने का काम मिला। इस दौरान उनकी मित्रता पृथ्वीराज कपूर और कुंदनलाल सहगल से हो गई थी। धीरे-धीरे वे अपनी जगह बनाने की कोशिश करते रहे। उन्हें पहला महत्वपूर्ण कार्य न्यू थिएटर्स की ही फिल्म 'देवदास' (1935) में संवाद और गीत लिखने का मिला। यह बहुत बड़ी उपलब्धि थी। न्यू थिएटर्स की इस फिल्म के निर्देशक पी. सी. बरुआ थे और छायाकार बिमल राय। यह फिल्म बहुत लोकप्रिय हुई उनके लिखे गीत 'बालम आय बसो मोरे मन में' और 'दुख के दिन अब बीतत नाहीं' काफी लोकप्रिय हुए। निर्देशन के क्षेत्र में वे 1939 में आए जब उन्हें एक अधूरी फिल्म 'तुम्हारी जीत' को पूरा करने का अवसर मिला। इसी साल उन्होंने अपनी ही पटकथा पर बनी फिल्म 'औलाद'/'दिल ही तो है' का निर्देशन किया लेकिन उन्हें अपार प्रसिद्धी मिली 'चित्रलेखा' से जो 1941 में प्रदर्शित

हुई। उनका फिल्मी करिअर लगभग पांच दशकों में फैला था जिसमें निर्देशन, निर्माण, गीतकार, पटकथा लेखन, संवाद लेखन के अलावा अभिनय भी किया था। चित्रलेखा का निर्माण और निर्देशन उन्होंने दो बार किया था। उनके द्वारा निर्देशित अन्य प्रसिद्ध फिल्में हैं: 'नीलकमल' (1947), 'सुहागरात' (1948), 'बावरे नैन' (1950), 'जोगन' (1950), 'चित्रलेखा' (1964)। केदार शर्मा को कई अभिनेताओं और अभिनेत्रियों को पहली बार पेश करने का श्रेय भी दिया जाता है जिनमें महताब, राजकपूर, मधुबाला, गीताबाली, भारतभूषण, माला सिन्हा प्रमुख हैं। केदार शर्मा ने बच्चों के लिए भी बहुत सी फिल्मों का निर्माण किया था और 1956 में उनके निर्देशन में बनी फिल्म 'जलदीप' को वेनिस फिल्म समारोह में सर्वश्रेष्ठ बाल फिल्म का पुरस्कार प्राप्त हुआ था। इसी फिल्म को सर्वश्रेष्ठ बाल फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार भी मिला था।

1941 की फिल्म 'चित्रलेखा' उस वर्ष की दूसरी सर्वाधिक लोकप्रिय फिल्म थी। निर्देशन के अलावा इसकी पटकथा, संवाद और गीत भी केदार शर्मा ने लिखे थे। इसका संगीत उस्ताद झंडे खान और ए.एस.ज्ञानी ने दिया था। ए. एस. ज्ञानी ने कुमारगिरि की भूमिका भी निभाई थी। इस फिल्म की नायिका महताब थी जिसने चित्रलेखा की भूमिका निभायी थी। इससे पहले तक महताब ने स्टंट फिल्मों में ही काम किया था। चित्रलेखा के बाद महताब की गणना श्रेष्ठ अभिनेत्रियों में होने लगी। सोहराब मोदी की प्रसिद्ध फिल्म 'झांसी की रानी' में उन्होंने झांसी की रानी की भूमिका निभाई थी। सोहराब मोदी से ही महताब का विवाह भी हुआ। चित्रलेखा फिल्म से ही प्रसिद्ध अभिनेता भारतभूषण ने अपने फिल्मी करिअर की शुरुआत की थी। यह फिल्म कई दृष्टियों से उल्लेखनीय थी। इसके गीत भी काफी लोकप्रिय हुए। इसके कुछ गीत तो उपलब्ध हैं लेकिन काफी कोशिश के बाद भी एकाध दृश्यों और गानों को छोड़कर पूरी फिल्म प्राप्त न हो सकी।

केदार शर्मा ने इस फिल्म के बाद कई अन्य फिल्में बनाई जिनमें 'बावरे नैन' और 'जोगन' खासतौर पर उल्लेखनीय है। केदार शर्मा की दर्शनशास्त्र के प्रति अभिरुचि ने उन्हें ऐसी फिल्में बनाने के लिए प्रेरित किया जिनमें जीवन के प्रति नियतिवादी दृष्टि प्रकट होती है। 'बावरे नैन' में नायक चांद (राजकपूर) जिस लड़की तारा (गीता बाली) से प्रेम करता है, उससे शादी नहीं कर पाता और रजनी से शादी करता है जो साजिश करके तारा को चांद से दूर कर देती है लेकिन चांद जिस रजनी से शादी करता है, वह एक दुर्घटना में मारी जाती है और मरने से पहले चांद को बता जाती है कि उसी ने तारा को चांद से दूर किया था। जब चांद तारा की खोज में जाता है, तो वह भी नहीं मिलती क्योंकि उसकी भी मौत हो चुकी है। इसी तरह फिल्म जोगन में भी नियतिवाद का यह खेल नजर आता है। नायिका सुरभि (नरगिस) के कर्जदार पिता और शराबी भाई उसका विवाह एक बूढ़े आदमी से कर देते हैं। वह वहां से भाग जाती है और जोगन बन जाती है। जोगन के रूप में उसकी मुलाकात एक नास्तिक युवक विजय (दिलीप कुमार) से होती है जो उसके सौंदर्य और गायन से गहरा प्रभावित हो जाता है। सुरभि इस युवक के आकर्षण से अपने को बचाने की कोशिश करती है। दोनों गहरे अंतर्द्वंद्व से गुजरते हैं। सुरभि अपने जीवन की कहानी भी विजय को बताती है और अंततः उस गांव को छोड़ जाती है। जाते हुए वह विजय को गांव के बाहर एक पेड़ से आगे आने से मना कर देती है। विजय उसी पेड़ के पास जोगन का इंतजार करता है लेकिन बहुत समय बाद एक दूसरी जोगन आती है और उसे एक किताब देती है जो सुरभि ने देने के लिए कहा था जिसने मरते वक्त कहा था कि पेड़ के पास वह युवक उसका इंतजार कर रहा होगा, यह पुस्तक उसे दे देना। इस तरह इस फिल्म में भी नायिका और नायक अपनी-अपनी नियति से बंधे रहते हैं और उनका मिलन नहीं होता।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रेम और वैराग्य का द्वंद्व केदार शर्मा को काफी आकृष्ट करता रहा है। 'चित्रलेखा' पर दो बार फिल्म बनाने के पीछे संभवतः यही कारण रहा होगा। जिस उपन्यास पर उन्होंने 1941 में फिल्म बनाई थी, उसी पर 23 साल बाद उस पर दोबारा फिल्म बनाई। इन 23 सालों में बहुत कुछ बदल चुका था। 1941 में जब उन्होंने 'चित्रलेखा' का निर्देशन किया था, तब निर्देशन के क्षेत्र में प्रवेश किए हुए उन्हें दो-तीन साल ही हुए थे। यह दूसरी फिल्म थी जिसका निर्देशन करने के साथ-साथ उन्होंने इसकी पटकथा भी लिखी थी। लेकिन जब उन्होंने इसी उपन्यास पर दूसरी बार फिल्म बनाई, एक फिल्मकार के तौर पर वह उनके करिअर के उतार का समय था। यही कारण है कि इस फिल्म में संवाद लेखन और निर्देशन के अलावा कोई और दायित्व उन्होंने वहन नहीं किया। उसकी पटकथा राजेंद्र शर्मा से लिखवाई गई थी और गीत साहिर लुधियानवी से लिखवाए थे जबकि 1941 के गीत और संवाद केदार शर्मा ने स्वयं लिखे थे। 1964 में बनी 'चित्रलेखा' एक साधारण फिल्म साबित हुई और बॉक्स ऑफिस पर भी वह नाकामयाब रही।

1941 और 1964 की फिल्मों की पटकथा में क्या अंतर किया गया, दोनों फिल्में सामने न होने के कारण बताना मुश्किल है। फिर भी, उपलब्ध सामग्री के अनुसार, 1941 की 'चित्रलेखा' में बीजगुप्त नर्तकी चित्रलेखा के प्रेमपाश में बंधा हुआ है। मृत्युंजय अपनी बेटी यशोधरा की शादी उससे करना चाहता है और इसके लिए वह योगी कुमारगिरि की मदद लेता है लेकिन कुमारगिरि स्वयं चित्रलेखा के मोहपाश में बंध जाता है। अपने को इस तरह एक नर्तकी के आगे पराजित पाकर कुमारगिरि आत्महत्या कर लेता है। चित्रलेखा इस घटना से आहत होकर महल छोड़कर चली जाती है। दूसरी ओर, चित्रलेखा को कुमारगिरि की तरफ आकृष्ट हुआ देखकर बीजगुप्त अपने को इस पापकर्म से मुक्त करने के लिए गया चला जाता है। लेकिन वहां उसकी मुलाकात यशोधरा से होती है और वह उससे प्रेम करने लगता है। लेकिन जब उसे पता चलता है कि यशोधरा किसी अन्य से प्रेम करती है, तो वह स्त्री मात्र को माया समझने लगता है और संसार से उसे विरक्ति हो जाती है। वह निराश होकर संन्यासी बन जाता है। चित्रलेखा उसकी शिष्या बन जाती है।

यह स्पष्ट है कि 1941 की फिल्म उपन्यास का पूरा अनुकरण नहीं करती। उपन्यास का आरंभ चित्रलेखा और बीजगुप्त के प्रेम से होता है। मृत्युंजय अपनी बेटी यशोधरा का विवाह बीजगुप्त से करना चाहता है। लेकिन बीजगुप्त चित्रलेखा से बंधा होता है। मृत्युंजय कुमारगिरि की मदद से चित्रलेखा और बीजगुप्त को अलग करने की कोशिश करते हैं। उपन्यास में चित्रलेखा कुमारगिरि की तरफ आकृष्ट विवाह के प्रस्ताव से पूर्व ही हो जाती है। लेकिन जब बीजगुप्त के विवाह की बात सामने आती है, तब उसे कुमारगिरि के पास जाने का बहाना मिल जाता है। इस तरह चित्रलेखा द्वारा बीजगुप्त का त्याग उसके लिए आघात जैसा होता है। 1941 की फिल्म यहां तक उपन्यास का अनुकरण करती है। लेकिन इसके बाद उपन्यास में बीजगुप्त मृत्युंजय, यशोधरा और श्वेतांक के साथ वाराणसी चला जाता है। लेकिन फिल्म में बीजगुप्त गया जाता है। फिल्म में बीजगुप्त के गया जाने का उद्देश्य पापकर्म से मुक्ति है लेकिन उपन्यास में यह कारण नहीं है। फिल्म में भी कुछ समय के लिए बीजगुप्त चित्रलेखा से छिटककर यशोधरा की तरफ आकृष्ट होता है। लेकिन जैसाकि उपन्यास में कहा गया है उसका स्थायी अनुराग चित्रलेखा के प्रति ही होता है। हां यह अवश्य है कि बीजगुप्त को जब यशोधरा का प्यार नहीं मिलता तो वह स्त्री मात्र को माया समझने लगता है और संसार त्याग कर संन्यासी बन जाता है। चित्रलेखा के प्रति अपने वासनात्मक प्रेम से फिल्म में कुमारगिरि में ग्लानि पैदा होती है और वह आत्महत्या कर लेता है। लेकिन उपन्यास में कुमारगिरि

न सिर्फ आत्महत्या नहीं करता बल्कि उसमें ऐसी कोई ग्लानि भी नहीं पैदा होती। उपन्यास में बीजगुप्त अपनी संपत्ति, अपना वैभव और अपना पद सबकुछ त्याग देता है लेकिन यह नहीं कहा गया है कि वह संन्यासी हो जाता है। इसी तरह चित्रलेखा भी अपनी संपत्ति और वैभव त्याग देती है, लेकिन वह बीजगुप्त की शिष्या नहीं बनती जैसाकि फिल्म में बताया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि फिल्मकार इस बात से ज्यादा आकृष्ट है कि जो संन्यासी है वह भोगी बन जाता है और जो गृहस्थ है, संसार से अनुराग रखता है, वह संसार का त्याग कर योगी बन जाता है।

1964 में जब केदार शर्मा ने दुबारा 'चित्रलेखा' फिल्म बनाई तब उन्होंने कहानी में और भी कई परिवर्तन किए। यहां फिल्म के आरंभ में ही बीजगुप्त और यशोधरा की सगाई हो चुकी है और उनका विवाह होना है। चित्रलेखा उसके बाद बीजगुप्त के जीवन में प्रवेश करती है। जब बीजगुप्त को चित्रलेखा के मोहपाश में बंधा देखता है तो मृत्युंजय कुमारगिरि की मदद लेता है। कुमारगिरि चित्रलेखा के यहां जाकर उसे काफी भला-बुरा कहता है और उसे साधना और त्याग का उपदेश देता है। वह उसे बताता है कि वैभव और सौंदर्य जिस पर उसे नाज है, वह क्षणभंगुर है और एक दिन सब कुछ समाप्त हो जाएगा। मिट्टी की काया मिट्टी में मिल जाएगी। जीवन का आनंद साधना और तपस्या में है। लेकिन चित्रलेखा कुमारगिरि की बातों से प्रभावित नहीं होती। वरन उसका मानना है कि दूसरों को सुख पहुंचाना भी ईश्वर की साधना है और उसे इसी में आनंद आता है। साहिर के एक गीत के माध्यम से वह अपना जीवन दर्शन प्रस्तुत करती हैः

संसार से भागे फिरते हो, भगवान को तुम क्या पाओगे
इस लोक को अपना न सके, उस लोक में भी पछताओगे

उपन्यास में यह प्रश्न पाप और पुण्य को समझने के संदर्भ में आता है। लोक के प्रति अनुराग या उसका त्याग क्या सही है, इसी प्रश्न के इर्दगिर्द उपन्यास की रचना की गई है। इस गीत में भी पाप और पुण्य को परिभाषित करने की कोशिश की गई है :

ये पाप है क्या, ये पुण्य है क्या
रीतों पर धर्म की मोहरे हैं
हर युग में बदलते धर्म को कैसे आदर्श बनाओगे

उपन्यास में पाप और पुण्य की परिभाषा इस रूप में नहीं की गई है। वहां पाप और पुण्य को व्यक्ति के दृष्टिकोण से जोड़ा गया है। जो एक की नजर में पाप है, हो सकता है, दूसरे की नजर में वह पाप न हो। जीवनानुभव से ही पाप और पुण्य के बारे में व्यक्ति का दृष्टिकोण निर्मित होता है। साहिर के गीत में व्यक्त दृष्टिकोण सामाजिक और प्रगतिशील है :

ये भोग भी एक तपस्या है, तुम त्याग के मारे क्या जानो
अपमान रचयिता का होगा
रचना को अगर ठुकराओगे
हम कहते हैं जग अपना है,
तुम कहते हो, झूठा सपना है
हम जनम बिताकर जाएंगे,
तुम जनम गंवा कर जाओगे।

चित्रलेखा कुमारगिरि के तर्क से प्रभावित नहीं होती बल्कि अपने को अपमानित महसूस करती है। दासियों द्वारा शृंगार करते वक्त जब दासी बताती है कि उसके सिर के बालों में एक सफेद बाल

भी है तो उसे अपने बुढ़ापे का ध्यान आता है और उसके साथ ही कुमारगिरि की बातें भी। उसे महसूस होता है कि बीजगुप्त को अपने से बांधे रखना उचित नहीं है और उसे गृहत्याग कर कुमारगिरि की शरण में चले जाना चाहिए। वह अपने निर्णय के बारे में बीजगुप्त को भी बता देती है और उससे वचन लेती है कि वह उसे रोके नहीं और यशोधरा से विवाह कर ले। बीजगुप्त अनिच्छा से उसकी बात मान लेता है।

चित्रलेखा कुमारगिरि के आश्रम में पहुंच जाती है और उससे दीक्षा देने का आग्रह करती है। कुमारगिरि पहले तो तैयार नहीं होते। वह तर्क देते हैं कि एक योगी के लिए स्त्री का संसर्ग उचित नहीं है। लेकिन चित्रलेखा कहती है कि उन्हें स्त्री से क्यों डरना चाहिए। उन्होंने तपस्या द्वारा वासनाओं पर विजय प्राप्त की है। कुमारगिरि के सामने चित्रलेखा जिस तरह की चुनौती पेश करती है, उसके कारण उनके पास कोई विकल्प नहीं बचता और वह चित्रलेखा को दीक्षा देने के लिए तैयार हो जाते हैं। लेकिन चित्रलेखा का सौंदर्य धीरे-धीरे उनके मन में आकर्षण पैदा करने लगता है। उनका ध्यान साधना में नहीं लगता। चित्रलेखा को पाने की इच्छा इस हद तक बढ़ जाती है कि वह किसी भी कीमत पर उसे पाना चाहता है।

चित्रलेखा के जाने के बाद बीजगुप्त यशोधरा से विवाह का मन बना लेता है लेकिन इसी दौरान श्वेतांक यशोधरा पर मोहित हो जाता है और उससे विवाह करना चाहता है। यह बात वह बीजगुप्त को बताता है और वह चाहता है कि उसकी ओर से बीजगुप्त उसके विवाह की बात करे। बीजगुप्त असमंजस में पड़ जाता है। कुमारगिरि के लिए उसे चित्रलेखा का त्याग करना पड़ा और अब श्वेतांक के लिए यशोधरा का। वह मृत्युंजय के पास जाकर यशोधरा का विवाह श्वेतांक से करने का अनुरोध ा करता है लेकिन मृत्युंजय इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करता क्योंकि श्वेतांक सूर्यवंशी होते हुए भी निर्धन होता है। बीजगुप्त अपनी संपत्ति और अपना पद श्वेतांक को देने का निर्णय करता है और इस तरह यशोधरा और श्वेतांक के विवाह की सारी बाधाएं दूर कर देता है। यशोधरा बीजगुप्त और अपने पिता के निर्णय का सम्मान करते हुए इस विवाह के लिए तैयार हो जाती है।

कुमारगिरि में चित्रलेखा को पाने की इच्छा बढ़ने लगती है। अपने प्रति कुमारगिरि के बढ़ते मोह से चित्रलेखा परेशान रहने लगती है। कुमारगिरि के प्रति उसकी श्रद्धा और विश्वास डगमगाने लगते हैं। यहां तक कि वह कुमारगिरि का आश्रम छोड़कर बीजगुप्त के पास लौटने का निर्णय लेती है। जब कुमारगिरि को लगता है कि चित्रलेखा पर वह विजय नहीं प्राप्त कर पाएगा, तो वह झूठ का सहारा लेता है और उसे बताता है कि बीजगुप्त तो यशोधरा से विवाह कर रहा है। चित्रलेखा का दिल टूट जाता है। कुमारगिरि चित्रलेखा की इस मनःस्थिति का लाभ उठाता है और उसे अपनी वासना का शिकार बना लेता है। दूसरे दिन सुबह विशालदेव बताता है कि यशोधरा का विवाह श्वेतांक से हो रहा है और बीजगुप्त ने अपनी सारी संपत्ति श्वेतांक को दान कर दी है। चित्रलेखा के सामने कुमारगिरि की नीचता पूरी तरह उजागर हो जाती है। वह उसे धिक्कारते हुए आश्रम छोड़कर चली जाती है।

कुमारगिरि को एहसास होता है कि वह बहुत नीचे गिर गया है और इसका एक ही प्रायश्चित है, आत्महत्या। वह आश्रम छोड़ देता है। लेकिन गंगा में डूबने से पहले ही एक सांप उसे डस लेता है। वह किसी तरह गंगा के पास तक पहुंच जाता है लेकिन गंगा के किनारे नहीं पहुंच पाता। वह गंगा से प्रार्थना करता है कि उसे गंगा अपनी गोद में ले ले। गंगा उस तक बढ़ आती है और इस तरह कुमारगिरि इस जीवन से मुक्त हो जाता है। कुमारगिरि की आत्महत्या का प्रसंग उपन्यास में

नहीं है। कुमारगिरि से आत्महत्या केदार शर्मा ने पहली फिल्म में भी कराई थी।

बीजगुप्त पहले ही घर त्याग चुका है। चित्रलेखा उसे ढूंढती हुई उस तक पहुंच जाती है और इन दोनों के मिलन के साथ फिल्म समाप्त हो जाती है।

फिल्म और उपन्यास के कथानक में अंतर है और यह स्वाभाविक है। दोनों अलग-अलग माध्यम है। साहित्य रचना को फिल्म में रूपांतरित करने के लिए बदलाव करना जरूरी होता है। लेकिन कथानक में कुछ बदलाव फिल्मकार इसलिए भी करता है क्योंकि रचना की उसकी समझ भिन्न होती है। कथानक को उसी रूप में पेश करना न तो मुमकिन होता है और न ही जरूरी होता है। फिल्मकार माध्यम की उपयुक्तता के अलावा और भी कई कारणों से कहानी में बदलाव करता है। इस फिल्म में भी एक-दो प्रसंगों को छोड़कर कथानक कमोबेश उसी रूप में आगे बढ़ता है जिस रूप में उपन्यास में। उपन्यास के बहुत से प्रसंगों को छोड़ दिया गया है, तो कई नए पात्रों और प्रसंगों की उद्‌भावना भी की गई है। उपन्यास में यशोधरा और बीजगुप्त की सगाई नहीं होती सिर्फ मृत्युंजय की ओर से यह प्रस्ताव आता है। लेकिन फिल्म में आरंभ में ही बताया जाता है कि यशोधरा की सगाई बीजगुप्त से हो गई है। सगाई फिल्म में भी नहीं दिखाई गई है, उसे संवादों के माध्यम से ही बताया गया है। कहानी में यह परिवर्तन संभवतः इसलिए किया गया है कि उपन्यास में मृत्युंजय यह जानते हुए कि बीजगुप्त चित्रलेखा के मोहपाश में बंधा है, उससे अपनी बेटी का विवाह करना चाहता है क्योंकि सामंतों का एक साथ कई स्त्रियों से संबंध रखना बहुत सामान्य सी बात रही है। मृत्यंजय भी सामंत है और अपनी इकलौती बेटी यशोधरा के लिए बीजगुप्त उसे उपयुक्त वर लगता है। इसका कारण यही है कि 'बीजगुप्त उच्चकुल का नवयुवक था' (पृ. 80)। फिर भी, एक पिता के नाते वह यह भी चाहते हैं कि बीजगुप्त यदि चित्रलेखा से दूर हो जाए तो उसकी बेटी यशोधरा ज्यादा सुखी रहेगी। इसीलिए वह कुमारगिरि की मदद लेते हैं। लेकिन फिल्मकार ने महसूस किया होगा कि जो बात उपन्यास के पाठक बहुत आसानी से समझ सकता है, वह शायद फिल्म के दर्शकों के लिए उतनी तार्किक न लगे। यानी कि यदि बीजगुप्त किसी दूसरी स्त्री से बंधा है, भले ही वह नर्तकी हो, तो कोई पिता अपनी इकलौती बेटी की शादी का प्रस्ताव ऐसे व्यक्ति से कैसे कर सकता है। इस प्रकार उपन्यास का एक प्रसंग जो सामंती समाज के लिए बहुत सामान्य परिघटना है, फिल्मकार को उपयुक्त नहीं लगती और वह उसे बदल देता है। लेकिन यहां तब नया प्रश्न पैदा होता है। बीजगुप्त की यशोधरा से सगाई हो चुकी है, ऐसी स्थिति में क्या उसके लिए किसी अन्य स्त्री के प्रेमजाल में फंसना उपयुक्त है? इस प्रश्न का उत्तर ठीक वही है जिसकी चर्चा उपन्यास के संदर्भ में की गई है। यानी कि सामंती समाज में प्रभु वर्ग के लिए विवाह से पूर्व और विवाह के बाद अपनी पत्नी (या पत्नियों) के अलावा भी अन्य स्त्रियों से संबंध रखना बहुत सामान्य रहा है। यहां यह प्रश्न जरूर उठता है कि जो पुरुषों के लिए सामान्य है, क्या वही स्त्री के लिए भी सामान्य है? उपन्यास और फिल्म दोनों ही इस प्रश्न को इस दृष्टि से देखने से बचती हैं। हालांकि स्त्री-पुरुष प्रेम में एकनिष्ठता का प्रश्न उपन्यास और फिल्म दोनों में उठाया गया है।

उपन्यास में चित्रलेखा का एक अतीत है। अतीत की पूरी कहानी उपन्यास में चित्रलेखा के परिचय के रूप में आरंभ में ही आती है। लेकिन फिल्म में इस कहानी को काफी हद तक वायवीय रूप में चित्रलेखा के मुख से कहलाया गया है। उसकी इस त्रासद कथा को सुनकर ही बीजगुप्त चित्रलेखा से प्रेम करने लगता है। वह सिर्फ सौंदर्य से नहीं उसके प्रति सहानुभूति से भी आकृष्ट होता है और यह आकर्षण ही प्रेम के रूप में परिवर्तित होता है। लेकिन जब चित्रलेखा कुमारगिरि

के पास चली जाती है तो बीजगुप्त को आघात लगता है। उपन्यास में इसका कारण यह बताया गया है कि कुमारगिरि के प्रति उसमें प्रेम पैदा होता है, हालांकि बीजगुप्त के प्रति प्रेम भी बना रहता है। लेकिन फिल्म में ऐसा नहीं होता। वह कुमारगिरि से बिल्कुल प्रभावित नहीं होती। कुमारगिरि के पास चित्रलेखा तब जाती है, जब उसे अपने बुढ़ापे का ख्याल आता है और उसे लगता है कि अपने मोहजाल में बांधकर वह बीजगुप्त के साथ अन्याय कर रही है। अपने वर्तमान जीवन के प्रति उसमें पापबोध पैदा होता है और इसीलिए वह अपना सबकुछ दान कर दीक्षा लेने के लिए कुमारगिरि के पास जाती है जबकि उपन्यास में वह जब कुमारगिरि के पास जाती है, तब सबकुछ का त्याग करके नहीं जाती। इसलिए जब कुमारगिरि के पास से वापस लौटती है, तो भी उसके पास वह सबकुछ होता है जो पहले था। इसीलिए वह बीजगुप्त को यह कहती है कि 'नाथ! मेरे पास अतुल धनराशि है, मैं तुम्हारी हूँ। मेरा धन तुम्हारा है, फिर तुम निर्धन कैसे?' स्पष्ट है कि फिल्म उपन्यास के कई जटिल प्रश्नों को या तो हटा देती है या उसको सरलीकृत कर देती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि फिल्मकार उपन्यास की कथा को इस रूप में ग्रहण करता है कि कैसे एक युवा और सुंदर स्त्री के लिए एक योगी भोगी बन जाता है और एक भोगी योगी। लेकिन उपन्यास को इस रूप में देखना उसे बहुत सतही ढंग से देखना है। उपन्यास में कथा का विकास तो इसी रूप में होता है लेकिन कई दार्शनिक और नैतिक प्रश्न भी जुड़े होते हैं। फिल्म के आरंभ में ही जब कुमारगिरि सम्राट चंद्रगुप्त के दरबार में योग के बल पर जो चमत्कार दिखाता है उससे चाणक्य और चित्रलेखा बिल्कुल प्रभावित नहीं होते। इसके विपरीत कुमारगिरि को चित्रलेखा के हाथों लज्जित होना पड़ता है। यानी कि उपन्यासकार योग और साधना को आरंभ में ही प्रश्नांकित कर देता है। संसार से त्याग को भी वह कोई मूल्य नहीं मानता अगर वह निजी उपलब्धि के रूप में हो, जैसाकि कुमारगिरि के साथ है। जबकि बीजगुप्त और चित्रलेखा भी अपना वैभव और भोगविलास भरी जिंदगी त्याग देते हैं लेकिन उनका उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना नहीं है। उसके पीछे प्रेम है। वहां त्याग दिखावा नहीं है और उपन्यास में चित्रलेखा और बीजगुप्त संन्यासी नहीं बनते बल्कि गरीबी का, साधारण जीवन का वरण करते हैं। बीजगुप्त जैसे सुदृढ़ चरित्र के व्यक्ति का फिल्म में सगाई के बाद किसी अन्य स्त्री के प्रेम में पड़ना बहुत उपयुक्त नहीं लगता। इस दृष्टि से उपन्यास में बीजगुप्त का चित्रलेखा से प्रेम ज्यादा तर्कपूर्ण लगता है। यहां तक कि जब उसके सामने यशोधरा के विवाह का प्रस्ताव आता है तो वह चित्रलेखा को अपनी पत्नी बताता है, भले ही उससे विधिवत विवाह न हुआ हो। इसका अर्थ है कि चित्रलेखा के प्रति अपने संबंधों में वह ईमानदार है। कुमारगिरि इस दृष्टि से एक कमजोर चरित्र है काफी हद तक खलनायक। फिल्मकार उसे खलनायक बनाने से बचने के लिए उसके द्वारा आत्महत्या करवाता है। यही नहीं एक योगी के रूप में उसकी शक्ति को भी स्थापित करने का प्रयत्न करता है जब उसकी पुकार पर गंगा अपना रास्ता छोड़कर उसके पास तक पहुंच जाती है। दरअसल, यह फिल्म को नाटकीय बनाने की कोशिश का परिणाम भी है।

एक गंभीर उपन्यास को व्यावसायिक फिल्म के ढांचे में पेश करने का ही नतीजा है कि फिल्मकार श्वेतांक के चरित्र को विदूषक बना देता है और बीजगुप्त और चित्रलेखा को उद्यान में युगल गीत गाते हुए दिखाता है। यह सही है कि फिल्म के गीत और संगीत बहुत ही कर्णप्रिय और प्रभावशाली है। केदार शर्मा के संवाद बहुत प्रभावशाली बने हैं। मीना कुमारी के सौंदर्य को भी उभारने में सफल रहा है। यही नहीं कई जगह चित्रलेखा के अंतर्द्वंद्व को भी मीना कुमारी बहुत कुशलतापूर्वक उभारती है। लेकिन कुमारगिरि और बीजगुप्त युवा नहीं लगते, अधेड़ लगते हैं। बीजगुप्त की भूमिका

में प्रदीप कुमार बहुत साधारण और अशोक कुमार बहुत नाटकीय। देखा गया है कि कई बार साधारण रचना पर उत्कृष्ट फिल्म बनती है और उत्कृष्ट रचना पर साधारण फिल्म। 'चित्रलेखा' उपन्यास साहित्यिक कृति के तौर पर निश्चय ही उत्कृष्ट रचना है, भले ही महान न हो, लेकिन केदार शर्मा की फिल्म अत्यंत साधारण ही कही जा सकती है।

* चित्रलेखा : भगवतीचरण वर्मा; 2008; राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नयी दिल्ली।

(लेखक प्रख्यात मीडिया विश्लेषक हैं)

लेखकों से अनुरोध

- वैचारिक, आलोचनात्मक लेख, कहानी, संस्मरण, डायरी, यात्रा वृत्तांत आदि अधिकतम 3000 शब्दों में ही प्रेषित करें।
- लेख के अंत में अपना नाम, पता, फोन, ई-मेल आदि का उल्लेख करें।
- भेजी गई सामग्री स्पष्ट एवं पठनीय हो तथा पन्ने के एक तरफ लिखी गयी हो। बेहतर होगा कि लेख यूनीकोड/मंगल फांट में ही टाइप कराकर भेजें।
- चित्र एवं अन्य कॉपीराइट-सुरक्षित सामग्री के संदर्भ में : लेख में उपयोग हेतु आवश्यक अनुमति लेना लेखक का उत्तरदायित्व होगा।
- रचनाओं की स्वीकृति व अस्वीकृति की सूचना एक माह के अंदर दे दी जाएगी। रचनाओं की वापसी के लिए लिफाफा संलग्न करें।
- लेख के साथ भेजे गए पत्र में इस बात का उल्लेख अवश्य हो कि यह लेखक की मौलिक, अप्रकाशित और अप्रसारित रचना है तथा इसको प्रकाशन हेतु अन्यत्र नहीं भेजा गया है।

आप लेख amishrafaiz@gmail.com पर ई-मेल कर सकते हैं अथवा रजिस्ट्रीकृत डाक/स्पीड पोस्ट से निम्न पते पर भेज सकते हैं-

संपादक
बहुवचन
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट- हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)
मो. नं.- 09422386554

हमारे समय के दरारों में मृणाल सेन का सिनेमा

अमरेंद्र कुमार शर्मा

अधजली सिगरेट को बायीं हथेली में दबाए, अधखुले बटन वाले सफेद कुरते और पाजामे पहने काले फ्रेम वाले मोटे चश्मे के पीछे से छोटी लेकिन पैनी आंखों से झांकते मृणाल सेन अपने बाएं कंधे को चौखट से टिकाए हैं। मैं गौर से उन्हें देख रहा हूं, देर तक। देखना मात्र कोई ऐंद्रिक क्रिया नहीं होती; देखना, दरअसल हासिल करना है अपनी धरती पर बिखरे उन रूपकों, प्रतिकों को जिनसे हमारे अनुभव संसार का विकास होता है। देखना, अंतर्भूत करना है जिससे सघन संवेदना का निर्माण और विकास होता है। मृणाल सेन भारतीय सिनेमा में एक रूपक की तरह याद किए जाने वाले फिल्मकार हैं जिन्होंने हमारी दुनिया की तमाम सुबह और सांझों के विन्यास को ठोस यथार्थ के रूपकों में रचा है। सेन की फिल्मों में सुबह और सांझ बहुत भारी और सघन होकर विन्यस्त होती है। प्रसिद्ध उपन्यासकर गैब्रियल गार्सिया मार्खेज जिन्होंने यथार्थ को जादुई रूप में रचा है, मृणाल सेन के ठोस यथार्थ से उनका गाढ़ा संबंध है। यह सबंध अंटलांटिक महासागर के दोनों पाटों पर बहने वाली हवाओं की ताजगी का है। मार्खेज और मृणाल सेन की दोस्ती हमें चौंकाती है। मार्खेज का उपन्यास और मृणाल सेन का सिनेमा दोनों दो अलग-अलग दुनियाओं की दास्तान कहती है। दोनों के यथार्थ-विन्यास में अंतर देखा जाना चाहिए। हम अंतर देखते भी हैं। बहरहाल, दो दर्जन से अधिक फिल्मों के यथार्थ सरोकारों वाले शास्त्रीय सफर में 'रातभोर' मृणाल सेन की पहली फिल्म है फिर उसके बाद क्रमशः 'नील आकाशेर नीचे', 'बाइशे श्रावण', 'पुनश्च', 'अवशेष', 'प्रतिनिधि', 'आकाश कुसुम', 'भुवन शोम', 'एक अधूरी कहानी', 'कलकत्ता 1971', 'कोरस', 'मृगया', 'ओका ओरी कथा', 'एक दिन प्रतिदिन', 'आकालेर संधाने', 'चलचित्र', 'जेंनसिस', 'एक दिन अचानक', 'सिटी लाइफ-कलकत्ता' आदि। मृणाल सेन अपनी फिल्मों के माध्यम से भारत में पसरे हुए यथार्थ के धूसर रंग को सेलूलाइड पर बिखेर देने का एक अलग सौंदर्यशास्त्र अपने कैमरे की आंख से विन्यस्त करते हैं। उनकी इस आंख में उनके अपने और हमारे समय की तमाम दरारें हैं। उन दरारों को देखना दरअसल एक स्तर पर आजादी के बाद के भारत में राष्ट्र-राज्य के चरित्र को देखना है, जो खामोशी से हमारे जीवन में धीरे-धीरे शामिल हो गया है।

मृणाल सेन (14 मई 1923) फरीदपुर नाम के एक छोटे से शहर में जो अब बांग्ला देश में है अपने जीवन की प्रारंभिक शिक्षा प्राप्त की हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद उन्होंने अपना यह शहर छोड़ दिया और आगे की पढ़ाई के लिए आज के कोलकाता में आ गए। यहीं उन्होंने विज्ञान के रूप में भौतिक शास्त्र को चुना और उसके विद्यार्थी बने। कोलकाता में उन्होंने अपनी शिक्षा स्कोटिश चर्च कॉलेज एवं कलकत्ता यूनिवर्सिटी से पूरी की। मृणाल सेन में विज्ञान के प्रति चेतना शुरुआत से ही थी यही कारण रहा है कि वे अध्ययनकाल में ही विचार के स्तर पर वामपंथी विचारधारा से जुड़े और उसके सांस्कृतिक कार्यक्रमों को आगे बढ़ाने का काम किया। मृणाल सेन कभी इस पार्टी

के सदस्य नहीं रहे लेकिन सांस्कृतिक कार्यक्रमों के रूप में 'इप्टा' से जुड़ने के कारण वे अनेक समान विचारों वाले और समान सांस्कृतिक रुचि वाले लोगों के परिचय में आए और इस कारण चिंतन का एक व्यापक फलक मृणाल सेन के सामने खुला। मृणाल सेन की फिल्मों के दृश्यों में हमें यह सांस्कृतिक संपन्नता रोजमर्रे की तरह उपस्थित होने का आभास दिलाती है। मृणाल सेन का सिनेमाई दुनिया में आना एक आकस्मिक घटना की तरह रहा है। सेन जीवन की शुरुआत में दवाओं के कारोबार से जुड़े हुए थे और अपने 'बोध' के शहर कलकत्ता से दूर हो गए थे, जहां वे थोड़े अनमने, थोड़े परेशान थे। यह कौन जानता था कि सिनेमा के सौंदर्यशास्त्र पर एक किताब के अध्ययन से सेन सिनेमा की दुनिया में खींचे चले आएंगे। मृणाल सेन कलकता लौट आए और कलकता फिल्म स्टूडियो में ध्वनि टेक्नीशीयन के कार्य से जुड़ कर सिनेमा की बारीकी को समझने में अपने को रमा लिया था। भारतीय फिल्म का यथार्थवादी परदा मृणाल सेन के इंतजार में था। उनके आने के बाद सिनेमा का परदा सुनहरा नहीं रहने वाला था बल्कि गांव और खेत, मिट्टी और वनस्पतियों के अपने 'होने' की उपस्थिति कराने वाला था। मृणाल सेन की अधिकांश फिल्में श्वेत-श्याम हैं, और जिन फिल्मों में रंग भरा गया है उनमें एक गाढ़ापन दिखलाई देता है। मृणाल सेन की पहली फीचर फिल्म 'रातभोर' 1955 में आई जिसका संगीत अपने समय के प्रसिद्ध संगीतकर सलिल चौधरी ने दिया था। और उसके ठीक बाद 'नील आकाशेर नीचे'आई। मृणाल सेन की पहचान 'भुवन शोम' जो 1969 में आई थी उसके प्रदर्शित होने के बाद नए सिरे से बनी। बलाई चंद्र मुखोपाध्याय की 'बनफूल' बंगाली कहानी पर बनी 'भुवन शोम' को 1969 के तीन राष्ट्रीय पुरस्कार मिले। 'भुवन शोम' सरकारी अनुदान प्राप्त फिल्म थी। कम बजट में भारतीय सिनेमा को एक नई पहचान देने और सिनेमा को 'नया सिनेमा' जैसे पदबंध वाले आंदोलन से जोड़ने में 'भुवन शोम' का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। यह सच है कि इस फिल्म ने मृणाल सेन की आर्थिक तंगी को दूर कर दिया था और इतनी प्रसिद्धि दी कि आज तक मृणाल सेन की फिल्मों पर बात करने वाले सबसे पहले इसी फिल्म को याद करते हैं। मृणाल सेन को 'भुवन शोम' तक सीमित कर देना उनके पूरे फिल्मी अवदान को अनदेखा करना होगा। हम यहां उनकी अन्य फिल्मों पर बात करना चाहेंगे जिसमें 'ओका ओरी कथा' और 'अकालर संधाने' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कलकता पर केंद्रित उनकी तीन फिल्में उपनिवेशवादी कलकता और उसके बाद के कलकता के पूरे ढांचे को परदे पर कलकता को सही मायने में 'होने' को हमारे सामने लाता है। मृणाल सेन की फिल्म में कोलकाता एक चरित्र की तरह और एक प्रेरणा की तरह प्रमुखता से पेश हुआ है। मृणाल सेन ने अपने समय के यथार्थ को बड़ी खूबसूरती से अपनी फिल्मों में पात्रों, उसकी मूल्य प्रणाली, उसके वर्ग के अंतर को कोलकाता शहर की सड़कों पर बुना है। कोलकाता, उनकी फिल्म में मात्र एक शहर भर नहीं है बल्कि एक पात्र की तरह है। कलकता पर बनी फिल्म को देखते हुए मिर्जा गालिब बार-बार याद हो आते हैं 'कलकत्ते का जो जिक्र किया तूने हमनशीं, इक तीर मेरे सीने में मारा के हाए-हाए'।

मृणाल सेन की अधिकांश फिल्में वामपंथी विचारधारा और उसकी राजनीति से जुड़ी हुई रही हैं। 'आकालेर संधान' जिसके पात्र अकाल पर फिल्म बनाए जाने के विषय पर लगातार बहस करते रहते हैं और अपनी बहसों में मार्क्स की रचनाओं को उद्धृत करते चलते हैं साथ ही 129 मिनट की इस फिल्म में कई हिंदी, अंग्रेजी, बांग्ला पुस्तकों की चर्चा है और अकाल से ग्रस्त तस्वीरों की निरंतर उपस्थिति है। यह फिल्म 1980 में रिलीज हुई थी। 1943 के बंगाल में हुए अकाल जिसमें चार मिलियन लोग भुखमरी और बीमारी से मारे गए थे और यह अकाल कोई प्राकृतिक प्रकोप का नतीजा नहीं था बल्कि सरकार की नीतियों की असफलताओं से उपजा हुआ मानव निर्मित अकाल था जिसमें

द्वितीय विश्वयुद्ध की प्रमुख भूमिका थी। कह सकते हैं यह अकाल, युद्ध का एक उत्पाद था। युद्ध अपने साथ क्या-क्या लाता है, क्या-क्या ला सकता है इसके लिए 1943 के अकाल को एक संदर्भ की तरह देखा जाना चाहिए जैसे पश्चिम में 'प्लेग' की त्रासदी को एक संदर्भ की तरह देखा जाता है। यह अकाल भारत के लिए एक सांस्कृतिक झटका की तरह का था जहां से युद्ध, विनाश और मृत्यु एक त्रासदी की तरह भारत के भूगोल पर पसर गया था। कहा जाता है कि अकाल के समय कलकता की सड़कों पर अनगिनत लाशें बिखरी हुई थीं। अकाल के समय लोग अपनी बेटियों को दस रुपये में बेचने तक लगे थे। स्त्रियां भुखमरी की हालत में अपनी देह बेचने लगी थीं। इस अकाल को लेकर बनाई गई तस्वीरों को गौर से देखने पर मस्तिष्क में एक सन्नाटा पसरता चला जाता है। जैनुदिन आबादीन की अकाल की तस्वीरों का पाठ भी नए सिरे से किया जाना चाहिए। मृणाल सेन ने इस अकाल के संपूर्ण परिदृश्य को अपनी इस फिल्म में नए सिरे से गहरी संवेदना के साथ सिरजा है। इस फिल्म की पटकथा मृणाल सेन और अमलेंदु चक्रवर्ती ने लिखी है जिसके लिए बेस्ट स्क्रीनप्ले का राष्ट्रीय पुरस्कार वर्ष 1980 में दिया गया था। मृणाल सेन की अधिकांश फिल्मों में संगीत सलिल चौधरी ने दिया है, इस फिल्म में भी संगीत उन्हीं का है। सिनेमेटोग्राफी के.के. महाजन का है। धरतीमान चटर्जी, स्मिता पाटिल और गीता सेन ने प्रभावी भूमिका निभाई है। परदे पर बिखरते हुए अकाल के चित्रों में छोटे बच्चों की अस्थियों को देखना रोंगटे खड़े कर देने वाला है। इन चित्रों के बीच दूसरी शताब्दी की गांधार स्थापत्य शैली वाली गौतम बुध की अस्थि-पंजर वाली तस्वीर एक सांस्कृतिक विचलन पैदा करती है। मृणाल सेन की यह एक विशेषता है जो उनकी अनेक फिल्मों में देखी जा सकती है। इस फिल्म में एक स्त्री (गीता सेन) का अकेलापन अपाहिज पति के साथ इस तरह से पसरा हुआ है जैसे उसके घर में गरीबी दीवारों पर न जाने कब से टंगी है। इस अकेलेपन को स्मिता पाटिल जो इस फिल्म में अकाल पर बनने वाली फिल्म में अभिनेत्री की भूमिका करने वाली है, बांटती है। दोनों स्त्री पात्र के बीच का संवाद अकेलेपन से संवाद है जो फिल्म में बड़ी ही तीव्रता के साथ मौजूद है। पति की मृत्यु और अपनी बेटी के इंतजार में बैठी स्त्री 'आकालेर संधाने' में एक समानांतर कहानी की तरह है जिसमें जमीन पर बिछी चटाई दर्शक के दिमाग पर बहुत देर तक काबिज रहती है। फिल्म में अंधेरा, झींगुर की आवाज, पुराने मकान और अकाल ग्रस्त स्त्री जिसने अपने जीवन में कभी सवेरा नहीं देखा इस फिल्म के पूरे कैनवास को एक साथ समस्त संदर्भों में देखने को आमंत्रित करता है। मृणाल सेन ऐसे फिल्मकर रहे हैं जो न केवल अपने सिनेमाई पात्रों पर काम करते हैं बल्कि सिनेमा के पूरे पर्दे पर एक कोने से दूसरे कोने के कोण पर काम करते हैं। फिल्म के आखिर दृश्य में एक स्त्री पूरे परदे पर उपस्थित होती है जिसका बच्चा मर गया है, पति खो गया है और वह स्त्री परदे पर धीरे-धीरे लांग शॉट, प्रति लांग शॉट में परदे के ठीक बीचोबीच एक चिन्ह, मात्र एक चिन्ह में रूपायित हो जाती है। किसी भी तरह के अकाल में सबसे अधिक प्रभावित होने वाली एक स्त्री की तरह।

मृणाल सेन की एक और महत्वपूर्ण फिल्म 'ओका ओरी कथा' (The Marginal Ones, एक गांव की कहानी) है। यह फिल्म तेलुगू भाषा में अंग्रेजी सबटाइटल्स के साथ 1977 में आई। इस फिल्म की कथा में प्रेमचंद की मशहूर कहानी 'कफन' को नरेट किया गया है, तेलुगू समाज के गांव में इस कहानी के विन्यास को रेशे-रेशे में देखना एक अलग अनुभव है। हम यहां कफन कहानी के संदर्भ से कोई बात नहीं कर रहे हैं बल्कि 'ओका ओरी कथा' के विन्यास पर विचार कर रहे हैं। 113 मिनट 44 सेकेंड की इस फिल्म में जो गांव पसरा हुआ है, उसका भूगोल भारत के किसी भी हिस्से का हो सकता है और इसके मुख्य पात्र वेंकय्या (वासुदेव राव), किस्तइय्या (नारायण राव),

निलम्मा (ममता शंकर) और जमींदार (भद्रा रेड्डी) के विन्यास का भूगोल किसी भी भू-खंड का हो सकता है। वेंकय्या और किस्तइय्या पिता-पुत्र हैं (कफन में घिसु-माधव), दोनों अधनंगे हैं, रात के अंधेरे में खेत से आलू चुराते हैं, बगीचे से आम चुराते हैं, अपनी झोपड़ी में बारिश की रात में टाट ओढ़े भींगते हैं। इस सिनेमा के संपूर्ण ढांचे में वेंकय्या एक खूंखार व्यक्ति की तरह मौजूद है जैसे उसने अपनी गरीबी को गरीब कर देने की कसम खा ली हो। वेंकय्या, जिसके आगे के दो दांत टूट गए है, बाल इस प्रकार बिखरे हैं जैसे कई बरसों से उसने कंघी न की हो। अपने बेटे किस्तइय्या के शादी करने के फैसले पर कुपित है। कुपित होने का कारण यह दिखलाई देता है जैसे इस कि शादी का होना उसकी गरीबी का मजाक उड़ाना है। शादी के बाद की पहली रात के प्रेम प्रसंग इस फिल्म के ढांचे में निलम्मा को एक ऐसे स्त्री के रूप में चित्रित करता है जैसे इस दुनिया में स्त्रियां बिना किसी से कोई शिकायत किए जिंदा रहने के लिए अभिशप्त कर दी गई हों। प्रेम के छोटे-छोटे क्षण इस फिल्म को एक नया अर्थ देते हैं। इस पूरी फिल्म में गांव का जो धूसर रंग है, वह फिल्म में एक अलग शास्त्र रचता है। शोषण के छोटे-छोटे चिन्ह इस फिल्म में पसरे हुए हैं। किस्तइय्या जमींदार के ताड़ के पेड़ से ताड़ के बड़े-बड़े पत्ते तोड़ लाता है जिससे वह अपनी झोपड़ी के छप्पर को बरसात के मौसम के आने से पहले ठीक कर ले। जमींदार आकर वह भी छीन ले जाता है। निलम्मा कातर हो देखते रह जाती है। निलम्मा गर्भवती होती है और इस अवस्था में भी वह अपने ससुर और अपने पति के भरण-पोषण का इंतजाम करती रहती है। पानी भरती है, जलावन की लड़की इक्कठा करती है। वह अपने ससुर को फटकारती भी है। वह अपने होने वाले बच्चे को बचाने के लिए चावल बनाकर खाती है और अपने भूखे पति और ससुर के कोप का भाजन बनती है। वह कहती है कि मेरे पेट में बच्चा पल रहा है इसलिए उसका खाना दरअसल उस संभावना के लिए है जो उसकी पेट में पल रहा है। जिस पर किस्तइय्या का तो ध्यान है लेकिन वह भी अपने पिता के ड़र से कुछ नहीं बोलता है। बाद में प्रसव से पूर्व दर्द से कराहती है, किस्तइय्या चिंतित होता है लेकिन उसका पिता इससे बिल्कुल बेपरवाह है और किस्तइय्या को भी आराम करने की सलाह देता है। दर्द से कराहती निलम्मा सुबह होने तक मर जाती है। किस्तइय्या सुबह उठकर अपनी पत्नी को जगाने के लिए झकझोरता है, वह मर चुकी होती है। 45 सेकेंड का यह दृश्य 'ओका ओरी कथा' फिल्म का सबसे भारी समय है। सिनेमा के इस समय में इतनी दरारें हैं कि हम इन दरारों में आजादी के बाद के कई गांवों की तस्वीर बड़े ही साफ तरीके से देख सकते हैं। यह देखना भारत में खाद्य सुरक्षा बिलों के बाद भी लगा रहेगा। किस्तइय्या अपनी पत्नी के मरने के बाद अपने पिता के साथ उसके अंतिम संस्कार के लिए बैठा है, हाथ फैलाए। उसके हाथों में धीरे-धीरे सिक्के जमा हो रहे हैं, उधर निलम्मा के शव पर मक्खियां बैठ रही हैं। सिक्के की खनखनाहट बढ़ती जा रही है और शव पर मक्खियों की भिनभिनाहट भी। वेंकय्या ठहाके मार कर हँस रहा है। उसका हँसना भयभीत करने वाला है, वह एक साथ अपने समय पर, अपनी गरीबी पर, सिक्के देने वाले लोगों पर और दर्शकों पर सभी पर एक साथ हँसता हुआ दिखलाई देता है। क्लोज अप में निलम्मा के शव जिस पर मक्खियां भिनभिना रही हैं, हमें भीतर तक हिलाकर रख देता है। बाप- बेटे सिक्के इकट्ठा कर पेड़ के नीचे बैठ जाते हैं। वेंकय्या सिक्कों को अपनी हथेली में कसकर पकड़े हुए अपने बेटे से कहता है वह भी इन हथेलियों को जोर से दबाकर रखे। इससे वह दो बोरी चावल खरीदेगा, थोड़े कपड़े और एक घर बनाएगा ताकि उसके बच्चे रह सकें सुरक्षित। शव के गर्भ में भ्रूण धीरे-धीरे काला होता जा रहा है, काला और काला। इस फिल्म के विन्यास में फ्रेम दर फ्रेम जो दारुण्य गरीबी हमारे आंखों के सामने फैलती जाती है वह कोई करुणा या दया भाव उत्पन्न नहीं करती न ही निलम्मा की मृत्यु

किसी मातम की तरह हमारे सामने आती है बल्कि वह एक शोक गीत की तरह आती है जिसे मृणाल सेन की पैनी आंख ने इसे प्रेमचंद के कथा विन्यास को विस्तार देते हुए हमारे जीवन के पर्दे पर ठोस तरीके से उतारा है। इस फिल्म का स्क्रीन प्ले मोहित चटोपाध्याय ने लिखा है और सिनेमेटोग्राफी के.के. महाजन ने की है संगीत की जिस विलक्षण ध्वनि को इसमें मृणाल सेन ने पिरोया है उसे विजय राघव रेड्डी ने तैयार किया है। 'भुवन शोम' का संगीत भी इनके द्वारा दिया गया है। चटोपाध्याय आर्ट फिल्म्स ने 'ओका ओरी कथा' के वितरण का जिम्मा लेकर हमारे सामने एक उत्कृष्ट फिल्म को सामने लाने का काम किया है और इस मिथक को तोड़ा है कि फिल्म का वितरण केवल पूंजी के उगाही के लिए किया जाता है। इस फिल्म को आंध्र प्रदेश सरकार ने 1977 में नंदी बेस्ट फीचर फिल्म का पुरस्कार और इसी बरस नेशनल अवार्ड भी मिला।

मृणाल सेन के सिनेमाई दौर का प्रमुख हिस्सा भारत में खासकर बंगाल में नक्सलवादी आंदोलन के दौर का रहा है। उनकी फिल्मों की राजनीतिक आवाज वामपंथी आवाजों के समानांतर चलती हुई दिखलाई देती है। इस दौर में मृणाल सेन की लगातार कई ऐसी फिल्में आईं जिसमें उन्होंने मध्यमवर्गीय समाज और समाज के तमाम दरारों में पनपते असंतोष और बेचैनी को आवाज दी है। यह कहा जाता है की मृणाल सेन की सिनेमाई सृजनात्मकता का सबसे महत्वपूर्ण समय यही था। भारत सरकार ने मृणाल सेन को 1981 में पद्म भूषण से सम्मानित किया गया और 2005 में दादा साहब फाल्के पुरस्कार प्रदान किया गया। सत्यजित राय और ऋत्विक घटक के साथ मृणाल सेन भारतीय सिनेमा के भूगोल में एक ऐसा त्रिकोण रचते हैं जिसमें दुनिया के हर हिस्से की फिल्में कहीं न कहीं समोई हुई लगती हैं। यह पहचान भारतीय सिनेमा की अपनी पहचान है जिसमें अपना गारा, अपना सीमेंट लगा है। कहा जाता है कि मृणाल सेन की फिल्म पर इतालवी, जर्मन, फ्रेंच सिनेमाई दर्शनों का प्रभाव है। मृणाल सेन की फिल्मों को देखकर लगता भी है लेकिन इनकी फिल्मों के भूगोल में पात्रों की गतिकी, ध्वनि, संगीत, और शब्द संवाद एक सीध में भारतीय मानस तक गैर व्यावसायिक तरीके से पहुंचती हैं। चिड़ियों की उड़ान भरती एक कतार की तरह। सांझ को अपने घोंसले में लौटने की बेकरारी में समवेत ध्वनि की तरह। मृणाल सेन की फिल्मों को देखे जाने से ज्यादा महत्वपूर्ण सुना जाना है। ध्वनि का खास स्थान मृणाल सेन की फिल्मों में है, दरअसल राबर्ट ब्रेसां के इस कथन की तरह ध्वनि मृणाल सेन की फिल्मों में है, 'खामोशी संगीत के लिए अनिवार्य है और संगीत का हिस्सा नहीं है। संगीत खामोशी पर अवलंबित है।' दरअसल मृणाल सेन की फिल्मों की ध्वनि मस्तिष्क और हमारी संवेदना के तहखाने संचित होती जाती है और सिनेमा से बाहर के समय में बार-बार निकल-निकलकर हमें हमारे समय के दरारों की याद दिलाती हुई बेचैन करती रहती है। हमारे समय के दरारों में हमारा चेहरा अपराध बोध के साथ झांकता है। दरअसल, मृणाल सेन का सिनेमा हमें महज एक दर्शक रहने नहीं देता बल्कि वह उसका भागीदार/साझेदार बना देता है, लगता है कि सिनेमा में घटने वाली घटनाओं की जिम्मेदारी हम पर है। निलल्मा की मृत्यु का कारण हम स्वंय हैं। मृणाल सेन की फिल्मों को हमें एक पाठ की तरह देखना/पढ़ना चाहिए। आगामी समयों में देखे जाने वाले एक बेचैन स्वप्न की तरह मृणाल सेन की फिल्में संभावनाओं से भरी हैं। उनकी फिल्मों को देख लेने के बाद यह लगता है कि उनकी फिल्मों में विन्यस्त समय जल्द से जल्द खत्म हो जाए।

(लेखक युवा कवि और म.गां.अं.हि.वि., वर्धा में सहायक प्रोफेसर हैं)

सिनेमा और हिंदी साहित्य

इकबाल रिजवी

भारत में फिल्मों ने 100 वर्षों की यात्रा पूरी कर ली है। दरअसल वह अपने दौर का सबसे बड़ा चमत्कार था जब हिलती-डुलती, दौड़ती कूदती तस्वीरें पहली बार पर्दे पर नजर आईं। 14 मार्च 1931 को इस चमत्कार में एक सम्मोहन शामिल हो गया और वह सम्मोहन था ध्वनि का। अब पर्दे पर दिखाई देने वाले चित्र बोलने लगे। 1931 में पहली बोलती फिल्म 'आलम आरा' से आज तक सर्वाधिक फिल्में हिंदी भाषा में ही बनाई गईं हैं। इस तरह हिंदी भारत ही नहीं भारत के मुख्य सिनेमा की भी भाषा है। विश्व में हिंदी सिनेमा ही भारतीय सिनेमा का प्रतिनिधित्व करता है। इसी के साथ एक सच यह भी है कि हिंदी में साहित्यिक कृतियों पर सबसे कम सफल फिल्में बन पाई हैं।

हांलाकि सिनेमा और साहित्य दो पृथक विधाएं हैं लेकिन दोनों का पारस्परिक संबंध बहुत गहरा है। जब कहानी पर आधारित फिल्में बनने की शुरुआत हुई तो इनका आधार साहित्य ही बना। भारत में बनने वाली पहली फीचर फिल्म दादा साहब फाल्के ने बनाई जो भारतेंदु हरिशचंद्र के नाटक 'हरिशचंद्र' पर आधारित थी। साहित्यिक कृतियों पर ढेरों फिल्में बनीं लेकिन कुछ अपवादों को छोड़ आधिकांश का ऐसा हश्र हुआ कि मुंबईया फिल्मकार हिंदी की साहित्यिक कृतियों पर फिल्म बनाने से गुरेज करते हैं। साल भर में मुश्किल से कोई एक फिल्म ऐसी होती है जो किसी साहित्यिक कृति को आधार मानकर बनाई गई हो।

बोलती फिल्मों का शुरुआती दौर पारसी थिएटर की विरासत भर था जहां अति नाटकीयता और गीत संगीत बहुत होता था। धीरे धीरे विषयों के चयन में विविधता आने लगी। फिल्म बनाने वालों ने स्थापित लेखकों और उनकी कृतियों को स्थान देना शुरू किया। हिंदी के सर्वाधिक लोकप्रिय साहित्यकार प्रेमचंद को अजंता मूवीटोन कंपनी ने 1933 में मुंबई आमंत्रित किया। फिल्मों को बोलना शुरू किए अभी महज दो साल ही हुए थे। प्रेमचंद की कहानी पर मोहन भावनानी के निर्देशन में फिल्म 'मिल मजदूर' बनी। निर्देशक ने मूल कहानी में कुछ बदलाव किए जो प्रेमचंद को पसंद नहीं आए। फिर अंग्रेजों के सेंसर ने फिल्म में काफी कांट-छांट कर दी। इसके बाद फिल्म का, जो स्वरूप सामने आया उसे देख प्रेमचंद को काफी धक्का लगा। उन्होंने कहा यह प्रेमचंद की हत्या है। प्रेमचंद की यह कहानी फिल्म के निर्देशक और मालिक की कहानी है। इस फिल्म पर मुंबई में प्रतिबंध लग गया और पंजाब में यह 'गरीब मजदूर' के नाम से प्रदर्शित हुई

1934 में प्रेमचंद की ही कृतियों पर 'नवजीवन' और 'सेवासदन' बनी लेकिन और दोनों फिल्में फ्लॉप हो गई। 1941 में ए.आर. कारदार ने प्रेमचंद की कहानी 'त्रिया चरित्र' को आधार बना कर 'स्वामी' नाम की फिल्म बनाई जो चली नहीं। यही हाल 1946 में प्रेमचंद के उपन्यास

'रंगभूमि' पर इसी नाम से बनी फिल्म का हुआ। इस बीच उपेंद्रनाथ अश्क, अमृतलाल नागर, भगवती चरण वर्मा और पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' फिल्मों में हाथ आजमाने पहुंच चुके थे। फिल्मिस्तान में काम करते हुए अश्क और किशोर साहू के साथ लेखन करने वाले अमृतलाल नागर सिनेमा की आवश्यकताओं और सीमाओं को समझ चुके थे। इसलिए वे कुछ समय तक वहां टिके रहे। हांलाकि इस दौरान उन्होंने किसी साहित्यिक कृति को सिनेमा में नहीं बदला बल्कि डायरेक्टर और प्रोड्यूसर की मांग के मुताबिक पटकथा और संवाद लिखते रहे। उग्र अपने विद्रोही और यायवरी मिजाज की वजह से बहुत जल्द मुंबई को अलविदा कह आए। भगवती चरण वर्मा भी साल भर में ही वापस लौट आए।

किशोर साहू जब फिल्मों में पहुंचे तो वे कहानियां और नाटक लिख रहे थे। उनके तीन कहानी संग्रह भी छपे। उन्होंने उपेंद्रनाथ अश्क और भगवती चरण वर्मा को लेखन के मौके जरूर दिए लेकिन खुद हिंदी की किसी साहित्यिक कृति पर फिल्म नहीं बना सके। उन्होंने शेक्सपियर के नाटक 'हेमलेट' पर इसी नाम से एक फिल्म जरूर बनाई लेकिन वह फ्लाप रही। इस बीच 1941 में भगवतीचरण वर्मा के उपन्यास 'चित्रलेखा' पर केदार शर्मा ने इसी नाम से फिल्म बनाई और फिल्म सफल भी रही। इसे उस दौर की फिल्मों में अपवादस्वरूप लिया जा सकता है। फिर भी कई कारण ऐसे रहे कि 'चित्रलेखा' की सफलता फिल्मकारों को हिंदी की साहित्यिक कृतियों पर फिल्म बनाने के लिए प्रेरित नहीं कर सकी और जिन लोगों ने इक्क-दुक्का कोशिश की उन्हें असफलता का सामना करना पड़ा।

उदाहरण के लिए 1960 में चंद्रधर शर्मा गुलेरी की कहानी 'उसने कहा था' पर इसी नाम से फिल्म बनी, आचार्य चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास पर 'धर्मपुत्र' नाम से बीआर चोपड़ा ने फिल्म बनाई, रेणु की 'कहानी मारे गए गुलफाम' पर 'तीसरी कसम' बनी और तीनों फिल्में बुरी तरह फ्लाप रहीं। 'तीसरी कसम' को भले ही उसकी श्रेष्ठता के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार भी मिला लेकिन फिल्म फ्लाप होने से भारी कर्ज के बोझ तले दब चुके इसके निर्माता गीतकार शैलेंद्र को दुनिया से कूच करना पड़ा। फिल्मों के लिए कई कहानियां लिख चुके और फिल्में बना चुके कहानीकार राजेंद्र सिंह बेदी की कृति 'एक चादर मैली सी' पर भी जब फिल्म बनी तो वह भी फ्लॉप साबित हुई।

प्रेमचंद की मृत्यु के काफी समय बाद बाद उनकी तीन कहानियों पर फिल्में बनी लेकिन चर्चित हो सकी सत्यजित राय द्वारा बनाई गई पहली हिंदी फिल्म 'शतरंज के खिलाड़ी'। तो क्या सत्यजित राय जैसे फिल्मकार ही हिंदी साहित्य को सेलूलाइड पर उतारने में सक्षम थे? प्रेमचंद जिनकी अधिकांश कहानियां और उपन्यास लोगों को बेहद पसंद आए। न केवल हिदी भाषियों को बल्कि भारत की अन्य भाषाओं और विदेशी भाषा के पाठकों को भी, तो क्या उनके साहित्य में फिल्म बनाने लायक कहानीपन नहीं था। जिस साहित्य को अशिक्षित भी सुन कर मुग्ध हो जाते थे उस पर सफल फिल्म क्यों नहीं बन सकीं? या फिर ये माना जाए कि हिंदी भाषी फिल्मकारों में ही कोई कमी थी जो विदेशी फिल्मों से कहानियां चुराकर फिल्म बनाना ज्यादा आसान समझते हैं।

हिंदी की साहित्यिक कृतियों पर फिल्म ना बनने का शोर साठ के दशक में सरकारी वर्ग तक भी पहुंचा। फिल्म वित्त निगम ने आगे बढ़कर सरकारी खर्च पर अनेक ख्याति प्राप्त साहित्यकारों की कृतियों पर फिल्मों का निर्माण कराया। इनमें से अधिकांश फिल्में डिब्बों में

बंद हैं। कुछ फिल्में गिने-चुने स्थानों पर रिलीज जरूर हुई लेकिन वे इतनी नीरस और शुष्क थीं कि सीमित बौद्धिक वर्ग के अलावा किसी ने उनकी चर्चा तक नहीं की। इन फिल्मों को बनाने वाले अधिकतर फिल्मकारों ने फिल्म तकनीक का तो ध्यान रखा लेकिन दर्शक उनकी प्राथमिकता में कहीं नहीं थे।

दरअसल हिंदी की साहित्यिक कृतियों पर सफल फिल्म ना बन पाने के कई कारण हैं। साहित्य लेखन अलग विधा है। कहानी या उपन्यास का सृजन एक नितांत व्यक्तिगत कर्म है। जबकि फिल्म लेखन में निर्देशक, अभिनेता-अभिनेत्रियों यहां तक कि कैमरामैन को निर्देशक की दृष्टि पर निर्भर रहना पड़ता है। फिल्म एक लोक विधा है। साहित्य शिक्षितों की विधा है। फिल्म तो रामलीला और लोकनाट्य की तरह आम जनता तक अपनी बात पहुंचाती है उसका उद्देश्य मनोरंजन है चाहे उसके दर्शक अनपढ़ हों या फिर पढ़े लिखे। हिंदी के कई साहित्यकार इस तथ्य को स्वीकार नहीं कर पाए। इसके अलावा प्रेमचंद के समय से ही फिल्म निर्माताओं ने लेखक को वह महत्व ही नहीं दिया जिसका वह अधिकारी होता है। सिनेमा में लंबे समय तक लेखक दोयम दर्जे की हैसियत का समझा जाता था। यह स्थिति अधिकांश साहित्यकारों को स्वीकार्य नहीं हुई। यह कहना गलत नहीं होगा कि अनेक सहित्यकारों ने फिल्मी दुनिया में अपने लिए जगह तो चाही लेकिन फिल्मकारों और स्थितियों से तालमेल नहीं बन सका। अपने समय के साहित्यकारों का फिल्मी दुनिया में हाल देखकर उनके समकालीन और बाद की पीढ़ी के साहित्यकारों का फिल्मी दुनिया से मोह भंग हो गया।

एक कारण यह भी रहा कि फिल्म बनाने की मुख्य धुरी वह व्यक्ति होता है जो पैसा लगाता है और जो पैसा लगाता है फिल्म निर्माण के हर क्षेत्र में उसका दखल चलता है। हिंदी का दुर्भाग्य रहा कि फिल्मों में पैसा लगाने वाले सेठ साहित्य से ना के बराबर सरोकार रखने वाले रहे। वहीं हिंदी सिनेमा पर पंजाबी, उर्दू और बांग्लाभाषी फिल्मकार शुरू से ही हावी रहे हैं। एक भी चर्चित फिल्मकार हिंदी भाषी नहीं था। 1931 से 1938 तक हिंदी फिल्में बनाने वाले प्रमुख लोग बाबूराव पेंटर, भालजी पेंढाकर, वी. शांता राम मराठी भाषी थे। पी सी बरुआ, देबकी बोस, नितिन बोस बंगाली थे, चंदूलाल शाह गुजराती तो आर्देशिर ईरानी और वाडिया बंधु पारसी थे, जिनकी प्राथमिकता में हिंदी की साहित्यिक कृतियां लगभग नहीं रहीं।

दूसरा पहलू यह भी है कि साहित्यिक कृतियों पर फिल्म लेखन करवाना आसान काम नहीं है इसके लिए पहली शर्त है निर्देशक और प्रोड्यूसर का कृति के मर्म तक पहुंचना और साहित्यकार की मानसिक बुनावट को समझ पाना, और बाजार के दबाव और मनोरंजन के तकाजों के बीच साहित्यकार की सोच के साथ इंसाफ करना। होता यह है कि साहित्यकार की अपनी कल्पना होती है पाठक को वह उस कल्पना से शब्दों के सहारे रू-ब-रू कराता है। एक ही कहानी पाठकों के मन में अलग अलग रूप और प्रभाव के साथ रच बस सकती है जबकि फिल्मकार को कैमरे के माध्यम से कहानी को इस प्रकार प्रस्तुत करना होता है, जिससे अलग अलग प्रदेश, वर्ग और भाषा के दर्शक उससे खुद को जोड़ सकें। सिनेमा में दृश्य और ध्वनि का महत्व शब्दों से अधिक होता है

सिनेमा से जुड़ा एक तथ्य यह भी है कि साहित्य लेखन में बाजार की अहम भूमिका नहीं होती जबकि सिनेमा में बाजार का तत्व ना केवल लागू होता है बल्कि हावी भी होता है क्योंकि फिल्म की लागत बहुत होती है। हिंदी के मुकाबले बंगाली फिल्मकारों ने साहित्यिक कृतियों को

फिल्माने में लेखक की संवेदना, बाजार के तकाजों और फिल्म मेकिंग का जबरदस्त तालमेल बनाया। यहां तक की उन्होंने बांग्ला कृतियों को हिंदी फिल्मों में ढाला तो वे भी सफल फिल्में साबित हुईं।

शरतचंद्र के उपन्यास पर 'देवदास' के नाम से हिंदी में 1925 और 1955 में फिल्में बनीं और दोनों बेहद सफल रहीं। यही हाल 'परिणिता' और 'मंझली दीदी' का भी रहा। बंकिम चटर्जी की कृतियों पर 'आनंदमठ' और 'दुर्गेश नंदिनी' जैसी सफल फिल्में बनीं। रवींद्रनाथ ठाकुर की कृति नौका डूबी पर 'मिलन' (1946), विमल मित्र के उपन्यास 'साहब बीबी और गुलाम' पर इसी नाम से बनी फिल्में बेहद सफल रहीं। यहां केवल कुछ ही फिल्मों का उल्लेख है जबकि इनकी संख्या इससे कहीं अधिक है। यह कहना गलत नहीं होगा कि बांग्ला भाषी फिल्मकारों ने साबित कर दिया कि अगर फिल्मकार, पटकथा और संवाद लेखक साहित्यकार के मानसिक स्तर तक खुद को ले जाने में सफल रहे तो रचना के साथ न्याय किया जा सकता है।

सिनेमा में हिंदी साहित्यकारों का असर सातवें दशक में नजर आता है। इसका प्रणेता अगर कमलेश्वर को कहा जाए तो गलत नहीं होगा। उपेंद्रनाथ अश्क और अमृतलाल नागर के बाद कमलेश्वर ही वह महत्वपूर्ण हिंदी साहित्यकार थे जिन्होंने सिनेमा की भाषा और जरूरत को बेहतरीन ढंग से समझा। टेलीविजन से शुरुआत कर उन्होंने सिनेमा में दखल दिया और लंबे समय तक टिके रहे। मुंबई में रहने के दौरान वह ऐसे फिल्मकारों के संपर्क में आए जो साहित्यिक रुचि रखते थे। कमलेश्वर के उपन्यास 'एक सड़क सत्तावन गलियां' और 'डाक बांग्ला' पर क्रमशः 'बदनाम बस्ती'(1971) और 'डाक बांग्ला' (1974) बनीं लेकिन सफल नहीं हो सकीं। उनकी कहानी पर और भी फिल्में बनीं लेकिन जब गुलजार ने कमलेश्वर की कृति पर 'आंधी' और 'मौसम' बनाई तो दोनों फिल्में मील का पत्थर साबित हुईं। आम दर्शक और बौद्धिक वर्ग दोनों ने इन फिल्मों को सराहा। इसके लिए कमलेश्वर से अधिक प्रशंसा के पात्र गुलजार हैं जिन्होंने मूल कृतियों की संवेदना को गहराई से समझा और दोनों फिल्मों की पटकथा, संवाद और गीत खुद ही लिखे।

सातवें दशक में एक ओर हिंदी कथा साहित्य में बदलाव आ रहा था वहीं हिंदी भाषी फिल्मकारों की संख्या भी बढ़ रही थी। बासु चटर्जी बांग्ला भाषी थे लेकिन उन्होंने हिंदी साहित्य का गहरा अध्ययन किया था। राजेंद्र यादव के उपन्यास 'सारा आकाश' पर उन्होंने फिल्म बनाई जो सफल नहीं हो सकी लेकिन मन्नू भंडारी की कहानी 'यही सच' पर जब उन्होंने 'रजनीगंधा' बनाई तो वह फिल्म लोकप्रिय साबित हुई। हिंदी साहित्य की कृतियों पर उस दौर में कुछ और फिल्में बनीं लेकिन तभी हिंदी फिल्मी दुनिया में एक एंग्रीमैन अमिताभ बच्चन का प्रवेश हुआ और बासु चटर्जी, हृषीकेश मुखर्जी, गोविंद निहलानी, श्याम बेनेगल, अरुण कौल, गुलजार जैसे फिल्मकारों के होते हुए भी हिंदी फिल्में भारी हिंसा और घटिया हास्य से लहूलुहान होने लगीं। यह दौर डेढ़ दशक से ज्यादा चला।

इस दौर में मनोरंजक विदेशी फिल्मों की हूबहू नकल का शार्टकट खूब चला। इस दौरान कला फिल्मों के नाम पर कुछ साहित्यिक कृतियों पर फिल्में जरूर बनी लेकिन आम दर्शक को ये फिल्में छू भी ना सकीं। नवें दशक के अंत में हिंदी फिल्मों में प्रयोग शुरू हुए लेकिन साहित्यिक कृतियां लगभग नदारद रहीं।

हिंदी फिल्मों को मौजूदा परिदृश्य बहुत बदल चुका है हर तरह की फिल्में बन रही हैं विषयों में इतनी विविधता पहले कभी नहीं दिखाई दी। छोटे बजट की फिल्मों का बाजार भी फूल-फल रहा है। साहित्यिक कृतियों पर फिल्म बनाने की समझ रखने वाले युवा हिंदी भाषी फिल्मकारों की जमात तैयार हो चुकी है लेकिन फिलहाल हिंदी फिल्में पत्रकारिता से फायदा उठा रही हैं। अभी जोर बायोग्राफिकल फिल्में बनाने पर अधिक है शायद अगला नंबर साहित्यिक कृतियों का हो लेकिन जरूरी नहीं वे कृतियां हिंदी साहित्य की हों।

(लेखक सुपरिचित सिनेमा समीक्षक हैं)

गांव में सलम और सलीमा

प्रकाश चंद्रायन

'हम तुमसे मोहोब्बत करके सलम'- सलम सलम वाला सलीमा का यह गाना फणीश्वरनाथ 'रेणु' की कहानी 'पचलाइट' का नायक गोधन अपनी प्रेमिका को संबोधित कर गाता रहता है। रूमानी होने की सजा के बतौर वह जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है, लेकिन जाति पंचायत की पंचलाइट जलाने में निपुणता के कारण वह पुनः जाति में शामिल कर दिया जाता है। जाति का मुखिया कहता है-'तुमने जाति की इज्जत रख ली, तुम्हारा सात खून माफ..... ...खूब गाओ सलीमा का गाना।' इस कथा में रेणु दो तकनीकों के गांव में प्रवेश की समाजशास्त्रीय परिघटना को रेखांकित करते हैं-पहला, गांव में पंचलाइट खरीदने की आर्थिक क्षमता और जलाने की तकनीकी दक्षता से निम्न जाति-वर्ग का लैस होना और दूसरा, सिनेमा द्वारा रचित लोकवृत्त और रूमान में गोधनों (निम्नवर्गीय ग्रामीण युवा) का साझीदार होना एवं समाज के मुखिया से उसकी स्वीकृति पाना। तकनीकी प्रतीकों का संदेश यह है कि पंचलाइट उजाला कर अंधेरा मिटाता है और सिनेमा भी अंधेरे में रोशनी का जादू पैदा करता है। प्रकारांतर से अनेक विधाओं और अभिव्यक्तियों का समवेत महामाध्यम सिनेमा 'पंचलाइट' ही है जिसमें कल्पना और यथार्थ का संभव-असंभव दृश्य प्रस्तुत होता है। रेणु इस कहानी में अनेक परिवर्तनकारी संकेतों के साथ इसकी भी आहट देते हैं कि सिनेमा गांव के जीवन को कितना और कैसे प्रभावित करना प्रारंभ करता है।

दरअसल, सिनेमा ने गांव का अनेक प्रकार से इस्तेमाल किया है। विषयवस्तु, लोकगीत, लोकनृत्य, लोकधुन, दृश्य-परिवेश और दर्शकों के ग्राम-संबंध, ग्राम-मोह एवं ग्राम-स्मृति के बतौर सिनेमा में गांव उपस्थित होता रहा है लेकिन, गांव ने सिनेमा को किस तरह ग्रहण किया है? गांव में सिनेमा किन-किन पगडंडियों से लुकछिप कर पहुँचा और प्रतिष्ठित हुआ, इसकी कथा भी कम रोचक नहीं है और यह मानने में भी कोई हर्ज नहीं है कि बायस्कोप ही सिनेमा का दूत था। चूंकि तकनीकी सुलभता और आर्थिक तरलता के कारण सिनेमाघर शहर और कस्बा केंद्रित थे, इसलिए जिन ग्रामीण वर्गों की शहरों-कस्बों में आवाजाही थी, उन्हें ही इसका प्रथम स्वाद मिला करता था। स्पष्ट है कि इसमें ग्रामसमाज का साधन संपन्न वर्ग अगुआ था। इस वर्ग में भी पुरुषों को ही पहला दर्शक बनना था क्योंकि वे मुकदमों की सुनवाई और दवा-इलाज के लिए निकटस्थ शहरों-कस्बों में जाते थे। यदि वहां कोई धार्मिक फिल्म लगी होती थी तो वे उसका आनंद भी लेते थे। ऐसी ही एक फिल्म में मैं अपने मौसाजी के साथ दर्शक था। मुझे फिल्म का कुछ भी याद नहीं है, लेकिन इतनी स्मृति जरूर है कि मौसाजी पूरी फिल्म में हाथ जोड़कर बैठे रहे। उनके लिए यह भगवान का साक्षात्कार था लेकिन यह उनकी गंवई मनोरचना

पर सिनेमा की ऐतिहासिक जीत थी। हिंदू मिथकों का अवतारवाद सिनेमाघरों की खिड़की पर अच्छी तरह बिकने लगा था। बावजूद इसके कि सिनेमा का जादू संपन्न ग्रामीण पुरुषों पर छाने लगा था लेकिन वे देखी गई फिल्म की चर्चा गांव के चौपालों या दालानों पर नहीं करते थे। वे इसे गुप्त रखते थे। इस तरह की चर्चा से बदचाल माने जाने का डर था क्योंकि लंबे समय तक यह मान्यता थी कि सिनेमा समाज और व्यक्ति को बिगाड़ता है। बुजुर्ग तबका सिनेमा के खिलाफ मोर्चाबंद था। बाद में धीरे-धीरे साधनसंपन्न वर्ग के वे दंपति भी सिनेमा देखने लगे, जो शहरों और कस्बों की यात्राओं पर जाते थे। फिल्मों की कहानी बयान करने से पुरुषों में परहेज लंबे समय तक बना रहा, लेकिन स्त्रियां फिल्मों के किस्से बताने लगीं। मैंने मां को 'रामराज्य', 'आग', 'धूल का फूल', 'मुगल-ए-आजम', 'आवारा' आदि की कहानियां कहते सुना था। अपनी समझ से मैंने भी उन किस्सों को अपने हमउम्रों से साझा किया था। मेरे हमउम्रों ने उसी तरह मंत्रमुग्धता से उन किस्सों को आत्मसात किया था, जिस तरह मैंने। दृश्यकथा का किस्सागोई में ढलना भी उन दिनों इतना अनूठा था कि आज उसे अनुभव नहीं किया जा सकता। मैं उस शाम को भूल वहीं सकता जब मुझसे पाँच-छह वर्ष बड़े एक लड़के ने 'दिल अपना और प्रीत पराई' का किस्सा बड़ी तन्मयता से संगी-साथियों को सुनाया था। वह एक आने में उस फिल्म के गानों की पुस्तिका भी खरीद लाया था। उसने एक गीत भी गाकर सुनाया था- 'मोरी छम-छम बाजे पायलिया।' वह गीत गंवई संगी-साथियों के दिलोदिमाग पर छा गया था। हमारी नजरों में फिल्म देखनेवाले उस लड़के का दर्जा बढ़ गया था, मानो उसने कोई दुर्लभ ज्ञान प्राप्त कर लिया हो, क्योंकि हमें इसका कोई प्रत्यक्ष अनुभव नहीं था। इस अनुभव को शहरी और कस्बाई लड़के नहीं महसूस कर सकते क्योंकि सिनेमा उनकी पहुंच में होता था।

उन दिनों के एक दृश्य की मुझे हल्की-सी याद है, जब गांव के एक रईस के घर ग्रामोफोन आया था। उस पर गाने के तवे घूमते थे। मशीन से निकलती आवाज सुनकर ग्रामीण हैरत में थे। ग्रामोफोन पर हर प्रकार के फिल्मी गीत बजते थे- प्यार, देशप्रेम, भक्ति के और कव्वालियां भी। गांव की हवा में फिल्मी गाने घुलने लगे थे। उन दिनों गांव के मेलों में धार्मिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाटक खेले जाते थे। नाटक में बीच-बीच में गांव का ही कोई गायक लोकगीत प्रस्तुत करता था। मसखरी भी होती थी। बाद में नाटक के विषय तो पूर्ववत रहे लेकिन नाटक के दृश्य या अंक परिवर्तन में आने वाले अंतराल में डांसर (पुरूष नर्तक) स्त्री वेश और श्रृंगार से सज्जित होकर आने लगे और रोमांटिक फिल्मी गानों पर नृत्य करने लगे थे। यह ग्रामीण और लोकरूचि में उल्लेखनीय परिवर्तन था। ग्रामसमाज फिल्मी गानों में रस लेने लगा था या कि अपनी सांस्कृतिक विरासत पर टिके रहने की जिद छोड़ने लगा था! यह लोकप्रिय और व्यावसायिक सिनेमा की विजय यात्रा थी। इसके बाद नाटकों के विषय पर भी फिल्मी पटकथाएं हावी होने लगीं। नागिन, 'अनारकली', 'हरिश्चंद्र', 'मुगल-ए-आजम' आदि की सिने-पटकथाएं ग्रामीण नाटकों को बेदखल करने लगीं। फिल्मों के मंचन का दायरा बढ़ता गया। एक दिन ऐसा भी आया, जब दशहरा मेला में टूरिंग टाकीज आई। नावों और बैलगाड़ियों पर मेले में फिल्म के प्रदर्शन का प्रचार किया गया। चार आने, छह आने और दस आने के टिकट बेचे गए। मैंने भी चोरी-छिपे तीन फिल्में देखी- 'रानी रूपमती', 'बैजू बावरा' और 'आकाश' (शायद!)। ग्रामीण दर्शकों ने इतिहास और संगीत से रची-बनी पहली दो फिल्मों को खूब पंसद किया लेकिन तीसरी फिल्म कम पसंद की गई क्योंकि वह शहरी मध्यमवर्ग पर आधारित थी।

इसकी कहानी ग्रामीणों के अनुभव जगत के लिए अजनबी थी। इस तरह मेरे गांव के आसपास के बीसों गांवों ने पहली बार फिल्मों का साक्षात्कार किया। वह शायद 58-59 का वर्ष था यानी भारतीय सिनेमा का पांचवां दशक। यह प्रत्यक्ष नाटकों, रामलीलाओं और लोककलाओं की अघोषित हार भी थी।

जब गांव में रेडियो आया तो उसमें भी फिल्मी गीतों को जगह मिल चुकी थी। बाद में सिलोन रेडियो से प्रसारित बिनाका गीत माला का नशा ग्रामीण युवा पीढ़ी पर भी तारी हो चुका था। गांव के दालानों और चौपालों पर बुधवार को रात आठ बजे समाचार सुना जाए या बिनाका गीत माला-इसको लेकर पीढ़ीगत संघर्ष शुरू हो चुका था। ट्रांजिस्टर ने इस संघर्ष में निर्णायक फैसला सुनाया। युवा पीढ़ी के चौपाल अलग हो गए और वहां अमीन सयानी की आवाज के साथ सोलह फिल्मी गानों का परचम हर सप्ताह फहराने लगा। पुरानी पीढ़ी दूसरे चौपाल पर समाचार सुनती रही। सिनेमा ने गांव में विभाजक रेखा खींच दी थी। हालांकि तबतक युवा पीढ़ी दातून से ही दांत साफ करती थी। बिनाका टूथपेस्ट का अतापता नहीं था, लेकिन बिनाका कपंनी ने युवाओं का मिजाज फतह कर लिया था। ग्रामीण श्रोताओं के लिए प्रतिदिन सुबह आठ बजे भी दुविधा होती थी कि रेडियो सिलोन से महान गायक के.एल. सहगल के गीत सुनें कि आकाशवाणी से देवकीनंदन पांडेय द्वारा वाचित समाचार। दोनों की आवाज का सम्मोहन समान था। रेडियो सिलोन की इन दोनों कामयाब पेशकश के दवाब में आकाशवाणी को भी फिल्मी गीतों का प्रसारण बढ़ाना पड़ा। कालांतर में रेडियो पर फिल्मों के ध्वन्यांकन (साउंड रिकार्डिंग) प्रसारित होने लगे। फिल्में ग्रामीणों के अधिक करीब आ गई। श्रोता संवादों और गीतों में सिनेमा का लुत्फ उठाने लगे। सिर्फ दृश्य नदारद था। संस्कार गीतों में भी फिल्मी तर्ज की नकल होने लगी। बाद में परंपरागत संस्कार गीतों को गांव भुला बैठा और फिल्मी गीतों ने अपना बसेरा कायम कर लिया। भजन-कीर्तन मंडलियां भी फिल्मी भजनों-गीतों पर आश्रित होने लगीं। विवाहों में लाउडस्पीकर का बजना अनिवार्य हो गया। फिल्मी गीतों का समां बंध गया।

आखिर ऐसी स्थिति आई कि ग्रामीण परिवारों में फिल्मों से परिचित लोगों की तादाद बढ़ने लगी। शहरों में कार्यरत ग्रामीण श्रमिकों की भी फिल्मों से पहचान बढ़ी। गांवों से शहरों में विस्थापित परिवारों और श्रमिकों ने भी कठोर श्रम की एकरसता मिटाने के लिए सिनेमा का सहारा लिया। ग्रामीणों में अपना बाजार बढ़ाने के लिए फिल्मों ने वे सभी लटके-झटके अपनाए, जो मन को मुट्ठी में करने के लिए अनिवार्य थे और हैं। टेलीविजन ने इसे संगठित विस्तार दिया। गांवों में सिनेमाघर बन नहीं सकते थे और टेलीविजन ने उस खाली जगह को भर दिया। प्रारंभ में आम ग्रामीणों के लिए टेलीविजन सिर्फ सिनेमा ही सिनेमा था। बाद में वे फिल्म और सिरियल का विभाजन समझने लगे। दोपहर, शाम और रात की फिल्मों का वर्गीकरण भी उनकी समझ में आया। अब ग्रामीण टीवी दर्शकों के लिए सिनेमा रोजमर्रा की चीज है। दुर्लभता का आकर्षण खत्म हो चुका है और सुलभता ने ललक को कमतर किया है लेकिन उपभोग की लालच को बढ़ा दिया है।

इस तरह सौ साल पहले 'सिनेमा में गांव' से शुरू हुआ सफर 'गांव में सिनेमा' को पहुंचाकर सफल हो गया। संगठित ओर केंद्रीकृत मनोरंजन के नाम से प्रारंभ इस मनोयुद्ध में महामाध्यम सिनेमा को निर्णायक विजय मिली। अब तक गांव का अधिकांश कच्चा माल सिनेमा इस्तेमाल

कर चुका है और सिनेमा द्वारा संचालित अधिकांश प्रभाव (नकारात्मक या सकारात्मक) गांव पर पड़ चुका है। अब पंचलाइट के गोधन को सलम सलम वाला सलीमा का गीत गाने पर जाति बहिष्कृत होने या मुखिया की अनुमति की जरूरत नहीं रह गई है, लेकिन प्रेम या अंतरजातीय विवाह पर जाति पंचायतों और वर्ण-धर्म का पहरा यथावत है। उसे सिनेमा भी समाप्त नहीं कर सका है। फिलहाल सिनेमा का दबदबा कायम है मिजाज से लेकर मनोरंजन तक। सिनेमा का बाजार तो गांवों तक फैल ही चुका है। शासक वर्ग की सारी नीति-रणनीति गांवों में सिनेमा के जरिए भी सक्रिय है क्योंकि अनिवार्यतः पूंजी नियंत्रित होने के कारण सिनेमा राज्य का ही प्रचारक है। वैसे भी भारतीय सिनेमा औपनिवेशिक चौकसी में पला बढ़ा है, इसलिए उसका चरित्र राज्यवादी ही है। गांवों ने इस पर अभी सवाल करना नहीं सीखा है लेकिन वह दिन आएगा जब गांव भी सिनेमा पर सोचना और सवाल करना शुरू करेंगे। सवाल होना इसलिए भी जरूरी है क्योंकि अंततः सिनेमा अधिकतम व्यवसाय और व्यावसायिक उद्देश्य है। इसका पूरा तंत्र काले धन पर टिका है और दर्शकों से सफेद धन प्राप्त कर ही यह वैधता पाता है। इस सफेद धन में ग्रामीण दर्शकों का भी बड़ा हिस्सा है। ग्रामीण दर्शकों में जिस दिन यह सच उजागर होगा, उस दिन वह सिनेमा की अदा पर फिदा होना छोड़कर उसके निहितार्थों से परिचित होगा और सिनेमा का वास्तविक सिनेमा उसके सामने भी प्रकट होगा।

(लेखक वरिष्ठ पत्रकार हैं)

आंसू बहा रहे हैं कस्बे के टॉकीज

उमेश चतुर्वेदी

यह वर्ष 1982 की बात है कि उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में मेरे ननिहाल के नजदीकी कस्बे बैरिया में एक सिनेमाहॉल खुला। उसके मैनेजर बनाए गए थे हमारे रिश्ते के एक चाचा। उन दिनों पूर्वी उत्तर प्रदेश के गांवों में सिनेमा देखने को चरित्र से जोड़कर देखा जाता था। ऐसी मान्यता थी कि जो सिनेमा देखता है और खासकर अगर वह छात्र हुआ तो समझो उसकी पढ़ाई-लिखाई गई तेल लेने...शायद शिक्षा से सिनेमा के बने इसी आंखमिचौली वाले रिश्ते की वजह से उन दिनों गांवों में सिनेमा देखने को चरित्रहीनता की तरह देखा जाता था। लेकिन सबसे बड़ी बात यह कि ऐसी सोच के बावजूद चरित्रहीनता के इस दलदल में डूबने की इच्छा ज्यादातर दिलों की होती थी। अगर दिल नौजवान हुआ तो पूछना ही क्या? उन दिनों किशोरवास्था से गुजर रहा अपना मन भी चरित्रहीन बनने की दबी-छुपी चाहत रखे हुए था। तब तक जिला मुख्यालय तक का दर्शन महज साल में एक बार, तब ही हो पाता था, जब ददरी मेला लगता था। अलबत्ता गांव और पड़ोस के कस्बे के स्कूल तक अपनी जिंदगी सिमटी और फैली हुई थी। साल में एक-आध मौके मामा के गांव या ऐसी ही किसी रिश्तेदारी में तब जाने को मौका मिल पाता था, जब वहां शादी-ब्याह या कोई आयोजन होता। ननिहाल जाने के क्रम में बैरिया कस्बा भी पड़ता था, लिहाजा अपनी उम्मीदें बढ़ गई थीं कि अब तो सिनेमा का दर्शन जरूर हो जाएगा और हुआ भी। उन दिनों केशव प्रसाद मिश्र के उपन्यास 'कोहबर की शर्त' पर आधारित फिल्म 'नदिया के पार' की धूम थी। दिलचस्प यह है कि बहुत कम लोगों को पता था कि जिस 'नदिया के पार' को देखने के लिए वे भगोना-थाली, आटा-सत्तू और चिउड़ा बांधकर ले जा रहे हैं, उसकी कहानी का लेखक उन्हीं के इलाके की करईल माटी का ही सपूत है। बहरहाल एक बार चाचा के सिनेमा हॉल पर जाने का मौका मिला, तब उसका नाम धरम टॉकीज हुआ करता था। टॉक यानी बोलने वाली तस्वीरों के ही चलते शायद सिनेमा हॉल को टॉकीज कहने का चलन बढ़ा। वहां पर 'नदिया के पार' सिनेमा चल रहा था। उस सिनेमा की धूम ऐसी थी कि दूर-दूर से लोग चले आ रहे थे। भीड़ देखकर टिकट के कालाबाजारियों की भी बन आई थी। तब दो-तीन और चार रूपए के टिकट होते थे। नीचे सेकंड क्लास दो रुपये का, रियर स्टाल या फर्स्ट क्लास तीन रुपये का और बॉलकनी चार रुपये का। सस्ती के जमाने में 'नदिया के पार' और उसकी गूंजा साधना सिंह का क्रेज ऐसा कि लोग दो तीन और चार की जगह पांच- आठ और दस तक देने को तैयार होते थे लेकिन टिकट था कि मिलता ही नहीं। तब लोगों ने नायाब तरीका निकाल लिया। घर से भगोना, बर्तन और घासलेट से चलने वाला स्टोव लेकर आने लगे। साथ में सत्तू-आटा, चिउड़ा, चावल, दाल और आलू-बैंगन लेकर लोग

सिनेमा हॉल पहुंचने लगे। तब रात नौ से बारह का शो कस्बाई सिनेमाघरों में कम चलता था। तब गांवों में आज की तरह कारें और घर-घर बाइकें नहीं होती थीं। लिहाजा देर रात सिनेमा देखकर लोग वहीं बगल के मैदान या जहां ठांव मिला लिट्टी-चोखा बनाते, दाल-भात बनाते-खाते और सो जाते। ऐसी हालत में देर रात का भी टिकट नहीं मिलता तो लोग अगली सुबह का इंतजार करते। भीड़ देखकर सिनेमा हॉल वालों ने सुबह का भी शो करना शुरू कर दिया।

आज भी फिल्में हिट होती हैं। अब तो फिल्मों के हिट होने का पैमाना सौ करोड़ की कमाई वाले क्लब में शामिल होना बन गया है। लेकिन क्या फिल्मों का वह क्रेज बन पाया है, जो आज से ढाई-तीन दशक पहले तक था। इस सवाल का जवाब निश्चित ही ना में दिया जा सकता है। निश्चित तौर पर तब की तुलना में आज के लोगों के पास पैसे की ताकत बढ़ी है। उनकी खरीद क्षमता में बढ़ोत्तरी भी हुई है लेकिन क्या उसकी तुलना में सिनेमा का वैसा क्रेज बढ़ा है। ऐसा नहीं कि फिल्मों का क्रेज सिर्फ टॉकीज में प्रदर्शन पर ही था। 1991 में जब दूरदर्शन पर 'प्यासा' फिल्म दिखाई गई तो उन दिनों नवभारत टाइम्स के सहायक संपादक और प्रसिद्ध फिल्म समीक्षक विनोद भारद्वाज को लिखना पड़ा था कि कल रविवार की शाम दिल्ली की सड़कों पर ट्रैफिक कम था। तब दूरदर्शन पर रविवार शाम को फिल्में दिखाई जाती थीं। बाद में यह क्रम शुक्रवार और शनिवार की रात को भी शुरू हुआ। तब देश की रगों में उदारीकरण की हवा से गुजरा रक्त नहीं बह रहा था। तब जिंदगी में आज जैसी आपाधापी नहीं थी। लिहाजा तब शुक्रवार की रात से लेकर रविवार की शाम तक का इंतजार पूरे सप्ताह भर तक होता था। सिर्फ इसलिए कि फिल्में देखी जा सकें और उनका आनंद उठाया जा सके। घरों में बहुएं भी सिनेमा वाले दिन रोटी-पानी पहले ही तैयार कर लेती थीं। राजकपूर के निधन के बाद के दूरदर्शन को याद कीजिए। उनकी फिल्मों का दस दिन का शो दूरदर्शन ने चलाया। कहा जाता है कि जिस 'मेरा नाम जोकर' को बनाने में राजकपूर बरबाद हो गए और वह उनके जीते-जी हिट नहीं हो पाई। वह उनके निधन के बाद हिट हो गई।

आज जमाना मल्टीप्लेक्स का है। मल्टीप्लेक्स का यह जमाना इसलिए भी आया, क्योंकि बाजार में जैसे ही वीडियो रिकॉर्डर आसानी से उपलब्ध हुआ, उसने सबसे पहला हमला टॉकीज पर ही किया। रही-सही कसर कांपैक्ट डिस्क यानी सीडी के आने से पूरी हो गई। जिन छोटे कस्बों में 'नदिया के पार', 'क्रांति', 'दूल्हा गंगा पार के', 'रूठ गइले सईंया हमार' देखने के लिए रोटी-पानी के इंतजाम के साथ भीड़ जुटती थी, उन कस्बों की छोड़िए, जिला मुख्यालय तक के टॉकीज को पूछने वाले अब कम ही बचे हैं। कस्बों के ये टॉकीज या तो अपने पुराने दिनों को याद करके आंसू बहा रहे हैं या फिर आलू-प्याज के गोदाम बन गए हैं। जिनके अंधेरों के बीच दो-ढाई दशक पहले तक सैकड़ों जोड़ी आंखें अपने दिल के साथ बैठी टकटकी लगाए रखती थीं, उनमें अब आलू-प्याज या फिर अनाज रखा जाता है। वह भी तब, जब ये इमारतें भाग्यशाली हुईं। अन्यथा कई को तो यह भी मयस्सर नहीं है। वीसीआर आने के शुरुआती दिनों में तो कस्बों के इनके जरिए फिल्में दिखाने का चलन शुरू हुआ। निश्चित तौर पर तब कैसेट महंगे होते थे, लिहाजा ज्यादातर फिल्में पाइरेटेड ही होती थीं और सस्ते में सुलभ होने लगीं। जब वीसीआर की खरीद आम आदमी की सीमाओं में आ गई तो तिरपाल टांगकर फिल्में दिखाने के इस चलन पर भी डाका पड़ गया। अब तो हर फिल्म की सीडी बाजार में दस से बीस रुपये तक में उपलब्ध है। लिहाजा अब तो छोटे कस्बों में तिरपाल के पीछे फिल्में दिखाने

का चलन भी ठप पड़ गया है।

चिंतनीय बात यह है कि उदारीकरण में पैसे तक पहुंच बढ़ने के बावजूद कस्बों के सिनेमाघर क्यों खत्म हो गए। इसकी बड़ी वजह यह है कि जिस अनुपात में पैसे की आवक बढ़ी है, उसकी तुलना में खर्च और उपभोक्तावाद भी बढ़ा है। छोटे शहरों और कस्बों की नियति भी ऐसी है कि वहां भी जिंदगी का संघर्ष कठिन और बड़ा हो गया है। लिहाजा कस्बाई टॉकीजों को चलाने और उनके रखरखाव का खर्च भी बढ़ा है। जाहिर है कि सस्ती दर पर टिकट मिलना भी मुश्किल हुआ है। टॉकीज संचालकों के लिए संभव ही नहीं है कि वे सस्ती दरों पर टिकट मुहैया कराएं। जब उनकी कठिनाइयां बढ़ने लगीं तो उन्होंने पहले सेक्स और सेमी पोर्न फिल्में दिखाकर भीड़ जुटाने की कोशिशें शुरू कीं। तब मलयालम और हिंदी की सेमी पोर्न फिल्मों की बन आई थी। कस्बा ही क्यों, इलाहाबाद-वाराणसी जैसे शहरों तक के सिनेमा हॉलों के रात और सुबह के शो 'जंगली जवानी', 'जख्मी जवानी' जैसे शीर्षकों वाली फिल्मों से पटे रहने लगे। लेकिन जब ऐसी फिल्में भी सीडी में मिलने लगीं तो जैसे सिनेमा हॉलों की कमर ही टूट गई। इससे निकलने के लिए सिनेमा हॉल मालिकों ने यूनियनें बनानी शुरू कीं और अपने-अपने इलाकों की राज्य सरकारों से सिनेमा हॉलों के टिकटों में मनोरंजन करों में रियायत देने की मांग शुरू की। इसके बावजूद राज्यों को इससे कुछ लेना-देना चूंकि था नहीं, लिहाजा कस्बाई सिनेमा के चौक अपने आप खत्म होते चले गए। यहां याद कर लेना उचित ही है कि दूरदर्शनी विस्तार के दौर में सिनेमा देखने को चरित्र से जोड़ने की सामाजिक अवधारणा पर जबर्दस्त चोट पड़ी। अव्वल तो इसका फायदा सिनेमा हॉलों को होना चाहिए था। चूंकि इससे भी सस्ता माध्यम घर तक पहुंच गया था, लिहाजा डेढ़-दो सौ रुपये में पूरे घर को सिनेमा दिखाना ज्यादा सस्ता नजर आने लगा। वीसीआर के दौर में इतनी ही रकम के किराए पर पूरा मुहल्ला सिनेमा देख लेता था। इसकी कीमत छोटे शहरों और कस्बों के साथ ही बड़े शहरों के सिनेमाघरों तक को दर्शकों की बेरूखी के तौर पर चुकाना पड़ा।

आज का सवाल यह है कि इसी दौर में बड़े शहरों में मल्टीप्लेक्स क्यों चमक रहे हैं? दरअसल मौजूदा व्यवस्था में पूंजी ज्यादातर बड़े शहरों के पास केंद्रित हो गई है। कमाई और रोजगार के साधन भी बड़े शहरों के पास ज्यादा है। उपभोक्तावाद ने रोजगार और पूंजी के गठजोड़ को अपनी ही सीमा में बांधने का चक्र चला है। पहले की तरह अब कमाने वाला अपनी ज्यादातर रकम पीछे छोड़ आए अपने गांव और घर को नहीं भेजता। बल्कि उसकी कमाई का सबसे बड़ा हिस्सा महानगरीय परिधि में ही खर्च हो जाता है और यह पूंजी महानगरों के इर्द-गिर्द ही घूमती रह जाती है। यानी खाने-खर्च करने के इस दौर में मल्टीप्लेक्स भी उन्हीं और बड़े शहरों में पनप रहे हैं, जो पूंजीवाद की मौजूदा अवधारणा और चलन के साथ तारतम्य जोड़े हुए हैं। लेकिन हमें ध्यान रखना होगा कि बड़े शहरों के पुराने टॉकीज में एक बार में जहां चार-पांच सौ लोग तक बैठते थे, अब मल्टीप्लेक्स के एक थिएटर में सौ-डेढ़ सौ लोग भी बमुश्किल बैठते हैं। यानी बड़े शहरों में भी इतने पूंजीवादी दबाव और आकर्षण के बावजूद सिनेमा का जनतंत्र छोटा हुआ है। चूंकि पूंजी भी यहीं हैं, लिहाजा यह जनतंत्र अपने छोटे-छोटे गुटों में बचकर अपना अस्तित्व बचाए हुए है। मल्टीप्लेक्स की अवधारणा भी दर्शकों को छोटे-छोटे समूहों में आकर्षित करने के लिए हुई और निश्चित तौर पर बड़े शहरों में सिनेमा को थिएटर के जरिए दिखाने और बचाने में इस अवधारणा ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

इसका यह मतलब नहीं है कि सिनेमा के दर्शक कम हो गए हैं। अव्वल तो दर्शक हैं और बढ़े भी हैं। आज तकनीक विस्तार के दौर में अब ऐसे टेलीविजन सेट और मॉनीटर भी आ गए हैं कि घरों में भी थिएटर की साउंड तकनीक का आनंद उठाया जा सकता है। बड़े शहरों में जहां इस तकनीक का बोलबाला है तो छोटे शहरों में लोग अपने पुराने ही सही टेलीविजन मॉनीटर के सहारे सिनेमा का रसास्वादन कर रहे हैं। इस पूरी प्रक्रिया में अगर जिला मुख्यालय तक सिनेमा हॉल बचे भी हैं तो उनके यहां फिल्म के हिट होने का पैमाना बदल गया है। अगर उनके यहां कोई फिल्म एक हफ्ते दोपहर और शाम का शो हाउसफुल चल गया तो फिल्म को कामयाब और हिट मान लिया जाता है। बदले दौर में फिल्म के रजत सप्ताह यानी 25 हफ्ते, स्वर्ण सप्ताह यानी 50 हफ्ते, हीरक सप्ताह यानी 60 हफ्ते और प्लेटिनम सप्ताह यानी 75 हफ्ते चलने का पैमाना काफी पीछे छूट गया है। बेशक ये पैमाने बदल गए हैं, इसके बावजूद कस्बों के सिनेमा हॉल दर्शकों की कमी के चलते अपने आंसू बहाने को मजबूर हैं। इस बीच फिल्मों का दर्शक वर्ग बढ़ा है लेकिन बढ़ती साक्षरता ने फिल्मों के पागलपन के हद तक का क्रेज खत्म कर दिया है। अब किसी देव आनंद की लचीली चाल पर कोई सुंदरी बेहोश नहीं होती। अब किसी राजेश खन्ना को खून से चिट्ठियां नहीं लिखी जातीं। भविष्य में भी शायद ही ऐसा हो। तो क्या यह मान लिया जाए कि सिनेमा का दर्शक भी कोरी भावुकता के दौर से आगे निकलकर परिपक्व हो चुका है। एक हद तक इस सवाल का जवाब हां में है। इसीलिए अब कोरी भावुकता की बजाय तर्कों वाली फिल्मों की मांग भी बढ़ी है। आज का दर्शक फिल्म के लिए खर्च की गई एक-एक पाई का हिसाब चाहता है। ऐसे में तो सिनेमा हॉल आंसू बहाते हैं तो बहाते रहें।

(लेखक चर्चित टीवी पत्रकार एवं स्तंभ लेखक हैं)

प्रतीक्षा है बच्चों के सिनेमा की

विनोद अनुपम

नौ साल का एक भाई अपनी सात साल की बहन का चप्पल बाजार में खो देता है, जब वह उसे मरम्मत करवाकर लौट रहा होता है। ढूंढने की अनथक कोशिशें कर अंततः उदास, सहमा भाई घर लौटता है। उसे अहसास है कि वह टूट चुकी चप्पल उसकी बहन के लिए कितनी जरूरी थी, क्योंकि उसके पिता की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं कि वे उसके लिए दूसरी चप्पल खरीद सकें, और कोई चप्पल उसके पास है भी नहीं, और नंगे पांव वह स्कूल जा नहीं सकती। चप्पल खोने की बात कहकर दोनों बच्चे अपने मां-बाप की चिंता बढ़ाना नहीं चाहते, वे रास्ता निकालते हैं। सवेरे के स्कूल में पढ़ रही बहन को भाई अपना जूता दे देता है, इस हिदायत के साथ कि वह छुट्टी होते ही घर लौट जाए ताकि उसी जूते को पहनकर वह स्कूल जा सके।

सात साल की उस छोटी लड़की को भी अपनी जवाबदेही का अहसास है, वह छुट्टी होते ही घर के लंबे रास्ते की ओर दौड़ लगाती है बावजूद इसके भाई को रोज स्कूल पहुंचने में देर होती है, वह रोज शिक्षक की डांट सुनता है, पर उसके पास कोई दूसरा विकल्प भी नहीं है। एक दिन बहन एक बच्ची के पांव में अपना चप्पल देख लेती है। वह उसका पीछा कर उसके घर तक पहुंच जाती है और दूसरे दिन अपने भाई को लेकर जाती है, इस आक्रामकता के साथ कि आज उससे चप्पल छीन ही लेना है। दोनों छिपकर उसके बाहर निकलने की प्रतीक्षा करते हैं लेकिन जब वह अपने अंधे पिता के कंधे पर हाथ लिए छोटे से खोंचे में कुछ सामान साथ लेकर फेरी के लिए निकल रही होती है, तो दोनों भाई-बहन किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। एक दूसरे के चेहरे को देखते दोनों वापस लौट जाते हैं।

ईरान की फिल्म 'चिल्ड्रेन ऑफ हेवन' की यह आरंभिक कथा है। परदे पर दिखते स्वाभाविक दृश्य विन्यास और बच्चों के सहज अभिनय का अहसास किए बगैर इन कथा सूत्रों में हालांकि सिर्फ फिल्म में प्रदर्शित बच्चों की संवेदनशील दुनिया की झलक ही पा सकते हैं। इस निष्कर्ष पर पहुंचने में तो लेकिन जरा भी असुविधा नहीं होती कि बच्चों का स्वाभाविक विकास उन्हें आसपास के प्रति अधिक संवेदनशील, अधिक ईमानदार बनाता है। वास्तव में यह फिल्म उन बच्चों में कहीं न कहीं सारे बड़ों को देखने के लिए बाध्य करती है कि वे भी स्वाभाविक रूप से बुरे नहीं उन्होंने भी अपने जीवन का आरंभ उसी संवेदनशीलता के साथ किया था, फिल्म बगैर कहे भी कहती है, आखिर बड़े होने के बाद इस कदर क्यों बदल जाते हैं हम? उन दोनों भाई बहनों के प्रेम, एक दूसरे के प्रति समर्पण, समय को पहचानने की उनकी संवेदना, अपने परिवार और समाज से सरोकार, वास्तव में वे बच्चे तो बड़े नहीं लगते, लेकिन हम काफी छोटे लगने लगते हैं उनके सामने।

अपने जूते तो छोड़कर वे वापस आ जाते हैं, लेकिन उनकी जरूरतें तो जस की तस हैं। भाई के सामने एक राह आती है जब शहर में दौड़ प्रतियोगिता होने वाली होती है, जिसमें सभी स्कूलों से बच्चों को भाग लेना है। इस दौड़ में चैंपियन को कप मिलना है जबकि रनर अप को जूते। भाई इसमें दूसरे स्थान पर आने के लिए कृत संकल्पित होकर तैयारी में लग जाता है। तैयारी होती भी है, इतनी कि भाई चैंपियन बन जाता है। सारा शहर, सारा स्कूल उनकी वाहवाही में जुटा है, लेकिन उसकी उदासी खत्म नहीं हो रही, उसकी आंखों के सामने बस वही जूते आ जाते हैं। उदास थका जब वह घर लौटता है तो एक और दुःख के पहाड़ का अहसास होता है। उन भाई-बहनों के बीच का वह इकलौता जूता दौड़ में पूरी तरह टूट चुका होता है।

कहानी यहीं खत्म होती है, लेकिन परदे पर एक और दृश्य आता है, जब थककर भाई आंगन में बने छोटे से कुंड में थकान उतारने के लिए पानी में अपने पांव उतार देता है, और छोटी-छोटी मछलियां उसके पैरों के पास जमा हो जाती हैं। दर्शकों का दिल कतई गवारा नहीं करता कि वे उन बच्चों को इस हाल में छोड़कर सिनेमा से बाहर निकलें, लेकिन वे निकलते हैं निश्चय ही इस संवेदना के साथ कि जरूरतमंद बच्चों के दर्द का अहसास वे कर सकें। एक अनजान सी भाषा, अनजान से मुल्क की वह छोटी सी फिल्म बहुत कुछ नहीं कहती, बस बालमन के अंदर प्रवेश का अवसर देती है। चप्पल गुम हो जाने के बाद जब बहन भाई के जूते पहनकर स्कूल जाती है तो हर वक्त उसकी निगाहें लोगों के पैरों पर ही टिकी होती हैं। स्कूल में प्रार्थना के समय उसकी निगाहें बस बच्चों के पैरों पर दौड़ती रहती हैं। काश! कहीं दिख जाए उसकी गुमशुदा चप्पल! अद्भुत! उसकी छुट्टी होते ही जिस जवाबदेही के साथ भरे-पूरे बाजार की पूरी रौनक छोड़ छह-सात साल की वह छोटी बच्ची दौड़ती है, किसी के भी रोंगटे खड़े हो सकते हैं।

'चिल्ड्रेन ऑफ हेवन' ईरान की छोटी सी फिल्म की इस बड़ी सी कहानी की चर्चा बस यह याद दिलाने की कोशिश है कि क्या भारतीय सिनेमा के 100वें वर्ष में एक भी ऐसी फिल्म का स्मरण कर सकते हैं, जिसमें बच्चों की मानसिकता को इस तरह पूरे सकारात्मक सोच के साथ फिल्माने की कोशिश कभी किसी के द्वारा की गई हो? उल्लेखनीय यह कि बकायदा राइट्स लेकर भी जब इसी फिल्म को प्रियदर्शन हिंदी में बनाते हैं तो बच्चे का स्नीकर ही रिबाक के स्पोर्टस शू में नहीं बदल जाता, सीधी सादी संवेदनशील कहानी को आतंकवाद की छौंक से इतना बोझिल बना दिया जाता है कि वह बच्चों के लिए बची रह ही नहीं पाती।

इसके अलावा भी श्याम बेनेगल, गोविन्द निहलानी से लेकर गुलजार और यश चोपड़ा, करण जौहर, सुभाष घई तक में तो हिंदी की कोई फिल्म याद नहीं की जा सकती जिसमें बालमन की सकारात्मकता को बच्चों के लिए विश्लेषित करने की कोशिश की गई हो। सत्यजित राय चूंकि खुद बच्चों के लिए लिखते भी रहे, इसलिए उन्होंने अवश्य बच्चों के लिए कुछ बेहतर फिल्में बनाने की कोशिश की लेकिन भारतीय सिनेमा का इससे बड़ा दुर्भाग्य और क्या होगा कि उनकी इस सार्थक कोशिश को भी फिल्म समीक्षक आपातकाल के डर से जोड़कर देखने लगे। वास्तव में आलोचकों के निरपेक्ष नजरिए ने भी बाल फिल्मों के प्रति सोचने के लिए फिल्मकारों को उत्साहित नहीं किया। आश्चर्य नहीं कि यहां बाल फिल्म बनाने की प्राथमिकता में भी बाजार पहले रहा, बच्चे पीछे।

हिंदी में बच्चों के नाम पर बनी जो भी फिल्में याद की जा सकती हैं, उनमें एक 'तारे जमीन

पर' जो मूलतः अभिभावकों के लिए बनी थी, को थोड़ी देर के लिए छोड़ दे तो अधिकांश फिल्में 'थोड़ा प्यार थोड़ा मैजिक' से लेकर 'हम हैं राही प्यार के' तक सभी में सिर्फ बच्चों की शैतानियां मुखर दिखती हैं। गुलजार के 'परिचय' और 'किताब' में जो शैतानी थोड़ी बाल सुलभ लगती थी, 'थोड़ा मैजिक...' तक आते आते अराजक हो गई। यह भी एक अद्‌भुत विडंबना है कि 'परिचय', 'हम हैं राही प्यार के', 'राजू चाचा', 'थोड़ा प्यार थोड़ा मैजिक' सभी के कथानक कमोबेश एक ही आधार भूमि पर विकसित हैं। वह भी तब जब उनमें से अधिकांश फिल्में आइडिया के लिए हॉलीवुड पर आश्रित रहीं।

बीते दिनों विशाल भारद्वाज ने 'मकड़ी' बनाकर बाल सिनेमा की सख्त जमीन तोड़ने की कोशिश की। किसी सुखद आश्चर्य से कम नहीं की इसके कुछ एक वर्षों बाद उन्होंने फिर बच्चों के लिए 'ब्लू अम्ब्रेला' भी बनाई निश्चित रूप से व्यावसायिक कुशलता के साथ बच्चों पर केंद्रित फिल्म बनाने की वह एक सराहनीय शुरुआत थी। इसी तरह की एक कोशिश सौमित्र रानाडे ने 'जजंतरम ममंतरम' के रूप में की थी। इन फिल्मों को कुछ दर्शक भी मिले और आलोचकों की प्रशंसा भी लेकिन इन फिल्मों को 'चिल्ड्रेन ऑफ हेवन' के तुलनात्मक रखकर देखने लगते हैं तो इसका खोखलापन स्पष्ट हो जाता है। आखिर इस तरह की वेलमेड फिल्मों से बच्चों को हम दे क्या रहे होते हैं, क्या एक हिंदुस्तानी 'हैरी पाटर' या 'स्पाइडरमैन'। बच्चों की दुनिया चमत्कार से मुक्त कर हम क्यों नहीं गढ़ सकते? नागेश कुकुनुर ने सुभाष घई के लिए 'इकबाल' के रूप में यह कोशिश की थी। परिवार, रिश्ते, समर्पण, संघर्ष की यह कथा बच्चों को सीधे संबोधित नहीं होती, उनके सामने एक स्थिति रखती है और उन्हें सोचने के लिए बाध्य करती है।

कनाडा के एक बाल फिल्म विशेषज्ञ राबर्ट राय बाल फिल्म को परिभाषित करते हुए कहते हैं 'वह फिल्म जिसमें बच्चा खुद को एकात्म महसूस करे हमें अपने विचारों को लादने के बजाए बच्चे को स्वतः अपनी राय कायम करने हेतु स्वतंत्र छोड़ देना चाहिए।' यदि 'तारे जमीन पर', 'राहुल', 'मासूम' जैसी पूर्णतया वयस्कों को संबोधित फिल्मों को छोड़ भी दें तो आम तौर पर बाल फिल्मों के नाम पर हमारा वास्ता ऐसी फिल्मों से अधिक पड़ता है जो अपनी सार्थकता साबित करने की कोशिश में अभिभावकों और शिक्षकों के उपदेशात्मक रवैए को प्रतिबिंबित करती हैं। 'बाल चित्र समिति' ने तो अपने अधिकांश कार्यकाल में राजनीतिक आकाओं की अनमनस्कता झेलता स्वतः ही अप्रासंगिकता की ओर अग्रसर है, आजादी के बाद से मुख्यधारा के प्रतिष्ठित निर्देशकों ने भी जो फिल्में बनाई उनमें बच्चों को साथ लेकर चलने के बजाए मोटे-मोटे संदेश ठूंसे जाते रहे। यह आदर्शवाद कई फिल्मों में तो इतना भारी पड़ जाता था कि यह समझना मुश्किल हो जाता था बच्चे आखिर इतना सद्‌ज्ञान लेकर करेंगे क्या? आखिर वे रह भी तो इसी समाज में रहे हैं, रोज की व्यवहारिकता से परे कोरे आदर्श की बातें बच्चों पर कोई छाप छोड़ने में असफल रह जाती और जो फिल्में बच्चों की प्रसन्नता और उनके मनोरंजन के नाम पर बनाई जा रही थीं, वे उससे जान छुड़ाने की कोशिश में लग जाती हैं। सत्येन बोस की बहुप्रशंसित फिल्म 'जागृति' जिसे भारतीय बाल फिल्म के इतिहास में मील का पत्थर माना जाता रहा है, वह भी बाल दर्शकों को सिद्धांतों और नैतिकता का उपदेश ही दे पाई। 'जागृति' का केंद्रीय तथ्य ही बच्चे पर पांडित्यपूर्ण शैली में आचरण की बाध्यताएं लागू करने पर जोर देता है, जिसका पालन उसे अवश्यमेव करना चाहिए। यह 'अवश्यमेव' बच्चों को इस तरह की

फिल्मों से दूर ले जाता रहा।

बाल फिल्मों से कायम होती बच्चों की दूरी उसे वयस्क या बड़ों के सिनेमा की ओर आकर्षित करती है। अपने बालपन की दुनिया से परे बड़ों की रंग-रंगीली दुनिया उनके अबोध मस्तिष्क को ज्यादा आकर्षक भी लगती है। आश्चर्य नहीं कि आज किसी बच्चे की पसंदीदा फिल्मों की सूची में न तो कोई बाल फिल्म होती है, न ही कोई बाल कलाकार, और न ही कोई बाल गीत। होता है बस 'इश्क वाला लव' जिसका शायद मतलब भी उन्हें नहीं पता, लेकिन इन गीतों को गाते हुए उनके भावों को देखकर कतई आप नहीं मान सकते इन शब्दों के अर्थ से ये मासूम महरूम हैं। बड़ों की मनोरंजन फिल्में हमें कतई निर्दोष लग सकती हैं लेकिन हम भूल जाते है कि ये 'निर्दोष' एक परिपक्व मस्तिष्क के लिए है। निष्कलुष बाल मन के लिए इन फिल्मों से अच्छे-बुरे को अलग कर पाना मुश्किल होता है, वे सब कुछ यथावत स्वीकार करते हैं, हिंसा भी सेक्स भी, प्रेम भी, अपराध भी। और इन सबकी अभिव्यक्ति में इन्हें जरा भी हिचक नहीं होती क्योंकि वे परदे की छाया को सच मानकर चलते हैं।

वे दिन गए जब घरों में बच्चे सिनेमा देखने के लिए डांट सुना करते थे। सच यही है कि सिनेमा आज हमारी दिनचर्या में अनिवार्य रूप से शामिल है। जिस तरह वयस्कों की इंटरनेट साइट से बच्चों को बचाने की कोशिशें आज हमारी प्राथमिकता में शामिल हो गई है, उसी तरह दिन ब दिन वयस्क और हिंसक होते जा रहे हिंदी सिनेमा के भी खतरों को हमें महसूस करना होगा और महसूस करना होगा हिंदी में 'चिल्ड्रेन ऑफ हेवन' की जरूरत। आखिर कहीं न कहीं हम ही तो दोषी हैं कि 'स्वामी' जैसी फिल्म दोबारा बनाने की हिम्मत कोई फिल्मकार नहीं जुटा पाते। आज बच्चों के नाम पर-हनुमान, गणेश, घटोत्कच जैसे चरित्रों पर फिर से फिल्में बन रही हैं, फिर से का अर्थ कि भारत में सिनेमा की नींव ही इन्हीं विषयों पर रखी गई थी। दादा साहब फाल्के के बनाए 125 फिल्मों के दायरे से शायद ही कोई पुराण कथा बची हो। कतई आश्चर्य नहीं कि बच्चों के लिए विषय की तलाश होती है तो 100 साल पीछे लौटना पडता है। स्वाभाविक है बच्चे इन्हें स्वीकार ही नहीं कर पाते। वास्तव में हमारे जल्दी-जल्दी बड़े होते बच्चे के लिए जरूरी है कि कुछ फिल्में ऐसी बनें जिनमें 'वे' भी दिखें, उनकी संवेदना भी उनकी कमजोरियां भी।

भारतीय सिनेमा की इस सदी के अंत में 'चिल्लर पार्टी', 'स्टेनली का डब्बा', 'आइ एम कलाम', 'गट्टू' जैसी बच्चों से बच्चों की भाषा में संवाद करती कुछ फिल्में आईं,लेकिन हरेक वर्ष 800 से भी ज्यादा फिल्में बनाने वाले मुल्क में यह संतोष के लिए भी काफी नहीं हो सकती। वास्तव मे बाल सिनेमा के नाम पर कुछ फिल्मों का बनना काफी नहीं है,जरूरी है ऐसी फिल्मों का लगातार बनना जो बच्चों का बडों के सिनेमा से मोहभंग कर सकें, जैसा 'डोरेमोन' और 'सिनचैन' जैसे जापानी कार्टूनों ने किया है। यदि हम भविष्य के लिए चिंतित है तो हमें बच्चों के लिए चिंतित होना होगा, और यदि बच्चों के लिए चिंतित है तो हमें बाल सिनेमा के लिए चिंतित होना होगा।

(लेखक सुपरिचित सिने विश्लेषक हैं)

हिंदी फिल्मों में गीत संगीत का बदलता चेहरा

शरद दत्त

पिछले वर्ष से भारतीय सिनेमा का शताब्दी वर्ष देश भर में मनाया जा रहा है। इस अवसर पर भारत की पहली मूक फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' जिसका पहला सार्वजनिक प्रदर्शन मई 1913 में बंबई में, कोरोनेशन थिएटर में हुआ था, जिसके निर्माता, निर्देशक, पटकथाकार, संपादक धुंडिराज गोविंद फाल्के को भी याद किया गया। फाल्के ने अपने जीवनकाल में सोचा भी ना होगा कि उनका यह प्रयास एक उद्योग का रूप धारण कर लेगा। कालांतर में इस उद्योग में से एक और महाउद्योग बना, फिल्मों का गीत संगीत। शताब्दी समारोह के अवसर पर सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय ने कई आयोजन भी किए।

सबसे पहले मंत्रालय ने गणतंत्र दिवस 2013 पर एक झांकी निकाली, जिसमें भारतीय सिनेमा के गौरवशाली सौ वर्षों की झलकियां दिखाई गई थी। फिल्म समारोह निदेशालय ने घोषणा की कि फिल्म पुरस्कारों का वितरण हर वर्ष 3 मई को किया जाएगा क्योंकि 3 मई 1913 को 'राजा हरिश्चंद्र' का पहला सार्वजनिक प्रदर्शन हुआ था। (वास्तव में फिल्म 13 मई 1913 को प्रदर्शित हुई थी)। इस वर्ष अप्रैल के अंतिम सप्ताह में मंत्रालय ने राजधानी के सिटी कोर्ट में पिछले 100 वर्षों में सिनेमा की विकास यात्रा पर एक प्रदर्शनी भी लगाई। एक सप्ताह तक चुनी हुई फिल्मों के साथ साथ 'राजा हरिश्चंद्र' की चंद रीलें भी दिखाईं गई। यह रीलें मूल फिल्म से ना थी। इनको दादा साहब फाल्के द्वारा 1917 में 'राजा हरिश्चंद्र' को दोबारा छायांकित किया गया था। इन रीलों को राष्ट्रीय फिल्मागार के पहले निदेशक पी.के.नायर ने नासिक में फाल्के परिवार के घर से ढूंढ निकाला था। इस अवसर पर कई परिचर्चाओं का भी आयोजन किया गया। इन परिचर्चाओं में फिल्मों के कई विषयों को छुआ गया और कुछ एक विषय जो अनछुए रह गए उनमें फिल्मों का संगीत भी था। कुछ संगीत प्रेमियों ने इस पर सवाल भी उठाए कि संगीतकारों, गीतकारों, गायक, और गायिकाओं को क्यूं दरकिनार कर दिया गया। आयोजकों के पास इसका कोई संतोषजनक उत्तर ना था। हिंदी सिने संगीत को इसलिए महाउद्योग की संज्ञा दी जाती है कि कई बार ऐसा भी हुआ है कि फिल्म ने व्यावसायिक तौर पर निर्माताओं को निराश किया, लेकिन फिल्म के गीतों व संगीत ने उससे कई गुणा अधिक कमाई की।

फिल्मों में संगीत तो मूक फिल्मों के युग से ही अभिन्न अंग था। मूक फिल्मों के प्रदर्शन में संगीत सजीव रूप में प्रस्तुत किया जाता था। कुछेक साजिंदे परदे के सामने एक पिट में बैठ जाते और फिल्म की विषयवस्तु के अनुसार अनुकूल संगीत बजाते रहते। लगभग 20 वर्षों तक यह सिलसिला जारी रहा।

14 मार्च 1931 में 'आलम आरा' के प्रदर्शन से देश में एक नए युग का सूत्रपात हुआ।

'आलम आरा' भारत की पहली सवाक फिल्म थी, जिसके निर्माता निर्देशक थे खान बहादुर आर्देशिर ईरानी। इसी के साथ शुरू हुआ फिल्मों में गीतों और नृत्य का सिलसिला। इस फिल्म का पहला गीत वजीर मोहम्मद खान, जिन्होंने फिल्म में एक फकीर की भूमिका भी, निभाई थी के स्वर में था। गीत के बोल थे 'दे दे खुदा के नाम पे प्यारे, ताकत हो गर देने की, कुछ चाहे अगर तो मांग ले, मुझसे हिम्मत हो गर लेने की'। इस प्रकार यह गीत हिंदी फिल्म संगीत का पहला गीत बना और इस तरह वजीर मोहम्मद खान बने फिल्मों के पहले गायक। फिल्म में सात गाने और भी थे। दुर्भाग्यवश आज फिल्म का प्रिंट तक उपलब्ध नहीं है। 'आलम आरा' के गाने रिकॉर्डों पर भी नहीं आए। गाने के रिकॉर्डों का चलन 1932 में फिल्म माधुरी से हुआ। यूं तो इस फिल्म में कई गीत थे, लेकिन सुप्रसिद्ध शास्त्रीय गायक प. विनायक राव पटवर्धन ने, जिन्होंने माधुरी में प्रमुख भूमिका भी निभाई थी के स्वर में गाए दो रिकॉर्ड बाजार में आए जिनमें रिकॉर्ड के दोनों ओर चार गीत थे। आज भी दुर्लभ रिकॉर्डों के संग्रहकर्ताओं के पास यह रिकॉर्ड उपलब्ध है। एक बार गीतों की रिकॉर्डिंग का जो सिलसिला चला वह आज तक जारी है।

पार्श्व गायन की सुविधा आने से पहले अभिनेता या अभिनेत्री को अपने स्वर में गाना पड़ता था जब इन गीतों का फिल्मांकन किया जाता था। गानों के फिल्मांकन के समय साजिंदे कैमरे की पहुंच से बाहर होते थे।

फिल्मों के शुरुआती दौर में दादा साहब फाल्के, आर.जी.तोरणे, हीरा लाल सेन ने जो बुनियाद रखी थी उस नींव को मजबूत बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया महाराष्ट्र, कलकत्ता और बंबई के फिल्म उद्योग से जुड़े बाबू राव पेंटर वी. शांता राम, बी.एन. सरकार, हिमांशु राय, जे.ऍफ. मदन, आर. मुदलियार तथा आर. प्रकाश ने। इन लोगों ने निजी प्रयासों से समर्पित कलाकारों और तकनीशियन की टीम जुटाकर स्टूडियो सिस्टम की शुरुआत की।

उन दिनों फिल्म निर्माण के मुख्य केंद्र थे कलकत्ता, बंबई, पुणे और मद्रास। न्यू थिएटर्स, प्रभात फिल्म्स, और बांबे टॉकीज ने इनमें अहम भूमिका निभाई और जनता को सार्थक व साफ सुथरी फिल्में देकर उनका भरपूर मनोरंजन किया। इन फिल्मों का सबसे सशक्त पक्ष था संगीत। संगीत विभाग इन स्टूडियोज का प्रमुख विभाग होता था। न्यू थिएटर्स के संगीतकार थे राय चंद बोराल, पंकज मल्लिक और तिमिर बरन। संगीत के इन विशारदों ने अमर संगीत की रचना की। बांबे टॉकीज की संगीत निर्देशिका थी सरस्वती देवी (खुर्शीद मिनोचर होमजी) सागर मूवीटोन और नेशनल स्टूडियोज में संगीत देने के बाद अनिल विश्वास भी बांबे टॉकीज से जुड़ गए थे। प्रभात फिल्म कंपनी में थे गोवर्द्धनदास टेंबे तथा केशवराव भोले और मास्टर कृष्णराव जैसे दिग्गज।

इन स्टूडियोज की फिल्म निर्माण प्रक्रिया भी बहुत रुचिकर थी। न्यू थिएटर्स एक ओर रवींद्रनाथ ठाकुर, शरतचंद्र चट्टोपाध्याय और बंकिमचंद्र बंद्योपाध्याय की साहित्यिक कृतियों पर फिल्में बना रहा था, तो दूसरी ओर भक्त कवियों चंडीदास और विद्यापति के जीवन पर भी। प्रभात फिल्म कंपनी ने 'अयोध्या का राजा', 'अमृत मंथन' जैसी फिल्में बनाने के पश्चात 'संत तुकाराम' फिल्म का निर्माण किया। बांबे टॉकीज सामाजिक विषयों पर फिल्में बनाने में सक्रिय था। 'जीवन नैया', 'अछूत कन्या', 'झूला', 'बंधन' और 'कंगन' जैसी फिल्मों का निर्माण भी इस संस्था ने किया था जो आज भी अपने गीतों के लिए याद की जाती हैं।

फिल्मों के शुरुआती दौर में इन फिल्मों में भक्ति संगीत और नाट्य संगीत का पुट सुनने को मिलता था। बाद में जैसे-जैसे फिल्म संगीत की रिकॉर्डिंग में सुधार होते गए, इसमें महत्वपूर्ण बदलाव आते गए।

न्यू थिएटर्स के संगीत विभाग में सबसे प्रभावशाली भूमिका निभाई रायचंद बोराल ने, उन्होंने न्यू थिएटर्स की शरत बाबू की 'देना पावना' में (बांग्ला) संगीत दिया था। कुंदन लाल सहगल की पहली तीन फिल्मों 'मोहब्बत का आंसू', 'सुबह का सितारा' और 'जिंदा लाश' में उनका संगीत और सहगल की आवाज दर्शकों को ज्यादा आकर्षित नहीं कर पाए लेकिन देवकी कुमार बोस द्वारा निर्देशित 'पूरण भगत' में आर. सी. बोराल ने के.एल.सहगल की आवाज में चार जन रिकॉर्ड किए 'राधे रानी दे डारो ना बांसुरी मेरी', 'दिन नीके बीतत जात है', 'अवसर बीतो जाए' और 'भजू मैं तो भाव से' गिरधारी ने पूरे देश में बोराल और सहगल को स्थापित कर दिया। ये भजन पूरे देश में सुने जाते थे और संगीत प्रेमियों की जुबान पर थे। देवकी बोस द्वारा बांग्ला में निर्देशित 'चंडीदास' के हिंदी संस्करण में सहगल ने 'चंडीदास' की मुख्य भूमिका निभाई। 'तड़पत बीते दिन रैन' और सहगल और उमा शशि का युगल गीत 'प्रेम नगर में बसाऊंगी', 'तज कर सब संसार' बहुत लोकप्रिय हुए। कुंदनलाल सहगल की 11 फिल्मों में राय चंद बोराल ने संगीत दिया था। स्ट्रीट सिंगर में गाया 'बाबुल मोरा नैहर छूटो जाए' और प्रेसिडेंट में 'इक बांग्ला बने न्यारा' और 'इक राजा का बेटा लेकर उड़ने वाला घोड़ा' और जिंदगी में सहगल की गाई लोरी 'सोजा राजकुमारी सोजा' रायचंद बोराल के कालजयी गीत हैं।

रायचंद बोराल ने अपने संगीत में आर्गन, बांसुरी, वायलिन, और हारमोनियम जैसे वाद्यों का प्रयोग कर उसे फिल्मी स्टाइल में पेश किया। उन्होंने न्यू थिएटर्स की 66 फिल्मों, 33 हिंदी और 33 बांग्ला फिल्मों में संगीत दिया।

न्यू थिएटर्स के दूसरे स्तंभ थे पंकज मल्लिक 'डॉक्टर', 'नर्तकी', 'मुक्ति', 'माई सिस्टर' में 'आई बहार आई बहार' 'ये कौन आज आया सवेरे सवेरे', 'चलें पवन की चाल', 'ऐ कातिबे तकदीर मुझे इतना बता दे' जैसे गीतों को पंकज मल्लिक ने ही संगीतबद्ध किया था। पंकज बाबू का सबसे बड़ा योगदान फिल्मों में रवींद्र संगीत को लोकप्रिय करना रहा है। फिल्म 'मुक्ति' में 'कौन देश है जाना बाबू' और अन्य गानों में रवींद्र संगीत को खूबसूरती से पेश किया.

तिमिर बरन ने न्यू थिएटर्स की कुछ फिल्मों में संगीत दिया था लेकिन उनके संगीतबद्ध किए, फिल्म 'देवदास' में सहगल गाए, 'बालम आए बसो मेरे मन में' और 'दुःख के दिन बीतत नाही' आज 78 वर्षों बाद भी दर पीढ़ी गुनगुनाए जाते हैं।

कृष्ण चंद्र डे, पहाड़ी सान्याल और उमा शशि और कानन देवी जैसे गायक, गायिकाओं का श्रेय भी न्यू थिएटर्स को जाता है। फिल्म संगीत में योगदान के लिए न्यू थिएटर्स के पंकज मल्लिक आर.सी. बोराल और कानन देवी को दादा साहब फाल्के पुरस्कार से नवाजा गया था। पार्श्व गायन की प्रथा 1935 में न्यू थिएटर्स ने शुरू की फिल्म 'धूप छांव' से। हिंदी फिल्मों में पार्श्व गायन की शुरुआत संगीत निर्देशक रामचंद्र बोराल के निरीक्षण में पारुल घोष (अनिल विश्वास की बहन) के स्वर से हुई। रिकार्डिंग की तकनीक में सुधार से गायन शैली में भी सुधार हुआ। फिल्म संगीत के पहले चरण में पारसी शैली के नाटकों और कोठे और मुजरे की झलक साफ देखी जा सकती थी।

बांबे टॉकीज को भारत की प्रथम महिला संगीतकार को फिल्मों में लाने का श्रेय जाता

है। खुर्शीद मिनोचर होमजी नामक पारसी महिला ने पारसी समाज की आलोचना के कारण फिल्मों में सरस्वती देवी नाम से संगीत दिया। बांबे टॉकीज की पहली फिल्म 'जवानी की हवा' से लेकर 'नया संसार' तक सरस्वती देवी ने बांबे टॉकीज की 19 फिल्मों में संगीत दिया। सरस्वती देवी की कला से 'मैं बन की चिड़िया बन के वन वन डोलूं रे (अछूत कन्या), 'चल-चल रे नौजवान ('बंधन')', 'ना जाने किधर आज मेरी नाव चली रे' ('झूला')', 'मैं तो दिल्ली से दुल्हन लाया रे ('झूला')', 'एक नया संसार बसा ले' ('नया संसार') आदि फिल्मों का संगीत कालजयी बन गया।

प्रभात फिल्म कंपनी के प्रमुख संगीतकार थे गोविंद राव टेंबे,केशव राव भोले और मास्टर कृष्ण राव महाराष्ट्र के जनमानस पर नाट्य संगीत का सर्वाधिक प्रभाव था। गोविंद राव टेंबे ने प्रभात की फिल्मों में पहली बार शास्त्रीय ढंग पर संगीत रचा। 1932 में प्रभात की फिल्म 'अयोध्या का राजा', (हिंदी), और 'अयोध्या चे राजा' (मराठी में भी प्रदर्शित हुई)। इस फिल्म को गोविंद राव टेंबे ने ही संगीत से संवारा था। उन्होंने फिल्म में मुख्य भूमिका भी निभाई थी। उन्होंने 'अग्नि के कण', 'माया मच्छिंदर', 'सिंहगढ़' और 'सैरंध्री' में भी संगीत प्रदान किया। प्रभात के संगीत ने धीरे-धीरे मोड़ लिया और इसमें अहम भूमिका निभाई केशवराव भोले और मास्टर कृष्णा राव ने। इनके संगीत में विविधता थी। 'संत तुकाराम', 'संत ज्ञानेश्वर', 'राम शास्त्री' और 'आदमी' में केशव राव भोले ने प्रभावशाली संगीत दिया। कृष्णराव का संगीत भी मनोरंजन प्रधान था।

संगीतकार अनिल विश्वास ने महबूब खान की शुरुआती फिल्मों में संगीत दिया था। जिसमें 'औरत' और 'रोटी' दो ऐसी फिल्में थी, जिसका संगीत सुपरहिट साबित हुआ। बाद में अनिल विश्वास बांबे टाकीज से जुड़े और सन 1943 में बनी फिल्म 'किस्मत' में उनका संगीत काफी चर्चित रहा। खासकर देशभक्ति गीत 'दूर हटो ऐ दुनियावालों' ने तहलका मचा दिया था और 'धीरे धीरे आ रे बादल' एवं 'घर-घर' में दिवाली है' कालजयी गीत साबित हुए। मुकेश और तलत महमूद जैसे गायकों को स्थापित करने वाले भी अनिल विश्वास ही थे। चालीस के दशक में फिल्म संगीत में फ्यूजन दिखाई देना शुरू हो गया था। पहली बार मास्टर गुलाम हैदर ने ढोलक का इस्तेमाल करके पंजाबी लोक संगीत प्रस्तुत किया। मास्टर गुलाम हैदर ने शमशाद बेगम को हिंदी फिल्म संगीत से जोड़ा और फिल्म 'खजांची' के लिए 'सावन के नजारे हैं अहा-अहा' गाने का अवसर दिया। सन 1942 में खानदान फिल्म में नूरजहां को गाने का मौका मिला। 1948 में फिल्म 'मजबूर' में मास्टर गुलाम हैदर के संगीत निर्देशन में लता मंगेशकर ने पहला हिट गीत गाया। 'दिल मेरा तोड़ा कहीं का ना छोड़ा'। पंडित अमरनाथ (पंडित हुस्नलाल-भगतराम के बड़े भाई) ने फिल्म 'दासी' के लिए यादगार संगीत दिया। खेमचंद प्रकाश ने के एल सहगल और खुर्शीद आलम अभिनीत फिल्म 'तानसेन' में शास्त्रीय रंग में सराबोर संगीत दिया। 'भतृहरि' में इनका संगीत खासकर गीत 'चंदा देस पिया के जा' जिसे अमीरबाई कर्नाटकी ने गाया और दूसरा युगल गीत 'भिक्षा दे दे भैया पिंगला' जिसे सुरेंद्रनाथ के साथ गाया। 1950 के दशक का चार्ट बस्टर गीत बना, 'आएगा आने वाला। खेमचंद प्रकाश के संगीत निर्देशन में 'महल' के इस नए गीत ने पूरे देश को रोमांचित कर दिया था। यह गीत लता के लिए ट्रेडमार्क ही बन गया। खेमचंद प्रकाश ने ही पहली बार किशोर कुमार से फिल्म 'जिद्दी' के लिए पार्श्व गायन कराया, गाना था 'मरने की दुआएं क्यों मांगू'। इस फिल्म का दूसरा हिट

गीत 'चंदा जा रे जा' लता मंगेशकर ने गाया था। फिल्म जगत में आते ही नौशाद ने अपने संगीत का लोहा मनवा लिया। नौशाद ने पहली बार संगीत निर्देशन किया सन 1940 में फिल्म 'प्रेमनगर' के लिए। 1944 में इनके संगीत निर्देशन में फिल्म 'रतन' जिसके गाने घर-घर में सुने जाते थे। इस फिल्म का जोहराबाई अंबालेवाली के स्वर में गाया गीत 'अंखियां मिला के' कभी न भुलाया जाने वाला गीत बन गया। नौशाद साहब ने पहली बार उत्तर प्रदेश के लोक संगीत पर आधारित धुनों को 'रतन' में इस्तेमाल किया था। अनमोल घड़ी' 'दर्द', 'मेला', 'अंदाज' आदि फिल्मों में नौशाद ने यादगार संगीत दिया। नौशाद का सर्वश्रेष्ठ संगीत आया (1952) में और फिल्म थी 'बैजू बावरा'। नौशाद को इस फिल्म के संगीत निर्देशन के लिए पहली बार फिल्म फेयर अवार्ड से सम्मानित किया गया।

फिल्म 'शबाब और 'मुगल-ए-आजम' (1960) नौशाद के अमर संगीत के लिए याद की जाती हैं। मोहम्मद रफी, सुरैया, श्याम कुमार और उमा देवी (टुनटुन) को फिल्म संगीत से परिचय करने का श्रेय भी नौशाद साहब को जाता है। नौशाद को कुंदन लाल सहगल के साथ एक ही फिल्म 'शाहजहां' करने का मौका मिला लेकिन इस फिल्म के गीत 'जब दिल ही टूट गया', 'गम दिए मुस्तकिल', और 'रूबी-रूबी दिल में' तीनों गीत कालजयी गीत साबित हुए। 1940 के दशक के आखिरी सालों में एस.डी. बर्मन, सी. रामचंद्र और शंकर जयकिशन जैसे संगीतकारों का उदय हुआ। इनके साथ मजरूह सुल्तानपुरी, साहिर लुधियानवी, राजिंदर कृष्णा, हसरत जयपुरी और शैलेंद्र जैसे गीतकार हिंदी फिल्म संगीत से जुड़े। इन गीतकारों ने फिल्म संगीत को लोकप्रियता के साथ-साथ साहित्यिक आयाम भी दिए। भारतीय हिंदी सिनेमा में पश्चिमी संगीत का समावेश करने का श्रेय सी. रामचंद्र को जाता है। 'शहनाई' का गीत 'आना मेरी जान संडे के संडे', 'पतंगा' का 'मेरे पिया गए रंगून', 'गोरे ओरे ओ बांके छोरे' किशोर और आशा का गाया गीत 'ईना-मीना-डीका' सी रामचंद्र की संगीत की विविधता को दर्शाते हैं। संगीतकार जोड़ी शंकर-जयकिशन ने शुरुआत की राजकपूर की फिल्म 'बरसात' से। शंकर-जयकिशन और राजकपूर की जोड़ी काफी लंबी चली और इस जोड़ी ने सुपरहिट संगीत दिया। राजकपूर के अलावा शंकर-जयकिशन ने दिलीप कुमार की 1952 में बनी फिल्म 'दाग' के लिए बेहतरीन संगीत रचा, जिसमें तलत महमूद द्वारा गया गीत 'ए मेरे दिल कहीं और चल' आज भी लोगों की जुबां पर है।

शंकर जयकिशन ने देव आनंद की फिल्म 'पतिता' में भी अपना जौहर दिखाया। तलत महमूद द्वारा गाए गीत 'अंधे जहान के अंधे रास्ते' और 'है सबसे मधुर वो गीत' काफी लोकप्रिय हुए। संगीतकार मदन मोहन के आने से पहले गजल हिंदी फिल्म संगीत से दूर ही थी। फिल्म 'अदालत' (1958) में 'उनको ये शिकायत है कि- और 'ये हसरतों के दाग' जिसे लता ने गाया था, मदन मोहन के संगीत में गजल का कभी ना भूलनेवाला आयाम बना। इन्हीं के संगीत निर्देशन में 1957 में फिल्म 'देख कबीरा रोए' में तलत महमूद द्वारा गाई गजल 'हमसे आया न गया' गजल का उत्तम नमूना बना। मदन मोहन ने 'माई री कासे कहूं', 'हम हैं मता-ए-कूचा ओ बाजार की तरह' और 'बैयां ना धरो' आदि ऐसे क्लासिक हैं जो मदन मोहन ने फिल्म 'दस्तक' में दिए और जिन्हें लता ने आवाज दी थी। इस फिल्म के संगीत के लिए मदन मोहन को राष्ट्रीय पुरस्कार से नवाजा गया। संगीत निर्देशक खय्याम की शुरुआत सन 1952 में फिल्म 'फुटपाथ' के गीत 'शामे गम की कसम' से धमाके के साथ हुई। 'फिर सुबह होगी' में भी खय्याम

ने शानदार संगीत दिया था लेकिन फिल्म 'शोला और शबनम' और 'शगुन' के बाद वह कहीं खो गए। दोबारा उनकी वापसी यश चोपड़ा की फिल्म कभी-कभी से हुई। उसके बाद उन्होंने 'उमराव जान' और 'रजिया सुल्तान' का संगीत निर्देशन किया और इन फिल्मों का संगीत मील का पत्थर साबित हुआ। 1950 के दशक में रोशन ने केदार शर्मा की फिल्म बावरे नैन का संगीत निर्देशन किया जो हिट रहा। रोशन ने इस फिल्म में हरियाणवी लोक संगीत का प्रयोग किया, 'सुन बैरी बालम सच बोल इब क्या होगा' हर एक की जुबां पर आ गया। इन्हीं की कंपोजिशन 'मुझे सच सच बता दो क्या' जिसे मुकेश और गीता राय ने आवाज दी थी और 'तेरी दुनिया में दिल लगता नहीं' जिसे मुकेश ने गाया था, आज भी संगीत प्रेमियों की पसंद बने हुए हैं। इन गीतों के रचयिता निर्माता-निर्देशक केदार शर्मा स्वयं थे। 'बरसात की रात' की कव्वालियां, 'ताजमहल', 'चित्रलेखा' और 'ममता' के मधुर गीतों के लिए रोशन आज भी याद किए जाते हैं। शंकर-जयकिशन का गहरा जुड़ाव राजकपूर के साथ था, एस.डी. बर्मन और बाद में आर. डी. बर्मन अंत तक देव आनंद के साथ जुड़े रहे।

सचिन देव वर्मन ने बिमल राय की फिल्मों 'देवदास', 'सुजाता' और 'बंदिनी' के लिए यादगार संगीत दिया। सचिन देव बर्मन ने गुरुदत्त की फिल्म 'प्यासा' और 'कागज के फूल' का भी संगीत निर्देशन किया था, जो आज भी संगीत प्रेमियों के दिल में बसा हुआ है। रिदम किंग संगीत निर्देशक ओ.पी. नैय्यर की संगीत यात्रा कठिन जरूर रही लेकिन उन्हें शानदार संगीत के लिए याद किया जाता है। सन 1952 में फिल्म 'आसमान' के लिए उन्हें पहला ब्रेक मिला। गुरुदत्त ने उनकी प्रतिभा को पहचाना और उन्हें अपने साथ जोड़ लिया। ओ.पी. नैय्यर ने गुरुदत्त की लगातार तीन फिल्मों में सुपरहिट संगीत दिया। फिल्में थी 'आर-पार', 'मिस्टर एंड मिसेज 55' 'सीआईडी' और गीता राय दत्त ने अपना सर्वश्रेष्ठ गायन ओ.पी. नैय्यर के संगीत निर्देशन में ही दिया। 'बाबूजी धीरे चलना', 'लो मैं हारी पिया' और मोहम्मद रफी के साथ 'सुन-सुन जालिमा', 'इधर तुम हसीं हो', जैसे गीतों को कौन भुला सकता है। नैय्यर को नया दौर के लिए एकमात्र फिल्म फेयर अवार्ड भी मिला, जिसमें उन्होंने पंजाबी लोक संगीत का भरपूर प्रयोग किया था। 'उड़े जब-जब जुल्फें तेरी' और 'रेशमी सलवार कुरता जाली का' इस फिल्म के अमर गीत है। सलिल चौधरी के संगीत में पूरब और पश्चिम का फ्यूजन साफ दिखाई देता है। 'दो बीघा जमीन', 'नौकरी', 'मधुमती', 'परख' आदि का संगीत कालजयी साबित हुआ। ये सारी फिल्में बिमल राय की थीं। पचास के मध्य दशक में जयदेव संगीतकार बनकर उभरे। 'मुझे जीने दो', 'हम दोनों', 'रेशमा और शेरा' जयदेव के शानदार संगीत की गवाह हैं। पचास और साठ के दशक को फिल्म संगीत का स्वर्णकाल कहा जा सकता है। उस दौर के सभी संगीतकारों के संगीत को आज भी उनके हस्ताक्षर से जाना जाता है। संगीत की शुद्धता, उसकी मधुरता और आत्मा की गहराई तक उतरने का गुण पचास के दशक के संगीत में ही था और इसका श्रेय उस दशक के निर्माताओं और निर्देशकों को भी जाता है जो फिल्म संगीत को फिल्म की आत्मा मानते थे और संगीतकारों के साथ हर कदम मिलाकर फिल्म का निर्माण करते थे। पचास के दशक के फिल्म संगीत फिल्मों के लिए उतना ही महत्वपूर्ण था जितना कि कहानी और किरदार। सच बात तो ये है कि कहानी और किरदार के सृजन को ध्यान में रखकर ही संगीत का सृजन किया जाता था। 'लेकर पहला-पहला प्यार' और 'आंखों ही आंखों में इशारा हो गया' जैसे गीतों को आज की पीढ़ी भी यूं ही नहीं गुनगुनाती। सच पचास और साठ का

दशक फिल्म संगीत का स्वर्णकाल था कहना अतिश्योक्ति ना होगी।

सत्तर के दशक का संगीत अपनी पहचान बनाने के लिए संघर्षरत लगता है। इस दशक में लक्ष्मीकांत प्यारे लाल, कल्याणजी, आनंदजी और राहुल देव बर्मन ने अलग-थलग संगीत शैली को विकसित किया और अपनी-अपनी शैली बनाने में सफल भी रहे। लक्ष्मीकांत प्यारेलाल की जोड़ी एल.पी. के नाम से भी जानी जाती है। इस जोड़ी ने सबसे अधिक फिल्मों में संगीत दिया। शंकर जयकिशन और कल्याणजी, आनंदजी के सहायक के रूप में काम करने के बाद उन्होंने स्वतंत्र पहचान पहली ही फिल्म 'पारसमणि' से बनाई। दोस्ती के संगीत के लिए उन्हें फिल्मफेयर पुरस्कार से भी नवाजा गया। राहुल देव बर्मन ने हिंदी फिल्मों में एक नया ट्रेंड शुरू किया। इलेक्ट्रॉनिक वाद्यों के साथ किशोर दा और आशा भोंसले की आवाजों ने फिल्म संगीत का परिदृश्य ही बदल दिया। 'शोले', 'पड़ोसन', 'हरे रामा हरे कृष्णा', 'तीसरी मंजिल', 'यादों की बारात', 'हम किसी से कम नहीं' के संगीत के विपरीत 'परिचय', 'आंधी', 'किनारा', 'अमर प्रेम और' 'घर' जैसी फिल्मों में अपनी भरपूर रेंज को साबित किया। '1942 ए लव स्टोरी' का संगीत सुपरहिट हुआ पर वे इस सफलता का आनंद उठाने से ही पहले दुनिया को अलविदा कह गए।

बीसवीं सदी के अंत तक आते-आते जिस संगीतकार का संगीत ताजी हवा का झोंका बनकर आया वह थे अल्लारक्खा खान। ए.आर, रहमान ने कम उम्र में ही सफलता का स्वाद चख लिया। चौदह फिल्मफेयर अवार्ड, चार राष्ट्रीय पुरस्कार बाफ्टा से लेकर गोल्डन ग्लोब, ग्रैमी और ऑस्कर तक प्रतिष्ठित पुरस्कार विजेता रहमान ने अपने करिअर की शुरुआत की थी 'रोजा' से, फिर उन्होंने 'रंगीला', 'बॉम्बे', 'रंगीला', 'ताल', 'लगान', 'रंग दे बसंती', 'जोधा अकबर' से लेकर 'स्लमडॉग मिलिनेयर', 'जाने तू या जाने ना' में विविधता का परिचय दिया है। शास्त्रीय संगीत, सूफी संगीत, कर्नाटक संगीत और कव्वाली तक पर उनका पूरा-पूरा अधिकार है। इस समय के सबसे वे सफलतम संगीतकार है।

संगीतकार जोड़ियों से आगे जाने वाली तिकड़ी है शंकर एहसान लॉय की। रहमान के बाद उन्होंने 'मिशन कश्मीर', 'दिल चाहता है', 'कभी अलविदा न कहना', 'माई नेम इज खान', 'तारे जमीं पर' में अत्यंत कर्णप्रिय संगीत दिया। फिल्म डॉन के दो गीतों- 'खाई के पान बनारस वाला' और 'ए मेरा दिल प्यार का दीवाना' को वक्त के मिजाज और संगीत के बदलते ट्रेंड को ध्यान में रखते हुए उन्होंने ताजगी के साथ पेश किया।

विशाल भारद्वाज ने अपनी अलग पहचान बनाई और अपनी फिल्मों में संगीत भी दिया तो दूसरी ओर गुलजार द्वारा निर्मित, 'माचिस' कमल हासन की 'चाची 420', रामगोपाल वर्मा की 'सत्या' में अपनी मौलिकता का परिचय दिया।

विशाल शेखर की जोड़ी भी अपने संगीत को लेकर चर्चा में है। 'ओम शांति ओम', 'सलाम नमस्ते', 'टशन' और 'दोस्ताना' के संगीत ने साबित कर दिया कि उनमे असीम संभावनाएं हैं। आज युवाओं की पहली पसंद हैं विशाल शेखर। दूसरी कुछ जोड़ियां भी इधर चर्चा में आई हैं। सलीम सुलेमान को 'डोर', 'चक दे इंडिया', 'रब ने बना दी जोड़ी' और कुर्बान के संगीत ने लोकप्रियता के शिखर पर खड़ा कर दिया। शांतनु मित्र, प्रीतम और मोंटी शर्मा आदि ने भी अपनी आमद दर्ज की।

जद्दनबाई, सरस्वती देवी और ऊषा खन्ना जैसी महिला संगीतकारों के बाद स्नेहा

खानवलकर ने 'ओए लकी लकी ओए' और 'लव सेक्स और धोखा' में अच्छा संगीत देकर पुरुष संगीतकारों के वर्चस्व को चुनौती दे डाली। अमित त्रिवेदी ने 'देव डी' में 'ए तेरा इमोशनल अत्याचार' और 'वेक अप सिड' में 'इक तारा' जैसे गीत बनाकर अपना एक दर्शक वर्ग पैदा कर लिया।

सरगम का यह सफर अनवरत जारी है। पिछले 2 दशकों का संगीत कर्णप्रिय तो है इसके बावजूद कालजयी नहीं। आज भी साठ साल से पहले के संगीत निर्देशकों के गाने और उनकी धुनों को संगीत प्रेमी गुनगुनाते हैं जबकि दो दशकों में आई धुनें लोकप्रिय व कर्णप्रिय तो थीं, लेकिन संगीत प्रेमियों के दिल में समाने और उनके दिलों दिमाग पर छाने में असमर्थ रहीं।

फिल्म संगीत के पुरोधा अनिल विश्वास ने इस लेखक से एक भेंटवार्ता में कहा था कि 'शरद फिल्म संगीत में पिछले 70 वर्षों में बहुत बदलाव आए। तकनीक, आधुनिक उपकरण और सुव्यवस्थित साउंड स्टूडियो आदि-आदि। हमारे जमाने में एकमात्र माइक्रोफोन पर, गाना और कोरस रिकॉर्ड किए जाते थे। हम तो चार पांच साजों पर ही धुन रिकॉर्ड कर लेते थे। आज तो 100 से ऊपर तक के साज इस्तेमाल किए जाते हैं। आज के संगीत के बारे में यही कहा जा सकता है कि एक बड़े जिस्म में आत्मा नाम की चीज नहीं है। आत्मा रही नहीं मर गई, और आत्मा के बिना जिस्म तो मात्र लाश हो जाता है।'

सिने संगीत के भविष्य को लेकर उनकी कही गई यह टिप्पणी आज भी सटीक बैठती है।

(लेखक वरिष्ठ संगीत विश्लेषक हैं)

हिंदी फिल्मी गीत : साहित्य,स्वर, संगीत

पुष्पेश पंत

हिंदी फिल्मों के गीत इस देश में आरंभ से ही दर्शक (आम आदमी) के सुख-दुःख के साथी रहे हैं, जिनकी तुलना दो पीढी पहले के लोकगीतों से की जा सकती है। इस देश की अद्‌भुत विविधता को एकता के सूत्र में बांधने में हिंदी फिल्मों का योगदान सभी स्वीकार करते हैं। जो काम राजभाषा विभाग नहीं कर पाया वह जोरदार डायलॉग लिखने वालों ने कर दिखाया। बहरहाल यहां हमारा विषय सीमित है हिंदी फिल्मी गीतों तक अतः इन गीतों में साहित्य और शास्त्रीय तथा लोक संगीत की उपस्थिति पर ही यह संक्षिप्त टिप्पणी सीमित रहेगी।

भारत में फिल्म निर्माण के सौ वर्ष के इतिहास में सवाक फिल्मों का इतिहास पैंसठ साल का है। इसमें पार्श्व गायन का हिस्सा लगभग छह दशक है। इस कालखंड में रचे-फिल्माए हजारों गीतों में से यादगार/लगभग कालजयी गीतों की संख्या भी सैकड़ों में पहुंचती है। सभी को छोड़िए इनके एक प्रतिनिधि अंश को प्रस्तुत करने की चेष्टा सिर्फ सूची निर्माण ही हो सकती है।

बात आगे बढाने के पहले एक बात रेखांकित करना आवश्यक है। किसी भी फिल्मी गीत का प्रभाव शब्द (साहित्य), स्वर(गायक की वाणी), संगीत (शास्त्रीय अथवा लोक) के साथ-साथ जिस अभिनेता पर यह फिल्माया गया है और कथानक के भावविह्वल करने वाले मोड़ (सिचुएशन) के सन्निपात पर निर्भर करता है। संगीत निर्देशक, निर्देशक की भूमिका को गायक या गीतकार/कवि/शायर से कमतर नहीं आंका जा सकता। श्रोता के लिए किसी भी गीत को अपनाने के लिए इनमें से प्रत्येक के संदर्भ में व्यक्तिगत पसंद या नापसंद महत्वपूर्ण कसौटी होती है। यही कारण है कि कुछ जुगलबंदियां या जोड़ियां सफलता के शिखर चूमने और लंबे समय तक लोकप्रिय बने रहने में सफल होती हैं।

'शैलेंद्र-मुकेश-शंकर- जयकिशन-राजकपूर' की पंचायत इस संदर्भ में अनायास याद आती है। 'आह' से लेकर 'तीसरी कसम' तक आप इनकी किसी भी फिल्म को लें - वह हिट हो या फ्लॉप-उसके कुछ गीत निश्चय ही कालजयी परीक्षा में खरे उतरते पाएंगे। शंकर-जयकिशन, शैलेंद्र और मुकेश की त्रिवेणी ने 'तीसरी कसम' में लोकसंगीत के चाहने वालों को घर बैठे 'संगम स्नान' का सुख पहुंचा दिया। 'सजनवा बैरी हो गए हमार', 'पिंजरे वाली मुनिया', 'दुनिया बनाने वाले क्या तेरे मन में समाई', 'सजन रे झूठ मत बोलो', 'पान खाय सैंया हमार!' इन गीतों में प्रमुख हैं।

फिल्म संगीत की दुनिया में भारत रत्न लता मंगेशकर की अद्वितीय प्रतिष्ठा है। उनकी छह दशक के विस्तार वाली सक्रियता की तुलना किसी अन्य गायक से नहीं की जा सकती। जितने संगीत निर्देशकों, निर्देशकों, गीतकारों के साथ उन्होंने काम किया है या जितने कलाकारों को वाणी दी है उनकी संख्या का मुकाबला भी संभवतः दिवंगत मुहम्मद रफी को छोड़ किसी के साथ नहीं

किया जा सकता। पर क्या यह बात स्वतः प्रमाणित स्वयं सिद्ध है कि उनके मीठे गले या असाधारण स्वर साधना के कारण ही उनका गाया हर गाना हमेशा हिट होता रहा है? गीतकार के मर्मस्पर्शी शब्दों का कितना बड़ा योगदान उनकी सुरीली आवाज का जादू जगाने में रहा है विचारणीय है। शब्दों को उपयुक्त संगीत से सजाने वाले संगीत निर्देशक का योगदान भी अनदेखा नहीं किया जा सकता। लता की अधिकृत जीवनियों में यह जानकारी दर्ज है कि कैसे और किन कारणों से कुछ गायकों या संगीत निर्देशकों के साथ काम करने से उन्होंने इनकार किया।

यहां व्यक्तिगत संबंधों के अनावरण की आवश्यकता नहीं पर यह सुझाना तर्कसंगत है कि तकाजा व्यावसायिक सफलता का रहा हो, सैद्धांतिक या गुणवत्ता के मामले में समझौता ना करने का हठी आग्रह इस कारण श्रोता अनिर्वचनीय रसानुभूति से वंचित रह गए। सी. रामचंद्र एवं अनिल बिश्वास लता मंगेशकर के करिअर के पहले चरण में निर्णायक दिग्दर्शक प्रभाव थे। बाद के वर्षों में इनकी जरूरत लता को नहीं रही। जितने प्रकार के, विविध विधाओं के गीत लता ने गाए हैं वह चकित करने वाली उपलब्धि ही है पर यह जोड़ना ईमानदारी का तकाजा है कि उनकी प्रतिभा के स्वभाव तथा संस्कार के अनुकूल रचना-शब्द संयोजन- संगीत का सृजन गीतकार तथा संगीत निर्देशक के लिए कम बड़ी चुनौती नहीं रहा होगा।

यह गाने जन-जन के गीत इसी कारण बन सके क्योंकि इनमें राजनीति के उतार-चढ़ाव की अनुगूंजों के साथ देहाती- कस्बाती और नए बने शहरी का घराती जीवन दर्शन भी आत्मसात किया जाता रहा था। भारत की जिस समन्वयात्मक संस्कृति का महिमामंडन बहुधा होता है उस सहज आदान-प्रदान की मिसाल भी कालजयी गीतों में मिलती है। आजादी की लड़ाई के दौरान लिखे प्रदीप के गीत हों या स्वाधीनता प्राप्ति के बाद विभाजन की रक्त रंजित विभीषिका से मुक्त हो नए राष्ट्र निर्माण का आशावादी सपना 'इप्टा' के साथ कामरेड पीसी जोशी की प्रेरणा से जुड़े गीतकारों की भूमिका अविस्मरणीय है। शैलेंद्र इसी क्यारी की पौध थे।

इस संसार में हिंदी-उर्दू का 'झगड़ा' कभी पनप नहीं सका। प्रदीप एवं नीरज की गिनती हिंदी कवियों में की जाती है, इंदीवर तथा शैलेंद्र के साथ-साथ। साहिर, कैफी, मजरूह की पहचान है शायरों के रूप में। आनंद बख्शी को आप किस जमात में बैठाएंगे? साहिर ने 'चित्रलेखा' के लिए जो गीत रचा उसकी तत्सम शब्दावली उल्लेखनीय है। 'कहां हैं कहां हैं मुहाफिज खुदी के जिन्हें नाज है हिंद पर वो कहां हैं?' लिखने वाले ने ही 'संसार से भागे फिरते हो भगवान को तुम क्या पाओगे! ये भोग भी एक तपस्या है तुम प्यार के मारे क्या जानोगे? अपमान रचयिता का होगा रचना को अगर ठुकराओगे!' जैसी पंक्तियां रची हैं। या तो आप यह अफवाह सच मान लें कि मुखड़ा लिखने के बाद साहिर बाकी काम सहायक अनुचरों पर छोड़ देते थे या फिर इसे कबूल करें कि इस शायर का अद्भुत अधिकार हिंदी शब्द संपदा पर भी था। परवर्तियों में गुलजार संभवतः अकेले ऐसे गीतकार/निर्देशक हैं जिन्होंने उर्दू, हिंदी, पंजाबी, राजस्थानी या पुरबिया बोलियों में मन को मोह लेने वाले गीतों की रचना की है। बंदिनी के 'मोरा गोरा अंग लइले, मोहे 'श्याम रंग दइदे' से लेकर 'यारा सिली सिली रात का ढलना' अथवा' चप्पा चप्पा चरखा चले' तक।

उमराव जान तथा गमन में शहरयार की रचनाओं का अलग से उल्लेख जरूरी है। मुजफ्फर अली ने निश्चय ही उनकी प्रतिभा का बेहतरीन फिल्मी उपयोग किया। 'दिल चीज क्या है आप मेरी जान लीजिए' तथा 'ये क्या जगह है दोस्तों' की पकड़ और पहुंच तीन दशक बाद भी जस की तस बरकरार है।

संगीत निर्देशकों ने भी जाने कितनी विधाओं से प्रेरणा ही नहीं बहुत कुछ और भी सामग्री निसंकोच ग्रहण की है- पंजाबी हीर, राजस्थानी मांड, उत्तर प्रदेश-बिहार के फाग या बिदेसिया, गुजरात का गरबा, लखनऊ- पटियाला, बनारस की ठुमरी-दादरा, ने अनगिनत हिंदी फिल्मी गीतों की पाषाण प्रतिमाओं में प्राण प्रतिष्ठा की है। गजल की सही अदायगी या कव्वाली से समां बांधने की अपनी क्षमता के कारण कुछ संगीत निर्देशक 'अमरत्व' प्राप्त कर सके हैं। खैयाम, मदन मोहन, रोशन के नाम सबसे पहले याद आते हैं। अनिल बिश्वास सभी विधाओं में समान रूप से निष्णात तो जयदेव शास्त्रीय एवं सलिल चौधरी लोकसंगीत के प्रति रुझान वाले संगीतकार समझे जाते हैं।

बंगाल की लोक संगीत संपदा से हिंदी फिल्म संगीत को समृद्ध करने में अग्रणी सचिन देव बर्मन हैं जिन्होंने अपनी फिल्मों में भटियाली और बाउल का अद्‌भुत प्रयोग किया है- 'ओ जाने वाले हो सके तो लौट के आना!' 'मेरे मांझी, ले चल पार'। उनकी जीनियस मात्र अपनी माटी में ही नहीं पल्लवित हुई। बंदिनी के 'अब के बरस भेज भइया को बाबुल दीजो संदेसो भिजाय रे!' या गाइड का 'अल्ला मेघ, दे पानी दे!' अथवा काबुलीवाला का 'गंगा आए कहां से, गंगा जाए कहां रे!' तथा मधुमती का 'लग गयो पापी बिछुवा!' इस बात का प्रमाण हैं कि अनेक क्षेत्रों की लोकधुनों पर उनकी पकड़ अनूठी थी। बिमल राय की 'दो बीघा जमीन' को बेहद मार्मिक बनाने में सलिल चौधरी का योगदान किसी अन्य तत्व से कम नहीं था- 'अपनी कहानी छोड़ जा कुछ तो निशानी छोड़ जा मौसम बीता जाय' सुनते हुए आज भी गला रुंध जाता है।

नौशाद का रचना संसार और सुदीर्घ कार्यकाल अतुलनीय है। जमाने के साथ बदलने की जरूरत उन्होंने कभी महसूस नहीं की। न ही गायक या गायिका के बारे में कोई पूर्वाग्रह उनके चयन में दिखलाई देता है। अपनी सांगीतिक कल्पना के पंख कतरे बिना उन्होंने निर्माता-निर्देशक के आग्रह को पूरा करने का प्रयास जारी रखा। जहां लोक की जरूरत लगी वहां लोक तो जहां शास्त्रीय की दरकार थी वहां पक्का गायन ही पेश किया। 'मुगले आजम' इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। 'मोहे पनघट पर नंदलाल छेड़ गयो' से ले कर 'खुदा निगाहबान हो तुम्हारा' तक का रेंज एक ही फिल्म में किसी ने इस तरह छुआ हो। इसी अमर प्रेम कथा का जरा पुराना फिल्मी संस्करण 'अनारकली' भी अपने मनमोहक हृदय द्रावक गीतों के लिए याद किया जाता है। 'जिंदगी प्यार की दो चार घड़ी होती है', 'मुहब्बत ऐसी धड़कन है जो समझाई नहीं जाती', 'ये जिंदगी उसी की है जो किसी का हो गया, प्यार में ही खो गया!' 'जैसे गानों के कारण ही यह फिल्म आज तक भुलाई नहीं जा सकी है।

गीतों के फिल्मांकन के क्षेत्र में विजय आनंद को अद्वितीय माना जाता है। 'हकीकत' और 'गाइड' के यादगार सदाबहार गीत 'दिन ढल जाए पर रात ना आऐ' 'कांटों से छोड़ के ये दामन' 'सैंया बेईमान!' वास्तव में अविस्मरणीय हैं तो निर्देशक, संगीतकार, गायक के सोने में सुहागा जैसे स्वर तथा फिल्म की सिचुएशन के अनुकूल प्रभावशाली मनोभाव सिरजने वाले उपयुक्त शब्दों के कारण ही। निर्माता देव आनंद का योगदान भी उल्लेखनीय है जिन्होंने इस 'टीम' के काम में हस्तक्षेप का लोभ संवरण किया।

गुरुदत्त को इस मामले में गोल्डी से कतई उन्नीस नहीं माना जा सकता है। 'बाजी', 'प्यासा', 'कागज के फूल', 'साहिब, बीबी गुलाम' शायद ही उनकी कोई फिल्म हो जिसका कोई भी गीत या उसकी धुन कथानक की परिस्थिति, पात्र-चरित्र की मनोदशा के लेशमात्र भी प्रतिकूल हो। 'किस्मत पर भरोसा है तो एक दांव लगा ले' से ले कर 'आज सजन मोहे अंग लगा ले जनम सफल हो जाए', 'वक्त ने लिया क्या हसीं सितम' जैसे अनमोल रत्नों की सूची बहुत लंबी है। इस स्वर्णिम संगीत

सर्जक साझेदारी में गुरुदत्त का साथ दिया उनकी पत्नी गीता दत्त ने तथा सहचरी अभिनेत्री वहीदा रहमान ने। गीतकार-कवि, शायरों-संगीत निर्देशकों का चुनाव फिल्म विशेष की जरूरतों के अनुसार करने की मानो जन्मजात प्रतिभा गुरुदत्त में थी। सहयोगी सहायक अबरार अल्वी की संगीत की समझ, रुचि इसी मिजाज को प्रतिबिंबित करती दिखती है।

यह कहा जा सकता है कि इस आलेख में कई ऐसी विभूतियों के साथ न्याय नहीं हुआ है जिनकी 'हस्ती' और यहां वर्णित कलाकारों से कम नहीं। अपने जमाने में सुरैया, शमशाद बेगम का कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं था। संगीत निर्देशकों में खेमचंद्र प्रकाश, गुलाम हैदर, चितलकर रामचंद्र, अनिल बिश्वास कभी लता, तलत, मुकेश के प्रेरक-प्रोत्साहक थे। बाद में विविध कारणों से यह पृष्ठभूमि में चले गए। इनके सहायक/अरेंजर या वाद्यवृंद के वादक स्वयं समर्थ संगीत निर्देशक बन गए। गुरु विस्मृत होते चले गए। जो लोग व्यावसायिक का संतुलन व्यक्तिगत जीवन की प्राथमिकता के साथ बनाए रख सके वही मैदान में बचे रहे। काल के प्रवाह के साथ जन रुचि में परिवर्तन स्वाभाविक है पर विदेशी धुनों की नकल कर उन्हें देसी सांचे में ढाल 'मौलिक' रचना का दावा करने वालों को तवज्जो देना तर्कसंगत नहीं लगता। बप्पी लाहिड़ी के प्रशंसक एक दौर में कम नहीं रहे। (लताजी का 'वरदहस्त' उन पर रहा है जिसका कारण समझ पाना कठिन है)। हां, ओपी नैयर का अलग से मूल्यांकन करने की जरूरत है। इसी तरह आरडी बर्मन 'पंचम' की प्रयोगधर्मिता और उनका साथ मिलने के बाद आशा भोंसले का 'पुर्नजन्म' भी ऐसी घटना है जिसने हिंदी फिल्म संगीत को नयी दिशा दी। शास्त्रीय से ले कर पॉप तक का गायन आशा ने सफलतापूर्वक बिना किसी हिचक के किया है। हरफनमौला, बेहद सनकी और अति संवेदनशील किशोर कुमार यहां भी हमेशा एक अबूझ पहेली, रोचक अपवाद बन चुनौती पेश करते हैं।

निर्माता-निर्देशक की अपनी पसंद एक युग में यह तय करती थी कि कौन संगीत निर्देशक लिया जाएगा और किस गायक-गायिका का चयन उसकी राय से किया जाएगा। जाहिर है कि कुछ स्टार अभिनेता-अभिनेत्रियों की पर्दे पर आवाज का पर्याय एक पार्श्व गायक विशेष बन जाने के बाद उसे नजरंदाज करना कठिन हो जाता था। लता जैसी हस्ती यह फैसला कर सकती थी कि किस संगीतकार या निर्देशक के लिए वह काम नहीं करेंगी। उभरती, उदीयमान प्रतिभाओं के लिए जो भी बड़ा हाथ पीठ पर 'वरदहस्त रख दे' उसका अनुसरण करना अनिवार्यता थी। आज स्थिति काफी बदल चुकी है पर 'खेमे' या टीमें आज भी साफ और असरदार नजर आते हैं। 'प्रसून जोशी-रहमान-आमिरखान' का उदाहरण उल्लेखनीय है। प्रसून जोशी गीतकार भी हैं, पटकथा लेखक भी। पेशे से वह विज्ञापन उद्योग से जुड़े हैं। सर्जक-विपणन, प्रबंधक एक साथ। ग्राहक (श्रोता) की नब्ज वह अच्छी तरह पहचानते हैं। नई पीढ़ी के सुनने वाले की पसंद के माफिक उनकी रचनाएं मौलिक लगती हैं। ताजगी भरी भी। 'तारे जमीन पर' हो या 'थ्री ईडियट्स' अथवा 'रंग दे बसंती' इनकी अभूतपूर्व सफलता की कल्पना प्रसून के योगदान के अभाव में असंभव है। विज्ञापन वाली दिलकश जिंगल की तरह वह दिलो दिमाग पे काबिज होने लगती है। गायक कौन है इससे फर्क नहीं पड़ता। न ही लोक की धुंधलाती याद या शास्त्रीय का जादुई पुट उसे मर्मस्पर्शी बनाते हैं। हम धीरे-धीरे उसके आदी होते जाते हैं। तनाव घटाने वाले उपचारक संगीत की तरह।

जावेद के बारे में भी यह कहा जा सकता है कि उनकी शोहरत, हर मौके पर रंग कोकाकोला के संग' जैसी काबिलियत से फैली है। राजनैतिक समझदारी, सामाजिक प्रतिबद्धता दर्शाने वाली मुखरता, प्रगतिशील-धर्म निरपेक्ष तेवर और पुराने जोड़ीदार सलीम के साथ वाले दिनों की कमाई के

साथ-साथ, खानदानी विरासत और ससुराल का यश भी उनकी छवि के महिमामंडन में सहायक रहा है। निश्चय ही उनकी शायरी ने हिंदी फिल्मी गीतों का स्तर ऊपर उठाया है, संकीर्ण भाषाई सांप्रदायिकता को दूर करने की पुरजोर कोशिश की है, गीतकार के स्वत्वाधिकार के लिए सार्थक संघर्ष किया है पर कुल मिलाकर किसी पेशेवर रचनाकार की प्रायोजित जिंगल की अनुगूंजें ही अधिकतर सुनाई देती हैं। कैफी साहब के हकीकत के लिए लिखे गीतों से अथवा मजरूह या शकील बदायूंनी की मर्मस्पर्शी कविता/शायरी से तुलना कम से कम इन पंक्तियों के लेखक को उचित नहीं जान पड़ती।

यह सोच पाना कठिन है कि आधी सदी तो दूर की बात है एक दशक तक भी यह सुने जा रहे होंगे। कभी अंतरराष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त शास्त्रीय संगीतकारों ने हिंदी फिल्मों में संगीत दिया है उनमें रविशंकर, अली अकबर खान, बिसमिल्ला खान एवं पंडित शिव शर्मा जैसे नाम प्रमुख हैं। नौशाद जैसे संगीत निर्देशकों का रुझान भी शास्त्रीय संगीत के रागों पर आधारित धुनें बनाने का रहा है। इनकी अदायगी के लिए मन्ना डे जैसे गायकों को आमंत्रित किया जाता था। लता, मुहम्मद रफी, येशुदास आदि ने भी बखूबी यह जिम्मेदारी निभाई है। आज शास्त्रीय के नाम पर पश्चिमी सिंफोनी के आराधक रहमान की यांत्रिक तूती बोलती है इस नक्कारखाने में। सम्राट निर्वसन हैं कहने वाला बच्चा भी नजर नहीं आ रहा। लोक का हाल कुछ बेहतर नहीं। पिपली लाइव का 'साजन तो खूबै कमात हैं मंहगाई डाइन खाय जात है' लोक से प्रेरित सटीक वागर्थ संपृक्ति का ताजा उदाहरण है जो याद दिलाता है कि जो राह आज के सफल गीतकारों-संगीतकारों ने तज दी है वह कितनी दूर और देर तक हमारा साथ दे कैसा सुख पहुंचा सकती थी। आइटम नंबर के ही काम 'जियरा से बीड़ी जलै ले पिया' या इसी वजन का कोई 'लोकगीत' भुनाया जाता है। पता नहीं यह स्थिति कब तक चलेगी!

(लेखक प्रख्यात वरिष्ठ स्तंभकार हैं)

मन्ना डे से एक लंबा आत्मीय संवाद

सुनील मिश्र

'अरे बंगाली बाबू कलकत्ते जाओ,
रसगुल्ले-वसगुल्ले खाओ,
इधर क्या करते हो.....?'

उनसे मिलना जैसे एक सदी से मिलना होता है। भारतीय सिनेमा में उनकी सृजनात्मक उपस्थिति कालजयी है। उनके गाए गीतों में हमारे सुख-दुःख, प्रेम, सरोकार, जीवन, विडंबनाएं, राग-विराग और अवसाद सब कुछ इतने मर्मस्पर्शी होते हैं कि जिनका असर लंबे समय तक बना रहता है। देह से लेकर दुनिया तक इस पार से उस पार के दर्शन का अपनी सम्मोहक आवाज में छह दशक से अनवरत बखान करने वाले ऐसे व्यक्तित्व के सामने होना एक बड़े सौभाग्य का अवसर था। बात प्रख्यात पार्श्व गायक मन्ना डे की हो रही है। 1 मई 1919 को कोलकाता में पूर्णचंद्र और महामाया डे के घर जन्मे मन्ना डे ने इस साल 95 वर्ष में प्रवेश किया है। मन्ना डे सीधी रीढ़ के आदमी हैं इसीलिए आज भी बिना सहारे के चलते हैं। वे अपनी पहचान और प्रतिष्ठा का कोई बेजा लाभ नहीं लेते, यही कारण है कि हवाई अड्डे पर चेक-इन के समय इत्मीनान से लाइन में हो जाते हैं। उनके प्रति असीम आदर रखने वाले स्वयं उन तक आकर उनकी सेवा करना चाहते हैं मगर वे दृढ़ विनम्रता से मना कर देते हैं।

मुंबई की आपाधापी से दूर बरसों से बैंगलोर में शांति और सुकून से रह रहे दो बेटियों के पिता मन्ना डे अपनी उपलब्धियों और अपने साधनों से संतुष्ट हैं। बीसवीं सदी की इस विलक्षण जीवंत कृति से भोपाल में मिलना सचमुच एक सदी से मिलने जैसा ही रहा। मन-मस्तिष्क में घुमड़ रहे उनके तमाम गीतों की बेचैन कर देने वाली हलचल के बीच अपने सामने पितामह की तरह बैठे मन्ना दा बातचीत में एकदम निर्भीक, आत्मबली और नैतिक मूल्यों के सच्चे उपासक दिखाई दिए। उन्होंने समय और आधुनिकता से अपनी नाइत्तफाकी जाहिर की तो अपने जमाने की खास और दुर्लभ घटनाओं तथा लोगों को याद भी किया। उनकी बातचीत में महसूस होने वाली बेलागी आज के समय में बहुमूल्य लगती है क्योंकि दरअसल अब जमाना दूसरा है।

नयी सदी

बहुत उम्मीद के साथ हमने सन 2000 को व्यतीत किया था। नई सदी को लेकर सपने काफी थे। बीसवीं सदी बीती और इक्कीसवीं सदी आ गई, 2001 आया, एक-एक साल आते गए और हम यहां तक आ पहुंचे। मुझे लगता है कि गिरावट की तरफ जा रहे हैं, ऊंचाई से। हिंदुस्तान में क्या होने वाला है, पता नहीं। लोग बोलते हैं, कि हिंदुस्तान बहुत तरक्की कर रहा है, बढ़ रहा है, अंबानी कितने हजार करोड़ के मालिक हैं, ये है, वह है, ये सब सुनने से क्या

होगा? हमारे देश में नीचे की पीढ़ी के जो लोग हैं, उनका कोई भविष्य नहीं है, ऐसा मुझे लगता है। उनके लिए कोई सोचता नहीं है।

समाज और संस्कृति

समाज का हाल... मैं तो उम्र में बहुत आगे चला गया हूं। मुझसे यह कहना ठीक भी नहीं होगा कि मुझे ए पसन्द नहीं है। आजकल के नौजवान लोग जो कुछ कर रहे हैं, खासकर कि कल्चरल फील्ड में, मुझे बिल्कुल पसंद नहीं है। उम्मीद करना ठीक है लेकिन जो लोग संस्कृति की रक्षा की जवाबदारी लेकर बैठे हैं उनमें अपनी संस्कृति को लेकर समझ नजर नहीं आती। खासकर जो म्यूजिकल कल्चर है, वह बिल्कुल खत्म हो गया है। बहुत डार्क लगता है, हमारा गाना-बजाना जो है, इज गोइंग फ्रॉम... एकदम नरक में चला गया है। अभी मैंने एक विज्ञापन देखा टीवी पर, उसमें एक लड़की चड्डी पहन रही थी और लोग उसे क्या-क्या बोल रहे थे। देखिए, ये सब मुझे बहुत खराब लगता है। अब ये भी है कि टीवी देखे बगैर हम रहें भी कैसे? टीवी तो देखना ही पड़ता है, न्यूज सुनना ही पड़ता है, इधर-उधर देखना ही पड़ता है, लेकिन हमारे बाल-बच्चे और परिवार के लिए यह बहुत खतरनाक बात होती है।

इस सदी का सिनेमा

कॉमर्शियली बहुत सक्सेजफुल हो रहा है क्योंकि नौजवान जितने हैं, आज की पीढ़ी के, वो सब इसको पसंद करते हैं, इसलिए समय के अनुसार ठीक-ठाक हो रहा है। जो कुछ हो रहा है, ठीक है। कभी-कभार अच्छी पिक्चरें भी बन जाती हैं, अच्छा लगता है, जैसे 'ब्लैक' हो, 'बागवान' हो, ऐसी-ऐसी कुछ पिक्चरें देखकर अच्छा लगता है लेकिन बात दरअसल यह है कि ये करने के बाद, ये एक-दो पिक्चरें ऐसी बन रही हैं, जैसे 'लगे रहो मुन्ना भाई', अब इसमें जिस ढंग से गांधी को फिल्माया गया है, बड़ा अजीब सा है और इसमें एक लफंगा और उसके साथ के लोग किस ढंग से बोलते-बर्ताव करते हैं, यह सब हमारे बच्चे लोग जो निर्दोष हैं, वह जो सुनते हैं वह अपना लेते हैं। ये सब अपनाना हो सकता है ठीक हो, मगर बाप-मां के साथ ऐसी बातें करेंगे तो कैसा लगेगा? मुझको पसंद नहीं है ये सब चीज। ठीक है, कॉमर्शियल सक्सेज है। कॉमर्शियल सक्सेज के लिए हमारी भारतीय संस्कृति को क्यों नष्ट किया जा रहा है।

यही सब कारण है कि आज का सिनेमा और उसका संगीत टेंपरेरी टाइप का होकर रह गया है। यह बिल्कुल सही है। आज के समय में सिनेमा में औरत को बस नाचने और गाने भर के लिए रख लिया जाता है। हमारे जमाने में जो गाने होते थे, जिस ढंग से सिचुएशंस बनाए जाते थे, कहां होता है अब वह सब? उस ढंग से कोई सोचता भी नहीं है और सोचना भी नहीं चाहिए क्योंकि ऐसे सोच आजकल के जमाने में बहुत गए-गुजरे लगते हैं।

मेरे समय के सितारे

वह सारा का सारा समय ही जाता रहा। कोई साथ का नहीं बचा, सब चला गया। अब देखिए गाने की फील्ड में सब चला गया- रफी चला गया, मुकेश चला गया, किशोर चला गया, हेमंत चला गया, तलत चला गया और बाकी क्या रहा? कुछ नहीं बचा। गाना जिस ढंग से बनता है, दो-चार लोग कुछ ऐसे हैं वह बनाने की कोशिश कर रहे हैं लेकिन क्या कोशिश कर रहे हैं? अब देखिए न, बोलना नहीं चाहिए लेकिन 'उमराव जान', उसका जो म्यूजिक है, जो खैयाम साहब ने दिया था, क्या ब्यूटीफुल म्युजिक, एकदम हृदय को छू लेने वाली बात थी उसमें। कुछ-कुछ गाने मैंने सुने, एकदम छू गए दिल को। लेकिन जो 'उमराव जान' पिछले दिनों बनी,

उसका एक भी गाना दिल को छू न सका। 'शोले' दोबारा बनी, अब हम क्या कहें, बिग बी के बहुत से चाहने वाले हैं दुनिया में, हम तो एक कौड़ी के भी नहीं हैं उनके सामने, लेकिन मुझे यह लगता है कि यह ठीक से जमा नहीं। उस 'शोले' में जिस ढंग से पंचम ने म्यूजिक दिया था उस ढंग से कोई म्यूजिक नहीं दे सकता। उस तरह के कैरेक्टर भी मिलना मुश्किल ही हैं आज। जिस ढंग से अमजद खां ने गब्बर सिंह का रोल किया था, बिग बी ने उसके मुकाबले क्या किया। ऑफकोर्स ही इज ए ग्रेट आर्टिस्ट मगर जो इंप्रेशन अमजद खां छोड़ के गए हैं, वो इंप्रेशन मेरे दिल में एकदम स्थायी होकर रह गया। वह गाना जो जलाल पर फिल्माया गया था, हेलन के डांस के साथ, वह गाना कभी बन सकता है दोबारा? कभी नहीं बन सकता। जब पंचम ने बनाया था ये गाना, हम लोग ताज्जुब कर रहे थे, कैसे उसने ये गाना गया होगा? हम लोग सब मंझे हुए गाने वाले थे, हम लोग सब सोच में पड़ गए, कैसे गाया उसने? ऐसी पिक्चर है जो हर दिल में अपनी ऐसी जगह बना चुकी है, जो अमिट है और वह जगह कोई नहीं ले सकता।

संगीत की विरासत सहेजकर रखने की बात

कोलकाता में इस तरह का काम हो रहा है, हालांकि यह कठिन है, आसान नहीं है। उन लोगों ने मुझे बताया कि हम आपके संगीत को सहेजने का काम कर रहे हैं। मैंने उनको पूछा कि तुम किस तरह का प्रस्ताव बना रहे हो, स्क्रिप्ट क्या है, मुझे बताओ। वह सब मेरी कोलकाता यात्रा में तय होने वाला है। वे लोग एक पूरा आर्काइव ही बनाने वाले हैं। मैंने जितने गाने गाए हैं उन सबको वे प्रिजर्व करके रखने वाले हैं। सब चीजें कंप्यूटर के माध्यम से सुरक्षित रहेंगी और संगीत प्रेमियों को उनके चाहने पर उपलब्ध हो सकेंगी। मैंने तो न जाने कितने गाने गाए हैं, मुझे याद नहीं हैं मगर कंप्यूटर और इंटरनेट के माध्यम से वे लोग सब भेजने में सक्षम हैं।

बंग भूमि की मिठास

बंगाल की मिट्टी में मिठास है, वहां की बोली-बानी में मिठास है। कितने ही कलाकार बंगाल की भूमि से आए और उन्होंने अपनी मिठास से पूरे जगत के आस्वाद को सम्मोहित कर लिया। इसका कारण है इस जमीन के लोगों का संवेदनशील होना। वहां के लोग सचमुच बड़े संवेदनशील होते हैं। वहां भी मारपीट है। जबरदस्त मारपीट करते हैं लोग। वे एक क्लास के लोग हैं। वे वो तो करते ही हैं लेकिन आमतौर पर मैं बोलता हूं कि वहां के लोगों का जो दिमाग है वह अच्छी तरफ ही सोचता है। उनका सोचना, दैनंदिन जीवन के आसपास ही होता है और अपनी जड़ों से उनका जुड़ाव बड़ा भावनात्मक होता है।

फिल्में और रियलिटी

फिल्मों से रियलिटी नदारद है। आजकल रियलिटी पर फिल्में ही नहीं बनतीं। आज का सिनेमा देखो, टीवी सीरियल में दिखाई देने वाली औरतें और लड़कों के कपड़े देखो, इस तरह के कपड़े पहनकर कोई रहता है अपने घर में? इस तरह के कपड़े पहनकर घर में घूमते कैसे दिखाई देते हैं, यह समझ में नहीं आता। मैंने एक बार कुछ कलाकारों से पूछा भी था, इस तरह के कपड़े पहनकर क्यों रहते हो, तो उसके जवाब में उन्होंने कहा था, कि इससे आकर्षण बढ़ता है। सांस्कृतिक समृद्धि का प्रश्न ही बेमानी हो गया है। देयर इज नो कल्चर टुडे। नथिंग। मैं बैंगलोर में रहता हूं, देखता हूं, शाम के वक्त आप शहर में जाइए, देखिए वो नंगे नाच, शराब वगैरह, यही सब हो रहा है। दिस इज कल्चर? हम लोग बुजुर्ग जितने हैं, सोचते हैं कि क्या

दिन आ गए हैं? हम लोग तो कुछ नहीं कर सकते हैं इसमें। ये आज के आईटी छोकरे-छोकरी लोग तीस-तीस हजार रुपये महीने कमाते हैं, आप जाकर देखिए जिस ढंग से वे एक-एक शर्ट खरीदते हैं पंद्रह सौ रुपयों का, कमाल है...। एक शर्ट का पंद्रह सौ रुपये खर्च करते हैं वे और बोलते हैं, हां मेरे पास पैसा है, क्यों नहीं करूं मैं खर्च वह? वह सब कार्ड लेकर घूमते हैं। ये कार्ड, वह कार्ड, यही सब करते रहते हैं। हम लोग दूर से देखते हैं। हमारे कुछ दोस्त लोग हैं, उनके बच्चे भी आईटी में हैं। वे बोलते हैं, हम क्या करें। ऐसे बच्चों को कार्पोरेट हाउस ने सत्तर-सत्तर लाख, एक-एक लाख रुपये महीने में नौकरी में रखा हुआ है। क्या किया जा सकता है? कुछ नहीं किया जा सकता लेकिन देखने से लगता है कि भई क्या दिन आ गया है? एक आदमी को एक लाख रुपये महीने का पगार। किसलिए? क्या करते हो तुम भाई? ऐसा हो गया, जो हम दूर से देखते हैं और अपने आपमें बातें करते रहते हैं, कि भाई ये हमारे दिन नहीं हैं। ये समय ऐसा हो गया, इसीलिए आहिस्ता-आहिस्ता हम लोग दूर होते जा रहे हैं।

मैं कभी भी दस प्रोग्राम आने से नहीं लेता हूं। मैं दस मर्तबा पूछता हूं, जानकारी लेता हूं और विचार करके हां करता हूं। जब मैं जान जाता हूं कि अच्छे लोग हैं, अच्छे गीत सुनने वाले हैं, तब हां करता हूं और जाता हूं।

विविध अनुभूतियों और अभिव्यक्तियों के गाने

ऐसा गुण, आप कह सकते हैं कि मुझे विरासत में मिला अपने चाचाजी से। मेरे चाचाजी जो थे, वे ध्रुपद गाते थे, ख्याल गाते थे, ठुमरी गाते थे, गजलें गाते थे, फिर टप्पे गाते थे, बांग्ला में बाऊल, भाटियाली सब, कीर्तन वगैरह भी। याने के एक तरह से पायनियर थे वे। बंगाल में उनकी पूजा होती थी, के. सी. डे साहब की। उनका भतीजा हूं मैं। और जिस ढंग से हम लोग को सिखाया उन्होंने, बिल्कुल उसी लाइन पर गाना सीखा मैंने। गाना, इस ढंग से तैयार करो, चाहे कुछ भी दिया जाए तुमको गाने को, गा सको। इसीलिए सब कोई बोलते थे, ये गाना है, तो मन्ना डे को बुलाओ। उसी से गवाओ। मुझे अच्छा भी लगता है। गर्व है इस बात का कि कुछ-कुछ गाने सिर्फ मेरे लिए ही रखे गए कि ये मन्ना डे ही गाएंगे।

सबसे अच्छी मित्र

मेरी वाइफ। शी इज वंडरफुल वूमेन। शी इज मलयाली। माई वाइफ। बट शी इज एम. ए. इन इंगलिश लिट्रेचर फ्रॉम बांबे यूनिवर्सिटी। शी इज टू टीच। और मैं यह कह सकता हूं कि हमारी जिंदगी में जो अप्स एंड डाउंस हुए हैं न, उसके लिए अगर वह मेरे पास, मेरे साइड में नहीं होती, तो मैं कभी का चला जाता। ऐसे दिन आए थे, जब मैं लडखड़ाने लगा था, कैसे काम करूंगा बंबई में आकर, बंगाली हूं। सब लोग बोलते थे, 'अरे बंगाली बाबू कलकत्ते जाओ, रसगुल्ले-वसगुल्ले खाओ, इधर क्या करते हो?' बहुत दुख होता था तब मैं सोचता था, कि किसी आश्रम में जाकर रहूंगा, भजन गाया करूंगा। एक संगीत कार्यक्रम में सुलोचना से पहली बार मुलाकात हुई और हम एक दूसरे के जीवन साथी बन गए।

सबसे यादगार फिल्म

ऐसी फिल्में मुझे बहुत पसंद हैं जो मन को भीतर तक छू जाए। ऐसी फिल्म जिसे देखकर आप क्षण भर सोचें कि किस तरह बनी यह फिल्म, किस तरह कलाकारों से इसमें काम कराया गया। गाने का पिक्चराइजेशन किस तरह किया गया, कितनी अच्छी धुन बनाई गई, हम लोग तो सिनेमा को इसी तरह से लेते हैं। हम तो डेफिनेटली ऐसी पिक्चरें देखते हैं और पसंद करते हैं, जैसे

'परिणीता' आई थी पिछले साल, मुझे अच्छी लगी। जैसे 'देवदास' जो बिमल राय ने बनाई थी दिलीप कुमार को लेकर, वह इमोर्टल फिल्म थी। उसमें बर्मन साहब का म्यूजिक, दिलीप कुमार की एक्टिंग, सुचित्रा सेन की एक्टिंग और अभी जो 'देवदास' भंसाली साहब ने बनाया, वैसी लिख सकते हैं कभी शरद चटर्जी? ये बिल्कुल बकवास है। न जाने क्यों, वो पचास करोड़ में पिक्चर बनी, और बोलने लगे, दिस इज ए मोस्ट एक्सपेंसिव पिक्चर, सो व्हाट? मुझे बिल्कुल पसंद नहीं, अच्छा नहीं लगता ये सब। बिमल राय की पिक्चरें, शांताराम की पिक्चरें, यश चोपड़ा की कुछ पिक्चरें, उनको देखकर लगता है कि कोई गंदगी नहीं है इसमें। अच्छा लगता है।

इस बात पर गुस्सा आता है

ये आज की पिक्चरों में जिस ढंग से काम कराते हैं, और जो लोग ऊपर बैठे हैं, उनका जो एटीट्यूट है, जिस ढंग से डायलॉग होता है, काय रे क्या करता है तू, खायला है, चल रे- ये सब बेहद बुरी बात है आने वाली पीढ़ी के लिए। वैरी बेड। सब कोई इसी तरह बात करने लगे हैं। ये कोई मजाक है, हिंदुस्तान में अच्छी तरह से कोई बात भी नहीं कर सकता, छी छी छी...। पिक्चर का अपने दर्शकों पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। पिक्चर कौन देखते हैं, ज्यादा? हम थोड़े ही लाइन लगाकर खड़े होते हैं सिनेमा हॉल में, जो लोग भीड़ लगाकर देखते हैं वे क्या सीखते हैं? जैसी देखते हैं वैसी ही मांग बढ़ती जाती है। दिन ब दिन खराब होता जाता है। जितना खराब देखा, उससे भी खराब चाहिए और। ये मैं देखता हूं, ये मुन्ना भाई, इसमें संजय दत्त काम करता है और वह बोमन ईरानी, एक कॉलेज का डीन, उनसे बात कर रहे हैं, तू तू करके बात करता है ये संजय दत्त, मुन्ना भाई। मुझे लगता है कैसे ये लोग, सोचते कैसे हैं? डीन क्यों बर्दाश्त करेगा कि एक व्यक्ति को जो नॉट क्वालीफाइड है, वह यह सब करे, जो कि बिल्कुल गलत है। कमाल की बात है, ये दूध वाला, पान वाला ये पसंद करते हैं। उनको यही चाहिए।

गायकी, ईश्वर की साधना

सुर जब लगाता हूं सुबह बैठकर, एकदम लीन हो जाता हूं। कुछ देर तक गा लिया, एक घंटा गा लिया, अच्छा लगता है। तसल्ली हो जाती है दिल में। दिन में एक अच्छा काम तो किया थोड़ा सा, उनको याद करके। मैं अंतःकरण से बहुत शुद्ध इंसान हूं। आप यह कह नहीं सकते, मुझ पर कोई ऊंगली उठाकर यह नहीं कह सकता, ये आदमी ऐसा है, वैसा है या इसने ये किया, वह किया। मैं पसंद ही नहीं करता हूं। अब इतने सालों से मैं काम कर रहा हूं 'आई एम ए वन वूमेन मैन, व्ही हेप्पी मेरिड फॉर फिफ्टी फोर इयर्स.....फिफ्टी फोर इयर्स।' मैं दूसरी कोई औरत की तरफ देखता ही नहीं, सिवाय मेरी वाइफ। नेवर।

सच्चाई की परिभाषा

ऑनेस्टी। जो अपने भीतर और बाहर से ईमानदार हैं उनके लिए सच्चाई कोई बड़ी चीज नहीं है। सच्चाई तो यही है न, आप जो सच सोचते हैं, वही बोलते भी हैं। आपकी ईमानदारी, आपकी बातों में भी झलकनी चाहिए।

दिल का हाल

मेरे दिल का हाल... मैं कैसा हूं, मैं क्या हूं, मैं क्या सोचता हूं, किसी में कोई परदेदारी नहीं नहीं है। सब कांच की तरह साफ और पारदर्शी है। मैं क्या करता हूं, सबको पता है। मेरा कुछ भी छुपा हुआ नहीं है जो किसी को न पता हो। किसी को मेरे बारे में विपरीत कुछ सोचने की

जरूरत ही नहीं पड़ेगी। मैं बहुत-बहुत ईमानदार हूं।

हास्य गीत

कॉमेडी सांग में आहा... ओहो बोलने से कॉमेडी नहीं होती है। कॉमेडी सांग में गाने के जरिए कॉमेडी पैदा करनी चाहिए। जैसे, 'एक चतुर नार करके सिंगार', जो हमको गाना पड़ा था, बिलकुल अलग ढंग से क्योंकि महमूद उसमें साउथ इंडियन का काम कर रहा था। यह करना मेरे लिए काफी कठिन था।

महमूद

महमूद एक ब्रिलिएंट कलाकार थे। एक जमाना था, महमूद ने यदि कोई फिल्म साइन की तो बड़े-बड़े लोग उस फिल्म में काम करने से पीछे हट जाते थे। वे नहीं साइन करते थे, फिर। वे कहते थे, सब सीन वह ही चुराकर ले जाते हैं, हम उनके साथ काम नहीं करेंगे। मेरे साथ उनका बहुत अच्छा रिश्ता था। वे हमेशा आते थे मेरे पास, मेरे घर। मुझे याद है, मैं एक रिकॉर्डिंग में एक घड़ी पहना था, रेडो वाच। शुरू-शुरू में ये घड़ी चली थी। मेरा एक दोस्त लंदन से लाया था। उसके हाथ में थी। उसका नाम पिसी बुलाता था मैं। मैंने उससे कहा, पिसी बहुत अच्छी घड़ी पहन रखी है तुमने तो उसने कहा, दादा ये आप ले लीजिए। मैंने कहा, मैं कैसे लूं? उसने कहा- आपको अच्छा लगता है तो ले लीजिए। मैंने कहा, ठीक है, एक शर्त पर ले सकता हूं, तुम इसका पैसा जितना है, वह ले लो। वह हमारे घर ही ठहरते थे। मैंने कहा उनसे, तुम अभी इसे पहने रहो, फिर जाते वक्त तुम इसका पैसा लेकर जाना और घड़ी मुझे दे जाना। ऐसा ही हुआ। जब वह गया तो मैंने उस घड़ी की कीमत चुकाई और अपने लिए ले ली। सब कोई देखते थे उस घड़ी को, जब मैं पहनता था। कई बार मैं डर के मारे उसको पहनता नहीं था। एक दिन रिकॉर्डिंग में पहनकर गया। महमूद का गाना था, उसका प्ले बैक दे रहा था मैं। महमूद बोला, दादा, लास्ट टाइम, आपके छोटे भाई महमूद के लिए जो आपने कुछ दिया था, याद आया आपको? मैंने कहा, क्या दिया था आपको? बोला महमूद, याद कीजिए, नहीं दिया तो अब दे दीजिए। मैंने बोला, क्या चाहिए तो वो बोला, घड़ी चाहिए। लेकिन मैंने वह घड़ी नहीं दी, बड़ी मुश्किल से बचा पाया।

मुझे महमूद बहुत पसंद था। उसकी बहुत सी फिल्में मैंने देखीं। पड़ोस में तो, हद कर दी उसने। बाप रे! वो खुद और हमारे किशोर, ओ हो हो माई गॉड, क्या काम किया दोनों ने मिलकर। और वह गाना सबसे पापुलर, 'एक चतुर नार करके सिंगार।' तो हुआ, लेकिन वो गाना जो महमूद के लिए गाया था, वांगा आओ आओ सुरीली सजनिया, वह गाना था टेरीफिक, वह गाना आप सुनकर देखो। गाना सुनकर लगेगा कि हां, ये गाना मन्ना दा ही गा सकते हैं, और कोई नहीं गा सकता। महमूद हर गाने की रिकॉर्डिंग में आकर बैठ जाते थे, एक परचा लेकर, कागज लेकर, उसमें, अरे हां आं आं बोला तो उस ढंग से लिख लेते थे। कहते थे, इस ढंग से हमें भी परदे पर निभाना है। कमाल की बात है, बहुत कम आर्टिस्ट ऐसे करते हैं। राज साहब भी ऐसे ही थे। शुरू से आखिर तक हर गाने की रेकॉर्डिंग में मौजूद रहते थे। खुद गाते थे, म्युजिक भी खुद बनाते थे, क्या नहीं करते थे राज साहब! वाह....वाह।

सचिन देव बर्मन

बहुत छोटी उम्र से देखा था उनको मैंने। हमारे चाचाजी के.सी. डे साहब से सीखने आते थे वह। वह आदमी बिल्कुल चायना मैंन जैसा दिखता था। ये लंबा आदमी, सफेद कपड़े पहनकर

चला आ रहा है। धोती-कुरता पहने हुए। जब वह सीखते थे, मैं उनके बाजू में हाफ पैंट पहनकर बैठता था। मैं उस पूरे समय उनकी तरफ देखता ही रहता था। वह कैसे गाते थे, नाक से, 'अरे धीरे से जाना बगियन में....।' मैं सोचता था, ये अजब तरीके से गाते हैं, कोई तो आ रे बोलता है मगर ये आं रे बोलते हैं। मैं उनके गाने कॉलेज में गाया करता था, तो मेरे चाचा' बोलते थे, ठीक है, तुम सचिन के गाने पसंद करते हो, गाओ लेकिन सचिन जो नाक से गाता है, उसकी नाक की नकल करते हो तुम, तो नाक से मत गाओ। लेकिन ये मानना पड़ेगा कि सचिन दा में एक बात थी, जो किसी आर्टिस्ट में नहीं है, वह गाने को जिस ढंग से सजाते थे न, बहुत बेहतरीन।

अविस्मरणीय फिल्मकार

ऋषि दा के साथ बहुत काम किया। कमाल के अनुभव रहे। वंडरफुल। वंडरफुल सेंस ऑफ ह्यूमर। ऋषि दा बैठकर काम कर रहे, मैं पहुंचा, एकदम बोले- अरे मन्ना दा, क्या मुसीबत आयी...! मैंने पूछा, मुसीबत क्यों, किस बात की? इस पर वे बोले, आप आ गए। अब काम तो नहीं होगा। आपके साथ बैठकर बात करनी पड़ेगी। बिमल राय के साथ बहुत काम किया। उनकी फिल्में बहुत खूबसूरत होती थीं। सच कहूं तो उनकी फिल्मों से सुगंध आती थी। उनके निर्देशन में एक तरह की खुशबू महसूस होती थी। वे अपने किसी भी काम को सहजता से नहीं लेते थे। एक बार मुझे याद है कि मैं उनके स्टूडियो के बाहर से निकल रहा था, बिमल दा अंदर आ रहे थे, तो बोले, अरे मन्ना कैसे हो? वे गाड़ी से निकल रहे थे। तभी हमने देखा सूर्य पेड़ के पीछे से अस्त हो रहा है, वो एकदम रुके। मुख्यतः तो वे कैमरामैन भी थे। उन्होंने तुरंत अंदर अपने आदमी से कहा, कैमरा लेकर आओ और उन्होंने फिर वो दृश्य शूट कर लिया। मैंने कहा, बिमल दा, ये क्या हो रहा है? वे बोले, ये शॉट मैं रखना चाहता हूं। ये कभी काम आएगा। दिस इज ए काइंड ऑफ डायरेक्टर। एकदम नेचुरल। उनकी तो सारी की सारी फिल्में मुझे पसंद हैं, 'दो बीघा जमीन', क्या फिल्म बनाई थी (मैं उनको याद दिलाता हूं इस वक्त वह गाना,- 'अपनी कहानी छोड़ जा, कुछ तो निशानी छोड़ जा, कौन कहे इस ओर, तू फिर आए न आए')।

जीवन दर्शन के गीत

अच्छा लगता है ऐसे गाने गाना, जैसे 'दो बीघा जमीन' का गीत, जो आपने अभी याद दिलाया। ऐसे शब्द जिनमें गहराई हो, उनको गाने में भीतर से वह असर, वह प्रभाव लाना कठिन होता है, लेकिन वह भी निभाने में कठिनाई नहीं आई। मैंने जब-जब ऐसा किया और लोगों को पसंद आया तो मुझे सचमुच बहुत खुशी होती है। आजकल तो जो गीत लिखे जा रहे हैं, बिल्कुल बकवास हैं। बंगाल में एक बैंड इंट्रोड्यूज किया गया है, उसमें आठ-दस छोकरे गिटार लेकर कूदते हैं, फिर धूमधाम, क्या है ये सब, समझ नहीं आता।

मेरे अपने अनुभव साठ साल के लंबे समय के रहे हैं। इन साठ सालों पर मैं एक किताब लिखूं तो मैं लिख सकता हूं सारे संगीत निर्देशकों पर। उनकी खासियत के बारे में, उनकी टिपीकल कैरेक्टराइजेशन और थिंकिंग, गाना बनाने का तरीका, जिस ढंग से बनते थे गाने, जिस ढंग से रिकॉर्डिंग होती थी, क्या बात है!

एक बार की घटना बताऊं, 'बसंत बहार' फिल्म की बात है। उसमें एक गाना था, केतकी गुलाब जूही चंपक बन फूलें। तो उस समय शंकर ने टेलीफोन किया, आइए मन्ना बाबू गाना तैयार है। मैं गया, तो वे बोले कसकर बांधकर तैयार हो जाइए। मैंने बोला, क्या बात है, तो

शंकर बोले, दादा प्रतियोगिता का गाना है। मैंने कहा, अच्छी बात है कौन रफी मियां गाएगा? शंकर बोले, नहीं, रफी मियां नहीं, ये भीमसेन जोशी गाएंगे। मैं यह सुनकर बैठ गया वहां पर। मैंने कहा, भीमसेन जोशी गाएंगे, प्रतियोगिता कर रहे हो? मैं तुरंत अपने घर लौट आया और अपनी बीवी को बोला, चलो पंद्रह दिन बाहर चले जाते हैं। वह बोली, क्यों? तो मैंने बताया कि वह लोग भीमसेन जोशी के साथ प्रतियोगिता कर गाना गवाना चाहते हैं। हम लोग बाहर जाते हैं, पुणे में जाकर रहेंगे, फिर जब गाने का रिकॉर्डिंग हो जाएगा तब जाकर वापस आएंगे। मेरी वाइफ ने मुझे समझाया। दरअसल मैं इसलिए डर रहा था कि मेरी आवाज जीरो पर थी जो अपने स्पर्धी को हराता है। अब मेरी हिम्मत कैसे हो, इतने बड़े गायक को हराने की? मैं बहुत परेशान हो गया था। ये भी अजीब बात है। मैं गाना गाकर जोशी को हरा दूं, ये कोई आसान बात है? मैं अपनी हार मानता हूं, मैं यह नहीं कर सकता। पत्नी ने मुझसे कहा, क्यों नहीं कर सकते, ये आपको करना पड़ेगा। तो फिर मैं दोबारा शंकर के पास गया और उनसे कहा, शंकरजी, मैंने कहा, मुझे थोड़ा समय दीजिए, मैं रियाज करके अपने आपको थोड़ा तैयार कर लूं, फिर मिलता हूं। शंकर बोले, हां ठीक है, दादा, मैं बोलता हूं निर्देशक को। वह भारत भूषण के भाई का पिक्चर था। उन्होंने भी कहा, ठीक है, पंद्रह-बीस दिन के बाद हम रिकॉर्डिंग करेंगे।

फिर खूब तैयारी की, तानबाजी की। तब मेरी आवाज भी काफी असरदार थी लेकिन मैं शास्त्रीय संगीत के बारे में कुछ भी जानता नहीं था। वह पंद्रह दिन मैंने सुबह उठकर जो क्लॉसिकल रियाज किया न, उससे मुझे बहुत बल मिल गया। गाना रिकॉर्ड हो गया। गाना होने के बाद भीमसेन जोशी ने कहा, मन्नाजी, आप तो बहुत अच्छा क्लॉसिकल गाते हैं! आप क्लॉसिकल प्रोग्राम क्यों नहीं करते? मैंने उनसे कहा, शर्मिंदा न कीजिए मुझे, आप लोग के होते हुए मैं क्या खाक गाऊंगा। वे बोले, नहीं, नहीं आप गा सकते हैं। आप दिल में तय कर लें कि क्लॉसिकल गाएंगे तो आप बहुत अच्छा गाएंगे। उनका यह कांप्लीमेंट मुझे बहुत अच्छा लगा।

राजकपूर के साथ

राजकपूर की फिल्मों में जो मुकेश से गाया नहीं जाता था, वह मैं गाता था। 'दिल का हाल सुने दिल वाला', आप सोच सकते हो, मुकेश गा सकता था? नहीं गा सकता। 'प्यार हुआ, इकरार हुआ' गा सकता था वह, नहीं गा सकता था। 'ऐ भाई जरा देख के चलो', नहीं गा सकते थे मुकेश। 'ये रात भीगी-भीगी'.... वह आवाज थ्रो करना, नहीं होता है। उसकी आवाज में वह थ्रो था ही नहीं। 'आ जा सनम मधुर चांदनी में हम', कौन गाएगा? नहीं गा सकते। पहली मर्तबा जब मैंने बूट पॉलिश में गाया था। 'रात गई फिर दिन आता है।' एक गाना है। सरस्वती कुमार दीपक ने लिखा था वह गाना। तो राज साहब बोले, देखिए मन्नाजी, 'वह जो रात गई ई ई, गई ई ई ई फिर सुबह....' इस ढंग से गाना है। मैंने उसको रात गई ई ई करके खींचा था, उसको फेड आउट जिस ढंग से किया था, फिर सुबह नई गाया था, राज साहब ने उसके बाद आकर मुझे चूम लिया था। कहने लगे, मैं बहुत दिन से ढूंढ रहा था, ऐसे कोई गाने वाले को, जो, हम जो चीज चाहते हैं, वह दे सके। आप हमारी हर पिक्चर में गाएंगे।

मैं बेहद खुश हुआ। मैंने आकर अपनी पत्नी को बताया कि राज साहब ने मुझे चूम लिया। आपको मालूम नहीं, मैं ये कैसे बताऊं, एक अकल्पनीय चीज हो गई थी। 'ये रात भीगी-भीगी', गाने की रिकॉर्डिंग चल रही थी। शंकर मुझको और लता को रिहर्सल करा रहे थे। हम लोग

दो-तीन दिन रिहर्सल करके रिकॉर्डिंग स्टूडियो, फेमस पहुंचे में। मीनू रिकॉर्डिस्ट थी। पिक्चर के निर्माता मिस्टर चेट्टियार फ्रॉम मद्रास थे। तो रिहर्सल करके हम लोग तैयार हो गए। ग्यारह-साढ़े ग्यारह बजे हम लोग तैयार हो गए। रेडी फॉर रिकॉर्डिंग। हम लोग रूम के इंतजार में थे। मिस्टर चेट्टियार मद्रास से सीधे रिकॉर्डिंग स्टूडियो में आने वाले थे। उन्होंने आते ही पूछा, मुकेश किधर है? सब लोग एकदम चुप हो गए तब शंकरजी बोले, मुकेश ये गाना नहीं गा रहे, मन्नाजी गा रहे हैं। हू इज मन्नाजी?, चेट्टियार साहब ने पूछा। शंकर ने बताया, वह बैठे हैं, लता के पास। वे बोले, 'नहीं नहीं, राज्स प्लेबैक, व्ही कांट टेक बाय एनीबडी एल्स, इट हैज टू बी मुकेश।' कैंसिल कर दीजिए आप रिकॉर्डिंग। हम लोग सब सुन रहे थे। इतने क्रूर आदमी थे, हमारे सामने बोले, कैंसिल कर दो। मुकेश से देख लो, फिर मैं दोबारा आ जाऊंगा। तब शंकर ने उनसे कहा, देखिए, गाना जिस ढंग से मैंने बनाया, ये मन्नाजी और लता ही गा सकते हैं, मुकेश के बस की चीज नहीं है। चेट्टियार बोले, 'नहीं...नहीं....डू समथिंग एबाउट....आई कांट एक्सेप्टेड एनीबडी एल्स इज व्हाइस.....बट मुकेश इज फॉर राजकपूर। इस पर हमारे शंकर तो बहुत बिगड़ गए। उन्होंने कहा, इस पिक्चर में मैं म्यूजिक दूंगा ही नहीं। मुझसे कहा, चलो भाई हम चलते हैं। इतने में राज साहब आ गए। कहने लगे, क्या है भाई? इतना टेंशन क्यों है यहां? राज साहब तो बहुत उस्ताद आदमी थे। उन्होंने कहा, देखिए सेठ जी, ये गाना जो है न, मन्नाजी को सिखाया गया, उन्होंने रिहर्सल किया, गाने की रिकॉर्डिंग के लिए इधर आ गए और वे गाने के लिए तैयार हैं। उन्होंने कहा कि इस गाने का रिहर्सल इन्होंने किया है, यदि आप नहीं लेना चाहते तो ये गाना बदलना पड़ेगा।

इस पर चेट्टियार कहने लगे, ठीक है, शैलेंद्र से बोलो, गाना दूसरा लिखे। इस पर राज साहब बोले, क्यों? गाना जिस ढंग से हो रहा था, बहुत अच्छा लग रहा है, आप सुनिए। एक मिनट सुन लीजिए, रिकॉर्डिंग भी कीजिए, अच्छा नहीं लगा तो हम ये गाना फेंक देंगे और दूसरा लेंगे। तब जाकर राजी हुए वह। वहां पर लता बड़ी नाराज, मैं शर्मिंदा। वह बोलीं, आपके बारे में इस ढंग से बात की गई, मुझे बेहद खराब लग रहा है। लेकिन आज आपको ऐसा गाना पड़ेगा ताकि इनको नानी याद आ जाए। सो हम लोगों ने पहला रिहर्सल किया और दूसरे रिहर्सल में टेक। पहला टेक हुआ तो चेट्टियार साहब रिकॉर्डिंग से अंदर आए जहां हम गा रहे थे। मेरे पास आकर कहने लगे, आप तो बहुत अच्छा गाते हैं! राज साहब ने कहा, बहुत अच्छा गाया आपने मन्ना बाबू, बहुत अच्छा।

राज साहब मुझे मन्ना बाबू ही कहते थे हमेशा। उनकी अपने पिता पृथ्वीराज कपूर से एकदम दोस्ती के रिश्ते थे। वे अपने पिता के साथ सदैव रहते थे कलकत्ते में। पिता को पकड़कर ही चलते थे। उन दिनों पृथ्वीराज कपूर कलकत्ता में मोटर बाइक से चला करते थे। क्या आदमी था पृथ्वीराज कपूर, क्या लंबे, खूबसूरत, ऐसा लगता था कोई रोमन आदमी है। बहुत आकर्षण। मुझसे बोलते थे, मन्ना... गाना गाओ... गाना गाओ लेकिन चचा को ध्यान में रखकर गाओ। चाचा की आवाज का तो जवाब ही नहीं था... 'बाबा आआ... मन की आंखें खोल...।' वह गाने का तरीका ही कुछ और होता था। 'तेरी गठरी में लागा चोर', मुसाफिर जाग जरा?, 'जाओ जाओ मेरे साधु रहो गुरु के साथ...' वाह क्या गाते थे वह। 'पनघट पे कन्हैया आता है, आकर धूम मचाता है', ये भी एक था।

प्राण

प्राण साहब के लिए मैंने कई गीत गाए हैं। इनमें विशेष रूप से दो गीतों का जिक्र सदैव होता है, एक 'उपकार' फिल्म का 'कस्में वादे प्यार वफा सब बातें हैं बातों का क्या' और 'जंजीर' का यारी है ईमान मेरा यार मेरी जिंदगी।' मेरी और उनकी पहली मुलाकात जब हुई तो उन्हीं के लिए एक गीत की रिकॉर्डिंग थी। वे मुझसे कहने लगे, मन्नाजी, ये मैं पहली मर्तबा गाना गा रहा हूं। आप मेरे लिए गा रहे हैं। ऐसा कुछ न करना कि मैं मुश्किल में पड़ जाऊं। मैं चूंकि गाने में बहुत मसाले डालता था, इसलिए वे मुझसे पहले ही ऐसा कह रहे थे। डरते थे सब, क्या मसाला डाल दिया, करना मुश्किल हो जाता है। सबके सामने बेइज्जती का खतरा है। प्राण एक अच्छे इनसान और मित्र थे। कभी-कभार मैं टेलीफोन करता था, तो बहुत अच्छी तरह से बात करते थे।

मोहम्मद रफी के साथ पतंगबाजी

एक रोचक बात सुनाता हूं। हम बांद्रे में रहते थे। करीब बारह साल रहा उस फ्लैट पर। मैंने वह फ्लैट खरीदा था। चार बेडरूम का फ्लैट। मैं, मेरी बीवी और मेरे दो बच्चे उधर रहते थे। वहीं बीच में एक पार्क था। पार्क के उस तरफ रफी मियां रहते थे। अपनी छत पर रफी, जब-जब उनकी रिकॉर्डिंग नहीं होती थी, पतंग उड़ाया करते थे। मैंने रफी को जब पतंग उड़ाते देखा तो मैं भी मांजा खरीदकर लाया, पतंग खरीदकर लाया और उड़ाने लगा। फिर जब-जब रफी पतंग उड़ाता, मैं काट दिया करता उसकी पतंग। एक मर्तबा रफी और मैं, हम दोनों मिले रिकॉर्डिंग स्टूडियो में एक साथ। वे बोले, दादा, एक बात तो सुनो, आप कोई मैजिक जानते हैं क्या? आप हमारी हर पतंग काट देते हैं। कैसे काट देते हैं! इस पर मैंने उनसे कहा, तुमको एक बात बताऊं रफी मियां, तुम पतंग उड़ाना नहीं जानते हो। वे बोले, मैं पतंग उड़ाना नहीं जानता? मैं बोला, नहीं। मैं तो पतंग उड़ाता ही हूं। दिलीप कुमार भी एक बार बोले, अच्छा आप पतंग बहुत अच्छी उड़ाते हैं! तो फिर हो जाए एक मर्तबा। ऐसे ही एक बार जॉनी वाकर ने बोला था, हो जाए एक मर्तबा। हॉकी-फुटबाल खेलता था मैं, क्रिकेट भी। देखने में भी मेरी ऐसी ही दिलचस्पी है। मैं बॉक्सिंग लड़ता था। मोहम्मद अली का मैं बड़ा फैन हूं।

फिल्मों में केवल गाना ही

फिल्मों में तो केवल गाना ही गाया, और कोई काम नहीं किया। एक बार नाना पाटेकर ने जरूर जिद की थी मगर मैं तैयार ही नहीं हुआ। वह प्रहार पिक्चर बना रहा था। उसमें मेरा एक गाना है, -'मेरी मुट्ठी में है क्या' उस गाने को एक प्रोफेसर का गाना था। तो नाना पाटेकर बोला, दादा, आप मेरी मान लीजिए। मैंने पूछा, क्यों क्या हुआ भाई? वह बोला, दादा ये प्रोफेसर का रोल आप कीजिए। मैंने मना किया, नहीं भाई, हम क्या करेंगे प्रोफेसर का रोल? वह बोला, दादा, ये गाना आपने जिस ढंग से गाया, मैं जब-जब सुनता हूं, लगता है कि ये मन्ना दा पर फिल्माया जाना चाहिए। मैंने कह दिया, नहीं, नहीं लेकिन वह सुनते ही नहीं थे। फिर मैंने लक्ष्मी (म्यूजिक डायरेक्टर था) को बुलाकर कहा, भाई ये सब गड़बड़ मत करो। फिल्मों में काम हम नहीं कर सकते। मुझे बिल्कुल पसंद नहीं है। तब वह माना।

बचपन की डाँट-फटकार

बचपन में बहुत गलतियां और शरारत करता था। मारामारी में सबसे आगे, एक नंबर का था मैं। किसी ने कुछ बोला, एक झापड़ मार दिया मैंने। इस तरह का व्यक्तित्व रहा मेरा लेकिन

मैं मेहनत भी बहुत करता था। एक्सरसाइज करता था, कुश्ती लड़ता था, बहुत कुछ किया था। थोड़ा गुस्सैल भी था। इसीलिए कोई ऐसी-वैसी बात करे या गलत बात करे तो एक लगा दिया करता था। मेरे कई अच्छे मित्र रहे हैं। अनेक वकील, इंजीनियर सब मेरे दोस्त रहे हैं। मगर मैं गाने में चला आया।

मां-पिता

मां... मैं कभी मंदिर में जाता नहीं हूं। कोई पूजा-वूजा नहीं करता हूं। मेरी मां हमेशा मुझसे कहती थीं, कि जिंदगी में ऐसा कुछ करना ही नहीं, ताकि कोई आदमी तुम्हारे ऊपर उंगली उठा सके। ऐसा कुछ सोचना भी नहीं। मेरे पिता एक ग्रेट फुटबॉलर और साइकिलिस्ट थे। मुझसे कहते थे कि एक पूरा दिन बीतने के बात दस मिनट रात को गहराई और गंभीरता से दस मिनट इस बात पर सोचो कि आज दिन भर क्या हुआ, क्या तुमने किया, क्या तुमसे गलती हुई, जाने-अनजाने किसका मन दुखाया, अपनी ऐसी गलतियों का प्रायश्चित करो और उन्हें न दोहराने की प्रतिज्ञा करो। हो सकता है निष्पक्षता से आकलन करना कठिन हो मगर सोचना कि हमारा कौन सा व्यवहार लोगों को अच्छा लगा या नहीं लगा? मैंने हमेशा इस सीख को अपनाया, इससे मेरा संतुलन अच्छा हो गया। मेरे पिता देवता की तरह थे मेरे लिए। उनके सिखाए जीवन मूल्यों और अनुशासन का बड़ा योगदान है मेरे जीवन में। इससे मेरे जीवन में धीरज आया, मोहमाया के प्रति उस तरह का आकर्षण नहीं बना जैसा कि आज तमाम दूसरे लोगों में दिखाई पड़ता है। आज गाने वाले तमाम कलाकार कितना पैसा मांगते हैं, लाखों-करोड़ों रुपया। क्या करेंगे इतना। आदमी को जरूरत ही कितने की होती है आखिर जीने के लिए? समय के साथ जिन कलाकारों का स्वर घिस गया है, वे भी माया-मोह से उबर नहीं पाते। भगवान की मुझ पर कृपा है, कि मैं इस तरह मोहमाया के पीछे भागने से बचता हूं। अपने परिवार के साथ मेरी सुकून और शांति से भरी जिंदगी है, उसी में बहुत खुश हूं।

(लेखक चर्चित फिल्म पत्रकार हैं)

क्या आदमी था 'राय'!

जावेद सिद्दीकी
अनुवादक- शकील सिद्दीकी

जावेद सिद्दीकी हिंदी सिनेमा का अत्यंत चर्चित नाम है। कहानीकार, पटकथा व संवाद लेखक के रूप में उन्होंने प्रसिद्धि व प्रतिष्ठा दोनों अर्जित की, उन्हें सिनेमा की कई महत्वपूर्ण विभूतियों-प्रतिभाओं के साथ काम करने का अवसर प्राप्त हुआ। बुनियादी तौर पर साहित्यकार होने के कारण वे अपनी इस प्रतिभा के जौहर भी जब तब दिखाते रहते हैं।

'रौशनदान' उनके रेखाचित्रों का निकट अतीत में प्रकाशित हुआ बहुमूल्य संग्रह है, जिसमें उन्होंने अपने जीवन में आए यादगार लोगों में कुछ को शब्दों में चिरजीवता देने का प्रयास किया है। नियाज हैदर हों, अबरार अलवी हों, सुल्ताना जाफरी हों, घर में काम करनं वाली बुआ हों या मौलाना शौकत अली के पुत्र हों, प्रत्येक रेखाचित्र अपनी जगह अत्यंत प्रभावशाली, जीवंत और संपूर्ण है। महान, फिल्म निर्माता निदेशक सत्यजित राय पर उनका रेखाचित्र उनकी फिल्मों के समान ही दस्तावेजी हैसियत रखता है। साहित्य की तो यह मूल्यवान निधि है ही, भारतीय सिनेमा के इतिहास का भी ये विशिष्ट अध्याय है। सत्यजित राय को कई-कई कोणों से देखने जानने का अलग सुख है इसमें पर्त दर पर्त खुलता हुआ उनका व्यक्तित्व।

अक्टूबर, 1976 तक सत्यजित राय से मेरा ताल्लुक बस इतना था कि मैंने उनके बारे में दो-चार लेख पढ़े थे और आठ-दस फिल्में देखी थीं। फिल्में जितनी थीं देखीं, बहुत अच्छी लगीं क्योंकि ऐसी फिल्में पहले कभी नहीं देखी थीं। मुझे उनकी 'जलसाघर' बहुत पंसद आई थी। कुछ तो बेगम अख्तर की वजह से और कुछ इसलिए कि मैं भी उन्हीं हवेलियों में पला हुआ था, जहां किसी जमाने में वक्त थम कर बैठ गया था और फिर ईंट-ईंट बिखेर के बाहर निकल गया था।

उनकी फिल्मों के मुकालमों (संवादों) की जबान समझ में नहीं आती थी, मगर तस्वीरों की बोली अच्छी तरह समझ लेता था। उनकी फिल्मों का हर फ्रेम जिंदगी से इतना करीब लगता था कि सांस लेता हुआ महसूस होता था।

उस जमाने में जब इमरजेंसी लग चुकी थी और बहुत-से पत्रकार इज्जत बचाने के लिए घरों में बैठ गए थे। मैं भी अखबार छोड़ चुका था और वक्त काटने के लिए अबरार अल्वी के पास चला जाता था।

उसी जमाने की बात है यानी अक्टूबर 1976 की जब शम्अ जैदी का फोन आया और उन्होंने कहा, 'ए जावेद! वे सत्यजित राय तुमसे मिलना चाहते हैं'

मैं हैरान हो गया, 'मुझ से? वे मुझे क्या जानें!'

'मुझे ये सब नहीं मालूम, प्रेसिडेंट में ठहरेंगे। परसों शाम को चार बजे मिल लेना।' उन्होंने

सूखा-सा जवाब दिया और फोन बंद कर दिया।

बात सोचने जैसी थी। राजा अदने आदमी से क्यों मिलना चाहेगा? शम्अ बीबी जरूर कोई शरारत कर रही हैं। मेरी अजीजतरीन दोस्त शम्अ जैदी बड़ी बा-कमाल खातून हैं। वे संजीदगी से झूठ बोलने और निहायत गैर संजीदगी से सच बोलने की सलाहियत रखती हैं। उनके चेहरे, आवाज या अल्फाज से ये पता लगा लेना कि उनके इरादे क्या हैं, निहायत मुश्किल, बल्कि नामुमकिन है। इसलिए जब फोन आया, तो यकीन करने से पहले देर तक सर खुजाना पड़ा। फोन क्या था, शम्अ ने ठहरे हुए पानी में पत्थर फेंक दिया था और मैं लहर-लहर पर परेशान हो रहा था।

फरीदा ने परेशानी की वजह सुनी, तो हँस पड़ीं, 'अरे तो इसमें हैरान होने की क्या बात है। तुम इतने अच्छे मजाहिया (हास्य) कॉलम लिखते हो, कोई पंसद आ गया होगा। फिल्म बनाना चाहते होंगे।'

शौहरों को बीवियों की खुशगुमानी आम तौर पर अच्छी लगती है। मगर मसला ऐसा था कि मैं झुंझला गया, तो उन्होंने कहा, 'ओफ्फो! इसमें इतना परेशान होने की क्या बात है। होटल में फोन करके देख लो, अगर रे साहब हैं, तो शम्अ सच बोल रही हैं और अगर नहीं हैं तो उनका जोक समझ के भूल जाओ।'

मश्वरा कुछ इस कदर सही था कि मैंने चुपचाप मान लिया और फोन किया तो मालूम हुआ कि रे साहब तशरीफ ला चुके हैं। फिलहाल रूम में नहीं हैं।

मैं और ज्यादा नर्वस हो गया। दिल के धड़कने की आवाज चारों तरफ से आने लगी, 'यार! ये चक्कर क्या है? मैं शम्अ से पूछना चाहता था, मगर उनका क्या भरोसा? डांट दें तो।

लेकिन एक बात साबित हो चुकी थी। वह शरारत नहीं कर रही थी। सत्यजित राय बंबई में थे, होटल प्रेसिडेंट में थे, कमरे में नहीं थे तो क्या हुआ?

शम्अ ने चार बजे का टाइम दिया था। मैं तीन ही बजे कोलाबा पहुंच गया, जहां प्रेसिडेंट है। देर तक लॉबी में घूमता रहा जहां चार पांच दुकानें थीं। जब फलोरिस्ट के हर फूल को देख चुका और कश्मीरी कालीनों के सारे डिजाइन याद हो गए, तो लॉबी के फोन से नंबर डायल किया। दूसरी तरफ से एक खरजदार मगर खुशगवार आवाज सुनाई दी। 'यस्स?'

मैंने अपना नाम बताया ही था कि आवाज आई, 'कम-अप!' और फोन बंद हो गया।

सत्यजित राय आलमी सिनेमा में बहुत ऊंचा मकाम रखते थे, मगर वह खुद भी उतने ऊंचे होंगे, मैंने कभी सोचा नहीं था। जब छह फीट चार इंच के रे साहब ने दरवाजा खोला, तो मेरा मुंह भी खुल गया और देर तक खुला रहा।

रे एक शानदार शख्सियत के मालिक थे। लंबे थे, मगर दुबले नहीं थे। सांवला रंग, कुशादा पेशानी, सलीके से जमे हुए बाल, बड़ी-बड़ी रौशन आंखें, ऊंची सुतवां नाक, मुस्कराते हुए होंठ, ठोड़ी जरा चौड़ी थी। कहा जाता है, ऐसी ठोड़ी वाले बहुत मेहनती और मुस्तकिल-मिजाज होते है।

मैंने आदाब किया। उन्होंने सर हिलाकर जवाब दिया और कुर्सी की तरफ इशारा किया। मैं कुर्सी के कोने पर टिक गया। वे बेड पर दीवार से पीठ लगाके बैठे और अपनी चमकती आंखों से जिनमें हल्की-सी मुस्कराहट भी थी, मुझे देखने लगे। चश्मे की डंडी उनके मुंह में थी जिसे वे धीरे-धीरे चबा रहे थे। वे तकरीबन एक मिनट तक बिना कुछ बोले मेरा जायजा लेते रहे फिर

इंग्लिश में पूछा, 'मैंने सुना है तुम बहुत अच्छी कहानियां लिखते हो?'

मैंने अर्ज किया, 'कहानियां कम, कॉलम ज्यादा लिखे हैं। पता नहीं, कैसा लिखता हूं। आप कहें तो अपनी कोई तहरीर तर्जुमा करा लूं। आप देख लें'।

उनकी मुस्कुराहट कुछ ज्यादा फैल गई, बोले, 'कोई जरूरत नहीं। मैं तुम्हें देख सकता हूं और इतना काफी है।'

ये कह कर वे उठे, तकिए पर रखा एक प्लास्टिक का फाइल उठाया और मेरी तरफ बढ़ाते हुए कहने लगे, 'ये मेरी फिल्म का स्क्रिप्ट है और तुम इसके डायलॉग लिख रहे हो।'

पता नहीं, मुझे क्या हुआ! दिमाग कई हजार मील फिट घंटे की रफ्तार से घूम गया। कुछ बोला ही नहीं गया। बड़ी मुश्किल से खुद को संभाला और हाथ में पकड़े फाइल पर नजर डाली तो सफेद प्लास्टिक में से मोटे-मोटे स्याह हुरूफ दिखाई दिए-फॉर योर आईज ओनली।

मगर आंखें थीं कि बंद हुंई जा रही थीं। बड़ी मुश्किल से कहा, 'Thank you sir, I am honored sir.'

वे उठे और दरवाजा खोल दिया, 'मैं तेहरान फिल्म फेस्टिवल में जा रहा हूं। वापसी पर तुम्हें फोन करूंगा।'

'जी', मैंने कहा और स्क्रिप्ट छाती से लगाकर भाग खड़ा हुआ। जब होटल की लॉबी में पहुंचा तो होश जरा ठिकाने आए।

ये हुआ क्या? मैं और डायलॉग! और वह भी सत्यजित राय की फिल्म के अरे बाप रे!

जेब में हाथ डाल कर पैसे गिने, तो हमेशा की तरह कम ही थे। मगर मैंने कल की नहीं सोची और कोलाबा से टैक्सी पकड़ी और जुहू तारा पहुंचा, जहां शम्अ रहती थीं। 25 मील लंबा रास्ता कट गया, मालूम ही नहीं हुआ, क्योंकि दिमाग कहीं और था। जेहन में सवालों की आंधी चल रही थी जिसमें जवाबों के पैर उखड़े जा रहे थे।

महमूद के कहने पर अबरार अलवी के लिखे सीन में काटछांट कर देना और जरूरत पड़ने पर एकाध सतर का पैबंद लगा देना एक अलग बात है और बाकाइदा मुकालमानिगारी (संवाद लिखना) करना अलग। अच्छा भी लग रहा था और डरता भी जाता था कि पता नहीं शम्अ ने कहां फंसा दिया है।

मैं पहुंचा तो वो मुस्करा रही थीं। उन्होंने अपनी खास अदा से पलकें झपका के पूछा, 'हो गई मुलाकात?'

मैंने स्क्रिप्ट उनके हाथ में थमा दिया, 'हो गई ये देखो और अब बताओ कि डायलॉग कैसे लिखते हैं?'

शम्अ ने बड़े अदब से फाइल को देखा। प्यार से उसके ऊपर हाथ फेरा और बोलीं, 'डोंट बी सिली! डायलॉग कौन-सा मुश्किल काम है।'

मैं भड़क गया, 'अरे यार, तुम भी कमाल करती हो प्रेमचंद की कहानी, सत्यजित राय का स्क्रीन प्ले अगर जरा-सी भूल चूक हो गई, तो लोग पकड़ के मारेंगे।'

'कोई नहीं मारेगा, कुछ नहीं होगा।'

किस्सा मुख़्तसर तय ये पाया कि हम दोनों मिलकर लिखेंगे। जबान मेरी, तज़्रिबा उनका। शम्अ को तज़्रिबा के साथ सलीका भी था। वे कुछ छोटी-मोटी फिल्मों और 'गर्म हवा' में अपना हाथ साफ कर चुकी थीं। मगर यहां खालिस उर्दू लिखनी थी। सबसे पहले हमने स्क्रिप्ट पढ़ा।

मानकदा ने (वह लोग जो सत्यजित राय के करीबी थे, मानकदा कहा करते थे। मानक उनका घरेलू नाम था) एक छोटी-सी कहानी को काफी फैला दिया था और उस वक्त की सियासत को बड़ी खूबसूरती से कहानी के अंदर ले आए थे। सबसे बड़ी खूबी ये थी कि उन्होंने अवध के आखिरी ताजदार वाजिद अली शाह का मजाक उड़ाने के बजाए उनकी कमजोरियों का जिक्र किया था, मगर उसे एक ऐसा बादशाह दिखाया था, जो अपनी कमजोरी की वजह से नहीं, बल्कि अंग्रेजों की मक्कारी की वजह से सल्तनत खो बैठता है।

हमारे सामने बड़ा मसला ये था कि अगर हम वही जबान लिखते हैं, जो उस वक्त राइज थी, तो आज के फिल्म देखने वाले समझ ही नहीं पाएंगे, क्योंकि मुहावरा बदल चुका है। अल्फाज और उनका इस्तेमाल भी वह नहीं है, जो था। चुनांचे हमने तय किया कि हम एक ऐसी जबान लिखेंगे, जो आसान और आमफहम होगी। मगर सुनते हुए ऐसा लगेगा जैसे वह डेढ़ सौ साल पहले की उर्दू है। हमने ये भी तय किया कि किरदारों की जबान मुख्तलिफ होगी और उसमें समाजी, कल्चरल और कारोबारी झलक दिखाई देगी।

अगर आप 'शतरंज के खिलाड़ी' के मुकालमों की जबान पर गौर करें, तो आपको एहसास होगा कि मीर और मिर्जा की जबान अलग है। वाजिद अली शाह के लफ्ज दूसरे हैं। इसमें ऐसी नग्मगी है जो बंदिश में आ जाए, तो ठुमरी मालूम होगी। दरबारियों की जबान पर फारसी का असर है, अवाम अवधी बोलते हैं और खवातीन कहावतों और मुहावरों से सजी हुई रवां-दवां बोली बोलती हैं। हमने कोशिश करके पूरी फिल्म में ऐसा कोई लफ्ज नहीं इस्तेमाल किया, जो कानों को बुरा या मालूम हो।

उर्दू का कमाल ये है कि इसमें एक ला-महसूस मूसीकी है। अगर कलम किसी जानकार के हाथ में है, तो लफ्ज नहीं, सुर बन जाते हैं। मेरे और शम्अ के जोश का आलम ये था कि अपना होश नहीं था। रोजाना बारह-चौदह घंटे काम करते, मगर जरा-भी थकान का एहसास नहीं होता।

स्क्रिप्ट धीरे-धीरे आगे बढ़ता गया और बहुत-से राजों से पर्दा भी उठता गया। मालूम हुआ कि सत्यजित राय तक मेरा नाम पहुंचाने वाली शम्अ ही थीं और इस सिफारिश के पीछे एक कहानी थी।

जब प्रोड्यूसर सुरेश जिंदल ने मानकदा को राजी कर लिया कि वे हिंदी या उर्दू में फिल्म बनाएंगे और उन्होंने प्रेमचंद की कहानी 'शतरंज के खिलाड़ी' का इंतिखाब किया, तो सवाल पैदा हुआ कि इसके मुकालमे (संवाद) कौन लिखेगा? हर अच्छे स्क्रीनप्ले की तरह 'शतरंज के खिलाड़ी' में भी मतलब और जरूरत को समझाने के लिए अंग्रेजी मुकालमे लिख दिए गए थे, मगर वे मुकालमे नहीं थे, वे तो इशारिए थे जिनकी मदद से उसी तारीखी फिल्म के मुकालमे लिखे जाने थे। सुरेश जिंदल का खयाल था कि शतरंज के खिलाड़ी के डायलॉग राजेंदर सिंह बेदी से बेहतर कोई लिख ही नहीं सकता। फिल्म के एक हीरो थे संजीव कुमार। वे चाहते थे कि गुलजार से लिखवाए जाएं, जो अपनी जुबान की सादगी और मिठास के लिए मशहूर हैं। मगर मानकदा के पुराने साथी और दोस्त आर्ट डायरेक्टर बंशीचंद्र गुप्त और शबाना की नजर में कैफी आजमी के अलावा कोई दूसरा इस फिल्म के साथ इंसाफ नहीं कर सकता। उम्मीदवारों में एक नाम और भी था अख्तरूलईमान का। उनका नाम शायद अमजदखां ने तज्वीज किया था जो वाजिद अली शाह का किरदार अदा कर रहे थे और अख्तर साहिब के दामाद थे।

मानकदा के सामने सारे नाम रखे गए। काफी मुबाहसे हुए, मगर उनकी राय सबसे अलग

थी। उन्होंने कहा, बेदी साहब और गुलजार साहब बहुत अच्छा लिखते हैं, मगर पंजाबी हैं और फिल्म का पस-मंजर लखनऊ है, जिसे वह नहीं जानते। अख्तरूलईमान इसलिए काबिले-कबूल नहीं थे कि मानक दा को बी.आर. चोपड़ा की फिल्मों जैसे संवाद नहीं चाहिए थे। ले-दे के रह जाते थे कैफी साहब। उर्दू दुनिया का बड़ा नाम, उत्तर भारत के रहने वाले और 'हीर-रांझा' और 'गर्म हवा' जैसी फिल्मों की मुकालमानिगारी का तजुर्बा भी रखते थे।

फैसला हुआ कि 'शतरंज के खिलाड़ी' के डायलॉग कैफी साहब लिखेंगे। चुनांचे एक मुलाकात का बंदोबस्त किया गया। मगर वह मुलाकात जिसे फिल्म और अदब का संगे-मील बनना था, बुरी तरफ फ्लाप हो गई, क्योंकि उसमें 'जबाने-यार मन तुर्की व मन तुर्की नमी दानम' वाली सूरते-हाल पैदा हो गई। कैफी साहब ने सारी जिंदगी उर्दू के इलावा किसी और जबान को मुंह नहीं लगाया था और सत्यजित राय बाबू बांग्ला और इंग्लिश के इलावा कोई और जबान न बोल सकते थे, न समझ सकते थे।

इस टेढ़े मस्अले के बहुत-से हल सोचे गए जिनमें से एक ये भी था कि शबाना तर्जुमान (प्रवक्ता) का काम करें। वह अपने अब्बा के लिए ये तकलीफ सहने को तैयार भी थीं, मगर रे साहब का कहना था कि राइटर और डायरेक्टर का रिश्ता मियां-बीवी के रिश्ते जैसा होता है और ये बिना-शिरकते गैर होना चाहिए। उन्होंने कहा, 'मुझे कोई नामवाला अदबी या फिल्मी राइटर नहीं चाहिए। नया आदमी भी चलेगा। बस उसे जबान आनी चाहिए''

और यही वह मौका था, जब शम्अ ने मेरा नाम लिया और बहुत-से लोगों के नाक भौं सिकोड़ने और शम्अ की नासमझी पर एतराज करने के बावजूद सत्यजित राय ने मुझसे मिलने का इरादा जाहिर किया।

ये पस मंजर (पृष्ठभूमि) था। पेश-मंजर ये था कि हम दोनों ने आठ ही दिन में सारे डायलॉग लिख डाले और एक दूसरे की खूब कमर ठोंकी, मगर दिल डर रहा था, क्योंकि असली इम्तिहान तो बाकी था। मानकदा के सामने पेशी

कोई दो दिन बाद वे तेहरान से लौटे, तो फोन किया, 'तुमने स्क्रिप्ट पढ़ लिया?'

'पढ़ लिया? सर हमने तो लिख लिया! मैंने खुश होकर कहा।

फ़ोन पर उनकी हँसी सुनाई दी, 'रियली? देट इज माइ स्पीड यंगमैन।'

तय पाया कि दो दिन बाद हम मिलेंगे और स्क्रिप्ट सुनाया जाएगा।

दो दिन बाद मैं और शम्अ होटल प्रेसिडेंट पहुंचे, तो हैरान रह गए।

कमरे में जलसा जमा हुआ था। फर्श के ऊपर दीवार से कमर टिकाए कोई आधा दर्जन बुजुर्ग तशरीफफर्मा थे। उनमें से कुछ लोगों को मैं जानता था। कुछ सूरत-आशना थे। प्रोफेसर निजामुद्दीन सेंट जेवियर में उर्दू-फारसी डिपार्टमेंट के हैड थे। एक साहब अंजुमने-इस्लाम रिसर्च इंस्ट्टियूट के निगरां थे। एक और बुजुर्ग एक अदबी रिसाले के एडिटर थे। बाकी हजरात भी कुछ इसी कबील के थे। उर्दू के उन माहिरीन की सूरत देखते ही समझ में आ गया कि इन लोगों को मेरी और शम्अ की काबिलियत जांचने के लिए बुलाया गया है। मानकदा बेड पर बैठे थे और उनके पास ही सुरेश जिंदल और बंशीचंद्र गुप्त विराजमान थे।

मुझसे जर्नलिज्म छूट चुका था, मगर उसकी आदतें नहीं छूटी थी। ये बुरी आदत अब तक है कि किसी से डरता नहीं हूं। अच्छा सहाफी वही होता है, जो अमीरों-वजीरों तक को खातिर में नहीं लाता और खतरों में बेखतर कूद पड़ता है।

मैंने भी एक कोना पकड़ा। फाइल खोलकर इस तरह सामने रखा जैसे मीलाद पढ़ने का इरादा हो। शम्अ मेरे बराबर बैठ गईं। मैंने एक बार मानकदा की तरफ देखा जिनकी आंखों में ऐसी चमक थी जैसे बच्चे को मुंह मांगा खिलौना मिलने वाला हो और चश्मे की कमानी मुंह में थी।

मैंने पहले सीन से लेकर आखिरी डायलॉग तक पूरा स्क्रिप्ट इस तरह सुनाया कि गला गीला करने के लिए भी नहीं रुका।

कोई डेढ़ घंटे बाद जब फाइल बंद हुई तो कमरे में अजीब तरह का सन्नाटा था। हाजिरीन की सोचती, तौलती आंखें मेरे और शम्अ के ऊपर जमी हुई थीं। थोड़ी देर बाद सबसे पहली आवाज मानकदा की सुनाई दी। एक हल्की-सी हँसी के साथ उन्होंने कहा, 'आई डोंट नो व्हाट ही हैज रिटेन, बट इट्स साउंड्स गुड।'

कुछ बुजुर्गों ने तब्सिरे और कुछ ने सवाल किए। बंशीचंद्र गुप्त ने जो बहुत अच्छी उर्दू जानते और बोलते थे, पूछा, 'आपने एक जगह लिखा है, तड़के चलेंगे झुटपुटे में लौट आएंगे। क्या लोग इसे समझ पाएंगें?' मैंने अर्ज किया, 'कहना ये है कि सुब्ह को चलेंगे, शाम को लौट आएंगे।' इस डायलॉग में सुबह-शाम भी इस्तेमाल हो सकते थे। ये भी कहा जा सकता था कि सवेरे चलेंगे, रात को लौट आएंगे। लेकिन तड़के और झुटपुटे इसलिए इस्तेमाल किया है कि उस जमाने की जबान का मुहावरा सुनाई दे सके। कान को जरा-सा अजनबी लगता है, मगर अच्छा लगता है और मतलब तो समझ में आ ही जाता है।''

मुख्तसर ये कि मैं और शम्अ बहुत अच्छे नंबरों के पास हो गए। सुरेश जिंदल ने भी तरह-तरह से इत्मीनान करने के बाद सब्र व शुक्र से काम लिया और दो नए लोगों को कबूल कर लिया। और मुझे ये खुशखबरी सुनाई कि मैंने जो कारनामा अंजाम दिया है, उसके लिए इज्जत व शुहरत के अलावा पंद्रह हजार रुपये भी मिलेंगे। शम्अ चूंकि फिल्म के कॉस्ट्यूम्स भी कर रही थीं, इसलिए उनका मुआवजा क्या था, मुझे मालूम नहीं।

स्क्रिप्ट मिलने के बाद मानकदा की पहली फरमाइश ये थी कि मुकालमों का हर्फ बः हर्फ तर्जुमा इंग्लिश में किया जाए और उनको भेजा जाए ताकि उन्हें अंदाजा हो सके कि हम लोग उनके स्क्रीन प्ले से कितने दूर या करीब हैं। ये काम शम्अ ने फौरन कर दिया। उनकी इंग्लिश माशाअल्लाह मेरी उर्दू से भी अच्छी है।

उसके बाद मेरी बारी आई। मानकदा उर्दू मुकालमों का एक-एक लफ्ज बांग्ला लिपि में लिखते और फिर बोल कर देखते। मैंने वजह पूछी तो फरमाया, 'जबान कोई भी हो, लफ्जों की अपनी मूसीकी होती है। ये मूसीकी सही होनी चाहिए। अगर एक सुर गलत लग जाए, तो पूरा सीन बेमानी हो जाता है।' ये सुब्हानअल्लाह!

यहां तक सब खैरियत थी कि अचानक मानकदा ने कलकत्ते से फोन किया और बोले 'तुम्हारे डायलॉग मेरी समझ में तो आ गए, मगर एक्टरों को कौन समझाएगा कि बोलना कैसे है?'

मस्अला टेढ़ा था। मैं परेशान होने लगा तो उन्होंने हल भी निकाल दिया, 'तुम कोई दूसरा काम नहीं कर रहे हो, तो डायलॉग-डायरेक्शन भी संभाल लो।'

मैंने सोचने की मुहलत मांगी, मगर दूसरे दिन प्रोड्यूसर ने बताया कि डायलॉग डायरेक्शन के पंद्रह हजार रुपये और मिलेंगे, तो न कहने की कोई गुंजाइश ही नहीं बची। और मैं कलकत्ते

पहुंच गया और मानकदा के सलाम को हाजिर हुआ।

मानकदा बिशप रोड पर एक फ्लैट में रहते थे। लकड़ी के ऊंचे दरवाजे से घर के अंदर आओ, तो एक हॉल जैसा था जिसमें कुछ सोफे, कुछ कुर्सियां, किताबों की अलमारी, शेल्फ पर कुछ ट्राफियां और एक पियानो आंखों का इस्तकबाल करता था। कमरे के आखिरी सिरे पर बड़ी-बड़ी खिड़कियों के पास, जो सड़क की तरफ खुलती थी, मानकदा एक आराम कुर्सी पर नीम दराज होते थे। आम तौर पर घुटना टेढ़ा करके उस पर राइटिंग पैड रख लिया करते थे और कलम फर्राटे भरता होता था।

घर की हर चीज में सलीका और नफासत दिखाई देती थी। मेरा खयाल है, इस खुश मजाकी की जिम्मेदार मानकदा से कहीं ज्यादा 'बोदी' (बहू दीदी) यानी मिसेज रे थीं। बड़ी ही प्यारी और मुहब्बत करने वाली खातून थीं। जब भी मिलती थीं, एक बेहद मासूम मुस्कराहट चेहरे पर फैल जाती और हाथ तो इतने प्यार से फैलते थे, बेसाख्ता गले लग जाने को जी चाहता था।

सत्यजित राय को सत्यजित राय बनाने में बोदी की बेलौस मुहब्बत और अपने मानक की सलाहियत पर यकीन ने बेमिसला किरदार (रोल) अदा किया है। कहा जाता है कि 'पथेर पंचाली' आधे में ही बंद हो गई थी, क्योंकि पैसे खत्म हो गए थे। उस वक्त बोदी ने अपने सारे जेवर गिरवी रखकर कहा था, 'जेवर तो जब चाहो, बन सकते हैं, पथेर पंचाली बार-बार नहीं बन सकती!'

कलकत्ता मेरे लिए नया नहीं था। पहले भी कई बार आ चुका था, मगर वह शहर मुझे कभी पंसद नहीं आया। जिधर देखो, एक तरतीब हुजूम दिखाई देता था। बिल्कुल ऐसा लगता था जैसे किसी ने कोई पुराना पत्थर हटाया हो और नीचे से लाखों चिउंटियां बिलबिलाकर बाहर निकल आयी हों। अब इसे वक्त की सितमजरीफी ही कहिए कि कुछ दिन बाद चिउंटियों के इस बेतरतीब हुजूम में मैं और शम्अ भी शामिल हो गए।

हुआ यूं कि कलकत्ता पहुंचकर स्टुडियो में कदम रखा, तो एक अजीब मंजर नजर आया। आर्ट डिपार्टमेंट के लोग और मानकदा के कुछ असिस्टेंट मीर और मिर्जा के घरों के लिए प्रॉपर्टी जमा कर रहे थे। और सख्त परेशान थे, क्योंकि किसी को नहीं मालूम था कि जो सामान इकट्ठा किया गया है, वह गलत है या सही! उन लोगों के लिए जिन्होंने लखनऊ कभी देखा भी न हो, हजार मील दूर बैठकर डेढ़ सौ बरस पुरानी तहजीब को जिंदा करना चराग से जिन्न निकालने के बराबर था। सामान सब था, मगर ज्यादातर गलत था। मिसाल के तौर पर पानी के लिए मिट्टी के बर्तन मंगा लिए थे, मगर वह घड़े नहीं थे, बड़े मुंह वाले मटके थे। यू.पी. के घड़े इतने छोटे मुंह के होते हैं कि हाथ फंस जाता है। मैंने सोचा, डायलॉग डायरेक्शन तो तब होगी जब शूटिंग शुरू होगी। अभी तो इंद्रपुरी स्टूडियोज में लखनऊ बनाने का काम शुरू कर देना चाहिए। चुनांचे मैंने आस्तीन चढ़ाई और हमला बोल दिया। घड़े तो मिल गए, उनको रखने के लिए लकड़ी की घड़ौंची बनवाई। मुंह पर बांधने के लिए लाल कपड़ा मंगवाया, मगर तांबे या चांदी के नक्शीं कटोरे नहीं मिले।

मानकदा आए और मुझे मिट्टी के तेल और कोयले की राख से बर्तनों को चमकाते देखा, तो हंस पड़े, ये क्या हो रहा है? उन्होंने पूछा।

'मैं बेकार नहीं बैठ सकता सर!' मैंने जवाब दिया। उन्होंने मेरा कंधा थपथपाया और बोले, 'स्पेशल प्रॉपर्टी की लिस्ट शम्अ के पास है, तुम चाहो तो शम्अ की मदद कर सकते हो।' चुनांचे

हम दोनों ने कलकत्ता के गली-कूचों की खाक छानना शुरू कर दी।

जिस जमाने में शम्अ और मैं फिल्म के लिए सामान जमा करते घूम रहे थे, मानकदा के नाम का वही असर होता था, जो किसी मंत्र का होता है। हर दरवाजा खुल जाता था और दीदः और दिल फर्श-ए-राह हो जाते थे। बंगाल के पुराने रईस अपनी आलीशान हवेलियों में गुजरी हुई अजमत की ऐसी-ऐसी नायाब निशानियां छुपाए बैठे थे कि देखकर हैरत होती थी। मैं समझता था कि अपनी तहजीब को बचाने और बचाए रखने का काम जैसे उत्तर भारत वालों ने किया, वैसा कहीं नहीं हुआ, मगर कलकत्ता पहुंचकर अंदाजा हुआ कि बंगाल किसी तौर से पीछे नहीं, बल्कि कुछ आगे ही है। वहां कैसे-कैसे शौकीन रईस थे और इसका अंदाजा सिर्फ एक मिसाल से लगाया जा सकता हैं।

हमें एक कलमदान की जरूरत थी। पता चला कि एक बंगाली रईस हैं जो बंदूकें बेचते हैं, मगर नायाब चीजें जमा करने के शौकीन भी हैं। सत्यजित राय का नाम सुना, तो खुद अपनी 'बारी' (हवेली) पर ले गए और अपने खजाने का दरवाजा खोल दिया। दीगर नायाब चीजों का जिक्र तो जाने दीजिए, कलमदानों, कलमों और दवातों का जखीरा देखकर आंखें इस तरह खुलीं कि झपकना भूल गईं। चांदी से लेकर हाथी दांत और संदल के कलमदान थे। पर के कलम से लेकर नैजे और निब वाले होल्डर भी थे और दवातें तो अल्लाह की पनाह इतनी थीं कि हिसाब करने में स्याही कम पड़ जाए। सोने, चांदी और कांच से लेकर लकड़ी और मिट्टी की दवातें हर साइज और हर डिजाइन में मौजूद थीं।

मुझे एक दवात आज तक याद है। शीशे को तराश के कमरख की शक्ल दी गई थी। खाली देखो तो आरपार बिल्कुल शफ्फाफ दिखाई देती थी, मगर रौशनाई डालो तो पंजतन पाक(पांच पवित्र इस्लामीनाम) के नाम नजर आने लगते थे। उनकी मक्बूलियत का आलम ये था कि हर आदमी दीदः और दिल फर्श-ए-राह कर दिया करता था। फिल्म के आखिरी सीन में जब मिर्जा मीर पर गोली चलाता है और गोली शॉल को छूती हुई निकल जाती है, उसमें जो शॉल इस्तेमाल की गई है, वह एक बेहद कीमती शॉल है जिसकी कीमत उस जमाने में तीस-चालीस हजार रुपये थी। मगर मानक दा की मुहब्बत में उस शॉल के मालिक सेठ केजरीवाल गोली का निशान। दिखाने के लिए उस शॉल में सुराख किए जाने पर भी आमादा हो गए थे। ये अलग बात है कि बाद में उस सुराख को रफू कर दिया गया और शॉल पे कोई निशान भी न रहा लेकिन केजरीवाल की अकीदत का निशान आज भी बाकी है।

('नया वर्क' मुंबई से साभार)

(अनुवादक सुप्रसिद्ध कथाकार और उर्दू साहित्य के मर्मज्ञ हैं)

ऋत्विक घटक सा दूसरा न कोई

सुरेंद्र तिवारी

प्रख्यात कथाकार सुरेंद्र तिवारी आज हमारे बीच नहीं हैं। पिछले दिनों मई, 2013 में दिल्ली में उनका निधन हो गया। उन्होंने यह टिप्पणी अपनी मृत्यु से दो माह पहले सिनेमा विशेषांक के लिए भेजी थी। हम उनकी यह टिप्पणी आदरांजलि स्वरूप प्रकाशित कर रहे हैं।

कोलकाता के भवानीपुर इलाके में जिस मकान में मैं रहता था, उसके ठीक सामने बांग्ला-हिंदी फिल्मों के प्रसिद्ध अभिनेता उत्तम कुमार रहते थे, बांग्ला सिनेमा के लिए तो उनकी जो लोकप्रियता थी, अमिताभ बच्चन से कम नहीं थी। उनका बेटा गौतम मेरा दोस्त था और उससे मिलने, उसके साथ कैरम आदि खेलने के लिए अक्सर मैं उस घर में जाया करता था। उत्तम कुमार की पत्नी गौरी देवी भी बहुत दयालु और मिलनसार तबीयत की थीं। गौतम बड़े बाप का बेटा था इसालिए घर से बाहर निकलकर उसका खेलना-कूदना कम ही होता थां गौरी देवी शायद इसी कारण चाहती थीं कि मैं उसके साथ जरूरत से ज्यादा रहूं। उसके और भी एक-दो बंगाली मित्र थे, जो आते रहते थे। वहीं, उस घर में मैंने एक दिन एक फिल्म देखी, 'मेघे ढाका तारा' (बादलों से ढका तारा) जिसे ऋत्विक घटक ने निर्देशित किया था। उत्तम कुमार अपने 16 एम. एम. के प्रोजेक्टर पर अपने दो-चार साथियों के साथ उस फिल्म को देख रहे थे। घर में उस फिल्म को वे क्यों देख रहे थे, मुझे नहीं पता, किंतु मैं भी वहीं बैठकर फिल्म देखने लग गया था चुपचाप। मैं तब तक बांग्ला भाषा का अच्छा ज्ञाता हो चुका था और बांग्ला फिल्में भी लगातार देखता था। उत्तम कुमार तो अपनी फिल्मों के 'पास' ही दे दिया करते थे, हॉल में जाकर मुफ्त में फिल्म देखो। खैर, मुख्य बात यह है कि ऋत्विक घटक की वह पहली फिल्म मैंने देखी थी और फिल्म जब खत्म हुई तो मैं कुछ अभिभूत सा ही था। उनकी चर्चा तो कई बार मैंने सुनी थी, हिंदी फिल्म 'मधुमती' की पटकथा भी उन्होंने लिखी थी, यह भी मुझे पता था, परंतु उनके द्वारा निर्देशित फिल्म पहली बार मैंने देखी थी और मन में यह आकांक्षा प्रबल हो रही थी कि कभी ऋत्विक घटक से मिलूं।

बाद में गौतम ने ही बताया था, ऋत्विक अंकल की फिल्में पापा को बहुत पसंद हैं। सिनेमाघर में जाकर तो देख नहीं पाते, जब मौका मिलता है, घर में ही देख लेते हैं। गौतम ने ही बताया था कि हमारे घर के पीछे वाली जो सड़क है, वहीं उनका मकान है। बाहर लोहे का बड़ा गेट लगा हुआ है। तब मैं कालेज में दूसरे वर्ष का छात्र था, कुछ कहानियां वगैरह अवश्य छप चुकी थीं, किंतु ऋत्विक घटक जैसे आदमी के सामने जाने के लिए इतना ही पर्याप्त नहीं था।

अब होता यह था कि मुझे कहीं भी आना-जाना होता, मैं उस सड़क से एक बार जरूर निकलता, जिधर उनका घर था। सिर्फ एक ही मकान ऐसा था, जिसके सामने लोहे का बड़ा

गेट था और फिर भीतर जाकर मकान। यही उनका घर था, यह तो मैं समझ गया था। वहां जाकर, घर के सामने मैं कुछ देर तक खड़ा रहता, परंतु निराशा ही हाथ लगती। किंतु कहते हैं न, सच्ची श्रद्धा हो तो भगवान भी मिल जाते हैं, यह कहावत उस दिन मेरे साथ बिल्कुल चरितार्थ हुई जब ऋत्विक घटक को एक दिन उस गेट के बाहर मैंने खड़ा देखा। मैं उन्हें जानता-पहचानता नहीं था, फिर भी मुझे लगा कि ये ही हैं ऋत्विक घटक। उस वक्त शाम की स्याही फैल रही थी, सड़कों पर स्ट्रीट लाइट की रोशनी फैल चुकी थी। मैंने देखा, वे कुछ उकताए से खड़े हैं और इधर-उधर देख रहे हैं। छह फुटा शरीर सफेद कुर्त्ता-पायजामा और पैरों में चप्पल। पायजामा घुटनों से कुछ ही नीचे तक था आंखों पर चश्मा। कुछ अजीब-सा व्यक्तित्व। मेरे अंदर साहस नहीं हुआ कि मैं उनसे कुछ कह-पा सकूं, बस सहमा-सहमा-सा उनके सामने से उजरने लगा ताकि कुछ और पास से उन्हें देख सकूं। अचानक ही उन्होंने मुझे बुला लिया-'ऐ खोका सुन।' (ऐ बेटा, सुनो) मैं रूक गया और फिर उनके पास आ खड़ा हुआ-'बोलून' (बोलिए) 'कोथाय थाकिस?' (कहां रहते हो?), मैंने उन्हें पता बताया तो कुछ अचरज से बोले, बांग्ला में ही, 'अरे, ये तो सामने ही है, तब तो तू मेरा एक काम कर दे। मैं तब से साला किसी रिक्शेवाला को खोज रहा हूं, नहीं आ रहा है.....अब इतनी दूर पैदल तो जा नहीं सकता.... तू गाजा पार्क जानता है न?'

'जी हां।' मैंने कहा। इस इलाके में गाजा पार्क मशहूर जगह है। उसके पास ही देसी शराब का एक ठेका है, जहां शाम के वक्त काफी भीड़ लगी रहती है। छोटा-सा एक पार्क है, पर उसका नाम गाजा पार्क क्यों पड़ा, यह किसी को नहीं पता। शराब पार्क होता तो समझ में भी आता।

'ये ले बीस रुपये....। उन्होंने जेब से बीस रुपये निकालकर मुझे देते हुए कहा, 'गाजा पार्क के पास जो ठेका है, वहां जाकर कहना-घटक मोशाय ने मांगा है, वह दे देगा। मुझे लाकर दे देना, मेरे घर में।' मैं एकदम स्तब्ध, हतप्रभ खड़ा था-शराब की दुकान में जाकर शराब खरीदना तो दूर, मैं तो तब शराब की दुकान के सामने से भी नहीं गुजरता था। मुझे रुपये देने के बाद के फिर बोले- 'पालिए जाबी ना तो?' (भाग तो नहीं जाएगा?), और फिर जोर से हँस पड़े-'जा, जा, तेरे घर का पता मुझे याद है।' उन्होंने मेरे कंधे पर अपना हाथ रखा और फिर मुस्कराते हुए गेट के अंदर चले गए।

अब यह अजीब मुसीबत थी मेरे लिए जिससे मिलने के लिए मैं इतना आतुर थ, उससे इस रूप में मुलाकात होगी, इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। मेरे पैर न आगे बढ़ रहे थे न पीछे हट रहे थे। अगर शराब खरीदते हुए किसी ने मुझे देख लिया और घर तक बात पहुंच गई तो मेरी क्या दुर्गति होगी, यह मैं ही जानता था। किसी से भी कहता कि मैं ऋत्विक घटक के लिए शराब खरीदने गया था तो भला कौन विश्वास करता।

खैर, किसी तरह कांपते पैरों मैं दुकान में पहुंचा और बीस रुपये दुकानदार की ओर बढ़ाते हुए मैंने कहा घटक साहब ने मंगाया है। दुकानदार ने कुछ आश्चर्य और हैरानी से मेरी तरफ देखा, फिर एक बोतल निकालकर, कागज में लपेटकर मुझे दे दिया। लौटते हुए मैंने देखा, गाजा पार्क में पीने वालों की अच्छी-खासी भीड़ इक्ट्ठी है। तब पार्को में बैठकर पीने की कोई मनाही नहीं थी। पास में ही चनेवाले, नमकीन मूंगफली वाले चाटवाले, खोमचे सजाए खड़े थे, जिनके आसपास भी काफी लोग थे। मैं सहमे-सहमे कदमों से ही चलते हुए वापस लौटा, लोहे का गेट खुला ही था, भीतर घुसा, मकान के भीतर जानेवाला दरवाजा बंद था, उसे खटखटाया तो एक

बूढ़ा-सा नौकर बाहर आया- 'साहबेर जिनिस?' (साहब का सामान है?)! उसने पूछा और मेरे सिर हिलाने पर उसने पैकेट मेरे हाथ से ले लिया, 'ठीक है, मैं दे दूंगा, तुम जाओ।' मैं वापस मुड़ने लगा था कि तभी भीतर से आवाज गूंजी-'के रे? सेई छेलेटा ना कि?' (कौन है रे वही लड़का है न क्या?) और नौकर के हां करने पर बोले, 'उसे भीतर ले आ।'

और मैं भीतर था, उनके सामने। बोले बैठो।'

कमरे में बहुत ज्यादा सामान नहीं था। वे खुद पलंग पर लेटे थे। सामने ही दो-तीन कुर्सियां रखी थीं, उन्हीं में से एक पर मैं बैठ गया। सामने की दीवार पर देखा एक फोटो लटकी थी, एक औरत और तीन बच्चे। कुछ और भी इसी तरह की तस्वीरें लटकी हुई थीं। इसी बीच नौकर एक गिलास और वह बोतल उनके सामने रख गया। एक जग में पानी भी। गिलास में शराब डालते हुए बोले, 'तुम तो नहीं पीते हो न? अभी तो बच्चे हो पर आज कल के बच्चे....खैर, कोशिश करना, शराब से बचकर रहो, बहुत खराब चीज है....खैर, कोशिश करना, शराब से बचकर रहो, बहुत खराब चीज है.....साली एकदम नकारा बनाकर छोड़ देती है.....लेकिन मेरी तो 'हैबिट' हो चुकी है, क्या करूं?' वे थोड़ा गंभीर हो आए, फिर कुछ रुककर बोले, चा खाबे?' (चाय पियोगे?' मैने सिर हिलाकर ना कर दिया तो वे फिर कुछ बोले नहीं अपने गिलास को उठाकर उसे देखने लगे।)

मुझे लगा कि अब मुझे उठ जाना चाहिए। मैं उठ खड़ा हुआ तो बोले, 'जाओगे 'अच्छा, फिर आना...पास में ही तो रहते हो...कभी कभी मेरे लिए बोतल तो ला ही सकते हो....यह बूढ़ा जाता है तो उधर ही सो जाता है....तीन चार घंटे में लौटता है...बांग्ला फिल्म देखते हो? मेरे साथ चलना रालीगंज, मैं तुम्हें स्टुडियो दिखाऊंगा, हीरो-हीरोइन से मिलाऊंगा...'

मैं नमस्ते करके जल्दी से बाहर निकल आया। रास्ते भर सोचता रहा-अजीब सनकी आदमी है, पहली मुलाकात में ही बोतल मंगा लिया। क्या शराब पीकर ही फिल्में बनाता है? मेघ ढाका तारा' जैसी फिल्म बनाने वाला ऋत्विक घटक क्या यही है, या मैं कहीं गलत जगह पहुंच गया था? हजारों प्रश्न मेरे मन में उमड़ते रहे थे। फिर घर में कोई नहीं, एक नौकर के सिवा! पत्नी बच्चे क्या कोई नहीं? फिर वह फोटो किसकी थी-एक औरत और तीन बच्चे।

मैं जानबूझकर उस रास्ते से कई दिनों तक नहीं गया। यह नहीं कि मिलने की उत्सुकता खत्म हो गई थी, बल्कि मैं डर गया था। एक दिन की बात अलग थी, रोज-रोज मैं शराब की दुकान में नहीं जा सकता था। इस बीच एक-दो बार गौतम से मुलाकात हुई थी, उससे उनके बारे में पूछना भी चाहा था, पर पूछ न सका। पता नहीं गौतम भी क्या सोचे। पर फिर वही संयोग। एक दिन शाम को गाजा पार्क के सामने से मैं यूं ही कहीं जा रहा था। कि देखा किसी दोस्त या अपने भक्त के साथ वे पार्क के भीतर ही बैठे हैं और दोनों के हाथ में गिलास है। गिलास भी दुकानदार से ही ली होगी। उन्हें भला मना कौन करता, और फिर वे तो शायद यहां के नियमित ग्राहक थे। उनकी नजर भी मुझ पर पड़ गई थी और हाथ के इशारे से उन्होंने मुझे बुलाना शुरू कर दिया था। मैं हिचका, पर उनकी अवमानना करके जा भी नहीं सकता था। मैं उनके पास पहुंचकर दोनों को नमस्ते कर, उनके पास ही घास पर बैठ गया। वे अपने साथी से बोले, 'बहुत अच्छा लड़का है, मेरे घर के पास ही रहता है, पर शराब नहीं पीता' और हँस पड़े। दूसरे आदमी ने मेरे चेहरे को ध्यान से देखा फिर बोला, 'शायद इनको उत्तम बाबू के घर में भी एक-दो बार देखा है।' 'अच्छा।' ऋत्विक ने मेरी तरफ हँसती आंखों से देखा-'तो उस

घर में भी तेरा आना-जाना है? फिल्मों में आने का शौक है क्या?' मैं कुछ अचकचाए स्वर में बोला, 'जी ऐसा कुछ नहीं है...गौतम मेरा दोस्त है, इसलिए....' 'भालो, भालो, खूब भालो।' एक घूंट भरने के बाद बोले, 'स्टूडियो देखेगा? कल दस बजे मेरे पास आना, रालीगंज ले आएगा तुमको, इनकी नई फिल्म का मुहुर्त है....ठीक है? अच्छा, अब तुम जाओ।'

मैं दोनों को नमस्ते कर पार्क से बाहर निकल आया। उनकी विचित्रताओं से मैं और अधिक विस्मित हो रहा था। एक अजनबी लड़के पर विश्वास करना, फिर उसे आत्मीयता देना. ...और इस तरह अपनी सारी महानता, उपलब्धियां और बड़प्पन को भूलकर एक साधारण आदमी की तरह एक पार्क में बैठकर शराब पीना.....।

दूसरे दिन मैं अपने को रोक नहीं पाया था। उनके साथ स्टूडियो गया-टैक्सी में। स्टूडियो के गेट पर पहुंचकर, टैक्सी से उतरकर, मुझे साथ लेकर वे सीधे भीतर चले आए थे। टैक्सी का भाड़ा किसने दिया, पता नहीं। निश्चित रूप से पहले से ही कुछ तय होगा, या जो सज्जन कल मिले थे, उन्होंने ही टैक्सी भेजी होगी। वह फिल्म कौन सी थी यह तो मुझे याद नहीं पर उसमें सौमित्र चटर्जी नायक थे और उन्होंने ही पूजा के बाद नारियल तोड़ा था। ऋत्विकदा ने मुहुर्त शॉट को खुद कैमरे में बंद किया था।

और इसके बाद ऋत्विकदा के घर में मेरा आना-जाना शुरू हो गया। मैं उन्हें 'दादा' कहकर ही पुकारता था हालांकि वे मेरे पिता से भी उम्र में बड़े थे। उन्हें पढ़ने का शौक था और तरह-तरह की किताबें उनके घर में थी। बंगालियों के घर में पुस्तकों का न होना ही आश्चर्य की बात है, होना नहीं। फिर वे तो साहित्य और कला से जुड़े व्यक्ति थे। फिल्म कला से संबंधित पुस्तकों के अलावा बांग्ला और अंग्रेजी के बड़े-बड़े साहित्यकारों की कृतियां भी उनके पास थीं। मैं तब नेशनल लाइब्रेरी का सदस्य था, और जब उन्हें यह ज्ञात हुआ तो वहां से भी अपनी पसंद की पुस्तकें कई बार मंगा लेते। पढ़ने के प्रति उनका जो रुझान था, वह परंपरागत बल्कि संस्कारगत ही था। उनके पिता सुरेशचंद्र घटक जिलाधीश होने के साथ ही कवि और नाटककार भी थे। मां इंदुबाला देवी भी शिक्षित नारी थीं। ये अपने मां-बाप की ग्यारहवीं संतान थे, हालांकि इनकी बहन प्रतीति जुड़वां थी पर इनसे कुछ मिनट पहले वह पैदा हुई थी, इस तरह ये सबसे छोटे थे। मूलतः ढाका (अब बांग्लादेश) के रहने वाले थे किंतु 1943 के विनाशकारी अकाल और 1947 के बंगाल विभाजन के कारण ढाका से इन लोगों को पलायन करना पड़ा था। अन्य हजारों शरणार्थियों के साथ घटक-परिवार भी कलकत्ता पहुंचा था। शरणार्थी जीवन का उनका अनुभव और बंटवारे का दर्द उनके काम में बखूबी नजर आता है। 1971 का 'बांग्लादेश मुक्ति संग्राम' ने भी, जिसके कारण और अधिक शरणार्थी भारत आए, उनके कार्यों को समान रूप से प्रभावित किया।

कलकत्ता आने के बाद सुरमा देवी से इनका परिचय हुआ, जो एक स्कूल में अध्यापिका थीं। दोनों का परिचय प्रेम में बदला और फिर इन्होंने शादी कर ली। तीन बच्चों के पिता भी बने ये- पुत्र रित्बान और दो बेटियां, संघिता और शुचिस्मिता। रित्बान अब खुद फिल्में बनाते हैं और 'ऋत्विक मेमोरियल ट्रस्ट' के संरक्षक भी हैं। ऋत्विक के बड़े भाई मनीष घटक कट्टरपंथी लेखक, अंग्रेजी के प्रोफेसर और सामाजिक कार्यकर्ता थे, जो इप्टा रंगमंच आंदोलन में गहरे रूप से शामिल थे और बाद में उन्होंने उत्तर बंगाल के तेभागा आंदोलन का नेतृत्व भी किया था। सुप्रसिद्ध लेखिका महाश्वेता देवी इन्हीं मनीष घटक की पुत्री हैं।

ऋत्विकदा का एक भरा-पूरा परिवार था किंतु पति-पत्नी के बीच बहुत जल्द ही मतभेद उभरने लगे, लड़ाई-झगड़े शुरू हो गए। ऋत्विक घटक की शराबखोरी कलह का मुख्य कारण बनी। ओर एक दिन सुरमा देवी अपने, तीनों बच्चों को साथ लेकर, यह कहकर कि तुम्हारे साथ रहकर इन बच्चों का भविष्य भी बिगड़ जाएगा, अपने मायके चली गईं। पति के अनुनय के बावजूद वे वापस न लौटीं और इस तरह दोनों हमेशा के लिए एक-दूसरे से अलग हो गए। ऋत्विक शराब तो पहले से ही पीते थे, किंतु इस सदमे ने उन्हें दिन-रात शराब में डूबो दिया। यही नहीं, यह सदमा इतना भयंकर सिद्ध हुआ कि वे मानसिक रूप से विक्षिप्त हो उठे और काफी समय तक उन्हें एक मानसिक चिकित्सालय में रहना पड़ा। तब उनका फिल्मी जीवन समाप्तप्राय मान लिया गया था। तब यथार्थवादी बांग्ला फिल्मों के क्षेत्र में सत्यजित राय के बाद किसी का नाम आता था तो ऋत्विक घटक का, किंतु उनकी विक्षिप्तता ने लोगों को यह सोचने पर मजबूर कर दिया कि अब दुबारा फिल्मी दुनिया में उनका लौटना संभव नहीं। परंतु ऐसा नहीं हुआ। धीरे-धीरे वे ठीक हुए और उनका आत्मविश्वास भी लौटा। स्वस्थ होने के कुछ समय बाद ही एक बांग्लादेशी निर्माता ने उन्हें एक फिल्म निर्देशित करने के लिए तैयार कर लिया और वह फिल्म थी-'तितास एकटी नदीर नाम'। इस फिल्म ने उनकी ख्याति में फिर चार चांद लगा दिए। इसके बाद उन्होंने एक और फिल्म बनाई, जो उनकी अंतिम फिल्म सिद्ध हुई- 'जुक्ति, तोक्को आर गप्पो' (युक्ति, बहस और कहानी)। यह एक आत्मकथात्मक फिल्म थी जिसमें नायक नीलकंठ की मुख्य भूमिका भी उन्होंने ही निभाई थी।

वास्तव में इस फिल्म में उनका जीवन साक्षात् हो उठा था। नायक नीलकंठ की पत्नी जब उसे छोड़कर चली जाती है तब वह शराब में किस तरह डूब जाता है, इसे ऋत्विक ने अपने अभिनय से यथार्थ के धरातल पर उतार दिया था। किसी भी दृश्य को वास्तविक और प्रभावशाली बनाने के प्रति वे कितने सचेत रहते थे, यह फिल्मों से जुड़े सभी लोग जानते हैं। परंतु यहां, एक दृश्य की शूटिंग के समय उनकी जो यथार्थवादी दृष्टि रही, उसका वर्णन मैं अवश्य करना चाहूंगा। दृश्य है- 'अकेलेपन से उकताया नीलकंठ अपना घर छोड़कर कहीं और जा रहा है, पर जाने से पहले बाहरी गेट पर पहुंचकर वह अंतिम बार शराब पीना चाहता है और फिर बोतल वहीं गेट पर पटककर चल देता है। कैमरा तैयार है। लोग शांत हैं। एक आदमी इशारा करता है- स्टार्ट! ऋत्विक धीरे-धीरे चलते हुए गेट तक आते हैं। उनके हाथ में देशी शराब की बोतल है। उन्होंने बोतल मुंह से लगाई है ओर उसे अचानक ही नीचे पटककर जोर-जोर से गालियां देने लगे। सभी हतप्रभ। हुआ क्या? कहीं स्क्रिप्ट में उन्होंने कुछ बदल तो नहीं दिया है। वहां उनका कोई संवाद नहीं था, फिर इस तरह की गालियां तो बिलकुल नहीं हो सकती। उनके घर के गेट पर ही यह शूटिंग हो रही थी। बहुत सारे लोग खड़े थे। मैं भी! उन्होंने फिर जोर से चिल्लाकर कहा-यह नकली शराब किसने मुझे दी? ऋत्विक घटक नकली शराब पीकर ऐक्टिंग करेगा?' और तब बात समझ में आई! होता यही है कि शराब की जगह रंगीन शरबत बोतल में भर दिया जाता है जो शराब जैसा ही दिखे! ऐसी ही बोतल ऋत्विक दा को भी दी गई थी और इसे मुंह से लगाते ही वे विफर गए थे। बाद में असली बोतल आई थी और उन्होंने दृश्य पूरा किया था। जिन लोगों ने वह फिल्म देखी होगी, शायद नीलकंठ का लड़खड़ाना उन्हें ऐक्टिंग लगा होगा, पर वह बिल्कुल वास्तविक था, ऋत्विकदा उस समय को जी रहे थे, नीलकंठ उनका ही सही प्रतिरूप था। उनके अंदर जो दर्द था, पीड़ा थी, एकाकीपन था, वह सब कुछ

उनके चहरे पर जिस तरह उभरकर आया था, वह अभिनय की एक मिसाल बन गया था। शायद उन्हें आभास हो चला था कि उनकी जिंदगी अब बहुत लंबी नहीं है, इसलिए वे अपने मन की बात को, पीड़ा को, अहसास को, उस फिल्म में उड़ेल देना चाहते थे। वे अक्सर कहते थे-मुझे जिंदगी से बहुत प्यार है, परंतु इस जिंदगी को बचाने के लिए उनके पास कोई उपाय नहीं रह गया था। वे अपने बच्चों को भी बहुत प्यार करते थे, और जिंदगी के अंतिम क्षण तक पत्नी को याद करते रहे।

फिल्मों में ही नहीं, जीवन में भी यथार्थवादी दृष्टि रखने वाले ऋत्विक घटक अपने समय के सबसे बड़े यथार्थवादी फिल्मकार थे, उनके बाद ही सत्यजित राय या मृणाल सेन का नाम आता है, किंतु यह उनका दुर्भाग्य ही रहा कि राय की तरह भारत से बाहर अपनी फिल्मों के लिए वे दर्शक नहीं जुटा पाए। उनकी प्रथम फिल्म 'नागरिक' जो सन् 1952 में बनी थी, और प्रथम बांग्ला यथार्थवादी कला फिल्म थी, बनने के बाद प्रदर्शित भी न हो पाई, उसका प्रदर्शन उनकी मौत के बाद 1977 में ही संभव हो पाया जबकि 'नागरिक' के तीन साल बाद बनी राय की फिल्म 'पथेर पांचाली' को विदेशों में अच्छी ख्याति मिली। हालांकि यह भी सच है कि ऋत्विक घटक अपने उसूलों पर अगर टिके न होते, व्यावसायिक सफलता की चाह रखते तो व्यावसायिक फिल्मों की एक बड़ी दुनिया उनके सामने थी। विमल राय की पारखी दृष्टि ने ऋत्विक की प्रतिभा को पहचाना था और 'मधुमती' की पटकथा लिखने के लिए उन्हें तैयार कर लिया था। 'मधुमती' जबरदस्त सफल फिल्म रही थी और उसके लिए सर्वश्रेष्ठ कहानी के लिए फिल्मफेयर पुरस्कार के लिए वे पहली बार नामांकित भी हुए थे। यह 1958 की फिल्म थी और ऋत्विक को तब तक बांग्ला फिल्मों के लिए कोई बहुत ज्यादा सफलता भी नहीं मिली थी, वे चाहते तो मधुमती' की सफलता को अच्छी तरह भुना सकते थे। और हिंदी फिल्मों की दुनिया में रम सकते थे, पर ऐसा नहीं हुआ। हिंदी फिल्मों की व्यावसायिकता उन्हें भाती नहीं थी क्योंकि फिल्मों को वे सिर्फ मनोरंजन का एक साधन नहीं मानते थे बल्कि सामाजिक परिवर्तन का एक माध्यम भी मानते थें वे कहा भी करते थे- 'मैं सिनेमा को एक हथियार के रूप में प्रयोग करना चाहता हूं।' इसी कारण हिंदी फिल्मों की चकाचौंध से भागकर वे फिर यथार्थवादी बांग्ला फिल्मों की दुनिया में लौट आए थे। यहां, वे अपने मन की बात अपने ढंग से कह सकते थे। उनकी फिल्में प्रमाणित करती हैं कि वे व्यावसायिकता से बिलकुल अलग रहे। गीत, नृत्य, नाटकीयता, चकाचौंध उनके काम में नजर नहीं आती है। बड़े नायक-नायिकाओं के पीछे वे कभी नहीं भागे, शायद इसी कारण उनकी फिल्में छात्रों तथा बुद्धिजीवियों द्वारा ही ज्यादा देखी जाती थीं, साधारण लोगों द्वारा नहीं। यही नहीं, वे वही फिल्में हाथ में लेते थे जिसकी कहानी, पटकथा उन्हें पसंद होती थी। इसके लिए किसी तरह का समझौता उन्हें मंजूर नहीं था। बड़े से बड़े धन के प्रस्ताव को वे ठुकरा देते थे, अगर उन्हें कहानी पसंद नहीं होती थी या व्यावसायिकता का जहां दबाव होता था। कई निर्माता ऐसे रहे जो अंधाधुंध पैसा खर्च करके ऋत्विक घटक से अपनी पसंद की फिल्म बनवाना चाहते थे, उन्हें लुभाने की कोशिश करते थे, पर इन्हें निराश ही होना पड़ता था। कुछेक को बदले में गालियां भी मिलती थीं, क्योंकि ऋत्विक किसी की परवाह नहीं करते थे, कुछ अर्थों में मुंह फेर लेते थे, जिसके कारण ज्यादातर लोग उनके पास जाने से भी घबड़ाते थे। मन के बादशाह थे वे और आजीवन इस बादशाहत को बनाए रखा। एक कारण यह भी है कि इतनी लंबी अवधि में सिर्फ आठ फिल्में उन्होंने

बनाई-'नागरिक' (1958), 'अजांत्रिक' (1958), 'बाड़ी थेके पालिए' (1958), 'मेघे ढाका तारा' (1960), 'कोमल गांधार' (1961), 'सुवर्ण रेखा' (1962), 'तितास एकटी नदीर नाम' (1973) एवं 'जुक्ति तोक्को आर गप्पो' (1974), किंतु ये आठ फिल्मों ही फिल्म के इतिहास में उन्हें अमर बनाने के लिए काफी हैं।

अपनी अंतिम फिल्म बनाते वक्त ही वे रोग की पकड़ में इस तरह आए कि फिर कभी संभल न सके। फिल्म का संपादन करना भी उनके लिए संभव नहीं रह गया था, जबकि कहा यह जाता था कि संपादन के बाद ही पता चलता है कि ऋत्विक अपनी फिल्म में क्या कहना चाहते हैं। उनके सहायकों ने फिल्म को किसी तरह पूरा किया था।

वास्तव में अपनी तमाम प्रतिभा और प्रसिद्धि के बावजूद उनका जीवन एकदम एकाकी हो गया था। पत्नी और बच्चों से अलग रहकर उन्हें अपना जीवन ही निरर्थक लगने लगा था। इस अकेलेपन से घबड़ाकर ही जैसे उन्होंनं अपना साथी बना लिया था। दिन हो या रात, शराब चाहिए तब बीस तीस रुपये में शराब की बोतल आ जाती थी। कुछ निर्माता भी उनकी इस कमजोरी को समझते हुए विदेशी शराब की बोतलें उन्हें दे जाते थे यह सोचकर कि शायद वे फिल्म बनाने के लिए तैयार हो जाएं! पर ऐसा कभी नहीं हुआ। नशे के बावजूद कभी उन्होंने अपनी चेतना नहीं खोई, कभी कोई गलत निर्णय नहीं लिया। तंगहाल रहे पर फिल्मों के लिए कोई समझौता नहीं किया। इस अर्थ में उनकी निष्ठा और दृढ़ता अद्‌भुत थी, प्रशंसनीय थी। बाद में तो वे पूरी तरह आल्कोहलिक हो गए थे। लिवर दोनों खराब। खाना पचता नहीं था। शरीर में रक्त की जगह जैसे शराब बह रहा हो। फरवरी 1976 में इस शराब ने ही उन्हें हमसे जुदा कर दिया था। मुझे याद है, जब उन्हें पी. जी. अस्पताल में भर्ती करवाया गया था, डॉक्टर ने उन्हें देखकर कहा था- 'पूरा शरीर जहर हो गया है। अब शराब की एक बूंद भी इनके लिए घातक हैं।' छह फरवरी को उन्होंने अंतिम सांस ली थी किंतु उससे पूर्व की शाम को अर्द्ध बेहोशी की हालत में ही वे बड़बड़ाते रहे थे-मद दाओ, मद दाओ। (शराब दो, शराब दो?) वे निरीह आंखों से इधर-उधर देख रहे थे, उनकी निरीहता देखकर जैसे डॉक्टर भी पिघल आया था और उसकी आंखों में मौन सहमति उतर आई थी! किंतु हममें से, उनके परिवारजनों में से किसी में भी इतनी हिम्मत नहीं थी कि इस हालत में उन्हें शराब दे, उनकी हालत देखकर एक सज्जन तो इतने आहत-मर्माहत हुए थे कि जोर से चीख पड़े थे- 'अरे दिए दौ, ओके मद दिए दौ, ओ मरे जाछे।' (दे दो, उसे शराब दे दो, वह मर रहा है)। उस प्रतिभाशाली और ख्यातिप्राप्त व्यक्ति की आंखों की निरीहता हमें कचोट रही थी अगले दिन वे नहीं रहे, पर उनकी निरीह आंखें जैसे हमेशा हमारा पीछा करती रहती हैं।

महबूब और उनका सिनेमा
परंपरा का आदर : डगर आधुनिकता की

प्रहलाद अग्रवाल

किस्सा हिंदी सिनेमा का जब भी बयां होगा, महबूब और उनकी 'मदर इंडिया' के जिक्र के बगैर अधूरा रहेगा। छप्पन साल पहले प्रदर्शित हुई 'मदर इंडिया' और आधी सदी पहले इस फानी दुनिया को अलविदा कह गए जनाब महबूब खान आज भी वर्तमान की उपस्थिति हैं। उन्होंने जो किस्से सिनेमा के पर्दे पर बयां किए उनके न जाने कितने 'क्लोज' हिंदी सिनेमा के बड़े-बड़े तीसमारखाओं ने पेश किए और जब तक सिनेमा का अस्तित्व कायम है ये सिलसिला रुकनेवाला नहीं। चाहे दिलीपकुमार की 'गंगा जमना' हो या राजकपूर की 'संगम' या अमिताभ बच्चन की 'दीवार' सब महबूब की आंखों देखे गए ख्वाबों से उधार ली गई है।

'मदर इंडिया' पहली भारतीय फिल्म है जिसे ऑस्कर के लिए नामांकित किया गया था और आखिरी स्टेज पर सिर्फ एक वोट से खिताब से चूक गई। वजह खास यह थी कि पति के पलायन कर जाने पर सुक्खी लाला के विवाह के प्रस्ताव को राधा द्वारा ठुकरा दिया जाना पश्चिमी तहजीब ने बेवकूफी भरा दृष्टिकोण माना था। इसके पीछे एक और कारण ये भी है कि भारतीय बौद्धिकता ने खुद ही अपने कृतित्व को कोई तरजीह नहीं दी। सच तो यह है कि आज भी 'विकास' के पश्चिमी मॉडल का भूत हमारे सिर सवार है जिसने कांग्रेस और भाजपा जैसी धुर विरोधी राजनीतिक पार्टियों के मूल भेद को खत्म कर दिया है और उनकी लड़ाई मिलीजुली कुश्ती बनकर रह गई है।

मजे की बात ये कि खुद महबूब मियां हालीवुड से बेइंतिहा मुतास्सिर थे। वे सिसिल बी डिमेले की भव्य फिल्मों की तरह फिल्में बनाने का ख्वाब किशोरावस्था से देखते थे। पर उन्होंने उस भव्यता को आवरण की तरह इस्तेमाल किया, फिल्मों की रूह सौ फीसदी हिंदुस्तानी थी। दरअसल सिनेमा का जन्म ही पश्चिम में हुआ और सिने पितामह दादा साहब फाल्के ने भी क्राइस्ट के जीवन पर आधारित फिल्म देखकर ही हिंदी में अपने पौराणिक आख्यानों को सिनेमा के पर्दे पर प्रस्तुत करने का सपना देखा था। उनकी ही तरह महबूब ने भी अपने सृजन में भारतीय आख्यानों और आदर्शों को ही ग्रहण किया।

अलिफ लैला के किस्सों की तरह हैरतअंगेज है, गुजरात के सरार गांव में जन्मे इस लड़के की दास्तान जिसने स्कूल की चौखट पर पांव नहीं रखा, -'मसि कागद छुओ नहीं, कलम गही नहिं हाथ', उसने खुद को हिंदी सिनेमा का एक स्कूल बनकर दिखा दिया। जिसके पास किसी किस्म की कोई औपचारिक शिक्षा नहीं थी। गरीब परिवार में पैदा हुआ था। हुनर सिर्फ इतना

कि बचपन से सिनेमा में 'हीरो' बनने का भूत सिर पर सवार। जुनून ऐसा कि पंद्रह साल की उम्र में ही घर से भागकर मायानगरी बंबई जा पहुंचे दर-दर की ठोकरें खाने के लिए। तब मूक फिल्मों का जमाना था और किशोरों की सिनेमा के प्रति आसक्ति बरबादी का लक्षण मानी जाती थी। महबूब के सिपहसालार किस्म के पुलिसमैन पिता उन्हें बंबई से पकड़कर गांव वापस ले गए और सत्रह की उम्र में ही उनसे भी छोटी फातिमा बी के साथ निकाह करा दिया। करेले पर नीम चढ़ा ये कि दो साल में ही वे पिता भी बन गए। तब भी महबूब के पैरों में बेडियां डालने की कोई साजिश काम न आई और वे बीस की उम्र में पारिवारिक मित्र इस्माइल जीवा की मेहरबानी से न सिर्फ बंबई पहुंच गए बरन इंपीरियल फिल्म कंपनी के मालिक आर्देशिर ईरानी से मिलने में भी कामयाब हो गए और उन्हें 'अनपेड एक्सट्रा' की तरह दाखिल कर लिया गया। पर यह महबूब की दोहरी लगन थी जिससे वे जल्द ही ईरानी सेठ की नजरों में चढ़ गए। एक तो यह कि वे हर काम हर वक्त करने के लिए तैयार और दूसरी ये कि पांचों वक्त की नमाज अदा करने से किसी भी हालत में न चूकना। शीघ्र ही वे तीस रुपये' माह पगार पाने लगे और इंपीरियल की फिल्मों में छोटे-मोटे रोल भी मिलने लगे।

1927 से 35 के दरमियान महबूब ने 6 मूक और 11 सवाक फिल्मों में अभिनय किया और 'हीरो' बन पाने की कोशिश में जी जान से लगे रहे और हर बार मौका उनके हाथ से फिसलता रहा। ईरानी सेठ ने उन्हें हिंदुस्तान की पहली सवाक फिल्म 'आलम आरा' का नायक तय किया था। उनके परिधान वगैरह भी तैयार करा लिए गए थे लेकिन ऐन वक्त पर इतने महंगे और महत्वाकांक्षी प्रोजेक्ट के लिए जिसे भारत का पहला बोलता चित्रपट बनना था एक नामालूम छोटे से अभिनेता पर दांव खेलना माकूल नहीं समझा गया और हीरो का रोल मूक युग के प्रसिद्ध नायक मास्टर विट्ठल की झोली में जा गिरा। ऐसा एक बार नहीं एकाधिक मर्तबा हुआ। कभी उनकी जगह मोतीलाल ले लिए गए और कभी याकूब। महबूब के हिस्से सहायक भूमिकाएं ही आती रही। मगर वह आशिक ही क्या जिसकी हिम्मत पस्त हो जाए। वे तो डायरेक्टर के कहने पर 'अलीबाबा' में एक चोर की भूमिका करते हुए घड़े में घंटों कैद रहे, जहां उनका चेहरा भी नहीं दिखा। यह उनकी समझ के बाहर था कि जब उन पर कैमरे की नजर ही नहीं जानी थी तो उन्हें दिन भर घड़े में कैद क्यों रखा गया। पर ये भी खुदाई करिश्मा ही समझ लिया। 'शीरीं खुसरू' (1929) की धरमपुर के महाराजा के महल के बाहर शूटिंग के दौरान जब उनके बिगडैल घोड़े की लगाम थामकर काबू करना था, और तमाम साथी कलाकार पीछे हट गए तो महबूब ने जान जोखिम में डालकर भी घोड़े को काबू कर दिखाया। यह पहला मौका था जब महबूब को रजतपट पर पहली बार अभिनेता के रूप में अपना चेहरा देखना नसीब हुआ। आर्देशिर ईरानी की शाबासी मिली और दस रुपये की वेतन वृद्धि।

महबूब ने सात वर्षों में आर्देशिर ईरानी के पास काम करते हुए अनेक दोस्त बनाए थे। उस दौर के प्रसिद्ध निर्देशक भगवती प्रसाद मिश्रा और रमाशंकर चौधरी की निकटता और सहानुभूति हासिल की थी। फरदून ईरानी जिन्होंने उनके द्वारा निर्देशित पहली से आखिरी तक हर फिल्म फोटोग्राफ की, बाबूभाई मेहता जो उनकी कई फिल्मों के लेखक ही नहीं बौद्धिक परामर्शदाता भी थे जैसे अनेक दोस्त उनकी प्रतिभा और मेहनत के कायल बने और इन्हीं के सहयोग से महबूब पहली फिल्म बनाने का मौका हासिल करने में कामयाब हुए। खास तौर से फरदून ईरानी ने सागर फिल्म कंपनी के बॉस अंबालाल पटेल को भरोसा दिलाया और 1935

में महबूब निर्देशित पहली फिल्म 'जजमेंट ऑफ अल्लाह' उर्फ अलहिलाल प्रदर्शित हुई। अल्लाह के द्वारा ली जा रही महबूब की परीक्षा पूरी ही नहीं हुई उन्हें अद्वितीय सफलता मिली। उनकी पहली ही फिल्म सुपरहिट साबित हुई। सागर द्वारा बड़े-बड़े डायरेक्टरों की बनाई फिल्मों से भी बढ़ चढ़कर सफल। इसके बाद 1942 तक महबूब ने सागर मूवीटोन और बाद में इसी के बदले नाम नेशनल स्टूडियोज के लिए ग्यारह फिल्में बनाई और हर फिल्म न केवल हिट साबित हुई अपितु बुद्धिजीवियों द्वारा भी सराही गई।

उस दौर के खुर्राट फिल्म समीक्षक, फिल्म इंडिया नामक पत्रिका के संपादक बाबूराव पटेल ने जिनके लिए बड़ों-बड़ों की धज्जियां उड़ा देना हँसी खेल हुआ करता था- महबूब की पहली फिल्म की तारीफ करते हुए उन्हें एक ऐसा डायरेक्टर बतलाया जिसके कृतित्व की प्रतीक्षा की जाएगी। महबूब ने पटेल की भविष्यवाणी को सच साबित किया। जैसे उन्होंने कबीर की वाणी की सत्यता अपने व्यक्तित्व से उजागर कर दी थी- 'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय/ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होय।' 'जजमेंट ऑफ अल्लाह' की कहानी भी अंगूठा छाप महबूब की ही थी जिसे उन्होंने देसी-परदेसी अनेक फिल्मों के प्रभाव से गढ़ा था। विशेष रूप से सोहराब मोदी की कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी द्वारा लिखित 'पृथ्वीवल्लभ' और उनके आदर्श डिमैले की 'द साइन ऑफ द क्रॉस' का प्रभाव इस पर लक्षित किया गया था। गीतकार और संवाद लेखक थे मुंशी एहसान लखनवी और संगीतकार प्राणसुख नायक। मुख्य कलाकार-कुमार, इंदिरा, सितारा देवी, याकूब, पांडे, आसूजी और अजूरी। रोमन और मुस्लिम शासकों के बीच अच्छाई और बुराई के युद्ध की कथा में प्रेम त्रिकोण का भी समावेश किया गयाा था। इस आरंभिक युग में भी फरदून ईरानी ने युद्ध के ऐसे लोमहर्षक दृश्य चित्रांकित किए कि लोग दांतों तले अंगुली दबा लेते।

इस सफलता के तुरंत बाद सागर ने महबूब के निर्देशन में बनने जा रही दूसरी फिल्म 'चैलेंज' की घोषणा कर दी। निश्चित ही वे अगली फिल्म बनाने की खुद जल्दी में थे पर वे उसे अपने ही दृष्टिकोण और अपनी पहली फिल्म की टीम के साथ ही बनाने के लिए प्रतिश्रुत थे। यह अनका दृढ़ मंतव्य था कि फिल्म के तमाम रचनात्मक सूत्र निर्देशक के ही हाथों में होना चाहिए। वही सूत्रधार होता है रचना का- प्रथम पुरुष। सागर के मालिकान और महबूब के बीच द्वंद्व का कायदा कुछ फिल्म कंपनियों ने उठाने के लिए महबूब को अपने यहां आमंत्रित किया लेकिन फरदून और मेहता के परामर्श से उन्होंने सागर में ही रहकर अपनी नींव पुख्ता करने में बेहतरी मानी। महबूब के महत्व को सागर ने भी पहचाना और न सिर्फ महबूब को अपनी मर्जी के मुताबिक काम करने की छूट दी, उन्हें निर्देशक के रूप में पांच हजार रुपये का पारिश्रमिक दिया। उन दिनों यह राशि दो किलो से अधिक सोना खरीदती थी।

अब महबूब ने पहली फिल्म से बिल्कुल अलग विशुद्ध रूप से स्टंट फिल्म बनाई। 1935 में होमी वाडिया की हंटरवाली' ने तहलका मचा दिया था। सागर के लिए इसी वर्ष चिमनलाल लुहार ने भी 'सिल्वर किंग' नामक सफल स्टंट फिल्म बनाई थी जिसके नायक मोतीलाल थे। इसके ठीक एक वर्ष पूर्व 1934 में सागर की ही 'शहर का जादू' से मोतीलाल ने सिनेमा में कदम रखा था और पहली फिल्म से ही उन्होंने अपने सहज अभिनय से दर्शकों पर जादू कर दिया था। मोती के पहले इस फिल्म के लिए महबूब को ही हीरो बनाने पर विचार किया गया था। महबूब यह सिद्ध कर देना चाहते थे कि वे हर जेनर की फिल्म बना सकते है और उन्होंने यह

साबित भी कर दिया। 'डेक्कन क्वीन' भी बेहद सफल हुई। स्टंट फिल्म होते हुए भी महबूब ने इसे राजा-रानी की फंतासियों से अलग हटकर सामाजिक कथा का ताना-बाना बुना। सेठ निरंजनमल के सहयोगी उन्हें धोखा देकर जायदाद ही नहीं हड़पते अपितु उनकी बेटी को जेल भी भिजवा देते हैं। बेटा दरबदर ठोकरें खाता है। जेल से छूटकर उनकी बेटी आताताइयों को ठिकाने लगाती है। महबूब ने इसमें भी प्रेम त्रिकोण जोड़ दिया था। महबूब का यह यकीन था कि अंततः प्रेम भाव ही मानव विज्ञान का आधार है। फिल्म की नायिका अरुणा देवी की दोहरी भूमिका थी और नायक थे सुरेंद्र। सुरेंद्र एक सुशिक्षित व्यक्ति थे और अभिजात्य परिवार से संबंध रखते थे। नामावली में उनका नाम लिखा गया था- 'सुरेंद्र नाथ, बी.ए.एल.एल.बी'। वे एक अच्छे गायक भी थे और महबूब ने ही उन्हें अपनी अगली फिल्म 'मनमोहन' में कुंदनलाल सहगल के मुकाबले गायक अभिनेता की तरह पेश किया था जो 'देवदास' की तर्ज पर बनाई गई थी।

1935 में न्यू थियेटर्स, कलकत्ता की 'देवदास' जो बंगाली और हिंदी दोनों भाषाओं में अलग-अलग बनाई गई थी, समूचे भारत में तहलका मचा दिया था। सागर के कर्ताधर्ता चाहते थे कि वे भी कोई ऐसी ही फिल्म प्रस्तुत करें जो इस सफलता का जवाब बनकर सामने आए। उस समय प्रमुख फिल्म कंपनियों में एक साथ कई निर्देशक जुड़े होते थे। सागर में महबूब तो नए-नए थे। उनके पहले से नंदलाल जसवंत लाल, सर्वोत्तम बदामी, आर-एस. चौधरी, चिमन लाल लुहार, काली प्रसाद घोष आदि इंपीरियल और सागर के लिए फिल्में बना रहे थे। पर 'देवदास' के जवाब में फिल्म बनाने की चुनौती महबूब ने उठाई। नायक के रूप में सुरेंद्र को चुना ही जाना था। दो नायिकाएं थीं-बिब्बो और आशा लता। बिब्बो अपने जमाने में दर्शकों के दिलों की रानी थी। सुप्रसिद्ध कथाकार शिवमूर्ति बतलाते है कि उनके पिता बिब्बो के ऐसे अनन्य प्रशंसक थे कि उनकी मृत्यु पर दो दिन उन्होंने खाना नहीं खाया। इसके लेखन की जवाबदारी जिया सरहदी को सौंपी गई जो प्रसिद्ध मार्क्सवादी लेखक थे और आगे चलकर जिन्होंने अपनी रुझान की 'हमलोग' (1951), 'फुटपाथ' (1953) और 'आवाज' (1956) फिल्में भी बनाईं। इनको प्रशंसा तो मिली लेकिन ये सामान्य जन द्वारा नहीं अपनाई गईं। जिया सरहदी और महबूब का रिश्ता ठीक ख्वाजा अहमद अब्बास और राजकपूर की तरह था। सरहदी की 'आवाज' के तो महबूब निर्माता भी थे।

जिया सरहदी द्वारा लिखी गई 'मनमोहन' व्यावसायिक रूप से 'देवदास' से कम सफल नहीं हुई। यह गोल्डन जुबली प्रमाणित हुई। इसके साथ ही महबूब ने सागर मूवीटोन में निर्देशन के रूप में खुद को सर्वोपरि बना दिया। यह एक पेंटर और अनाथ लड़की की प्रेमकथा थी जिसका मां बाप द्वारा तय कर दिए गए विवाह के कारण प्रेमी उससे बिछुड़कर शराब में खुद को गर्क कर लेता है। एक धनी स्त्री उसे सहारा देती है लेकिन वह अपने पहले प्यार को नहीं भूल पाता। इसके संगीत निर्देशक अशोक घोष थे और म्यूजिक अरेंजर अनिल विश्वास। इस फिल्म के सर्वाधिक लोकप्रिय हुए गीत 'तुम्हीं ने मुझको प्रेम सिखाया' की धुन भी अनिल विश्वास ने बनाई थी। इस फिल्म के साथ ही अनिल, महबूब के बहुत निकट आ गए और इसके बाद 1942 में 'रोटी' तक महबूब की हर फिल्म का संगीत अनिल विश्वास ने ही दिया। 1937 में महबूब की चौथी फिल्म आई 'जागीरदार'। महबूब की जिद पर ही इसका संगीत अनिल विश्वास को सौंपा गया। इसमें पिता-पुत्र की भूमिकाएं सुरेंद्र और मोतीलाल ने निभाई थी। अन्य कलाकार

थे- बिब्बो, याकूब, माया बनर्जी, पांडे, जिया सरहदी और भूड़ो आडवाणी। एक जागीरदार जब सामाजिक रूढ़ियों के चलते अपनी गरीब प्रेमिका से गुप्त विवाह करने के लिए बाध्य होता हे तो एक दुर्घटना में उसे मृत मान लिए जाने पर प्रेमिका अपने होने वाले बच्चे को वैधता प्रदान करने के लिए एक गरीब किसान से विवाह कर लेती है। जागीरदार के लौटने पर स्त्री के हक का द्वंद्व उठ खड़ा होता है। इसका फायदा उठाकर खलनायक किसान की हत्या कर देता है जो खुद नायिका पर आसक्त है और न केवल नायक को हत्या के जुर्म में फंसा देता है अपितु उसके बेटे को भी उसके खिलाफ खड़ा कर देता है। इसमें महबूब का हॉलीवुड की फिल्मों के प्रति आकर्षण प्रखरता से सामने आता है। नायक और खलनायक को ओवरकोट और फेल्ट हैट ठीक हिचकॉक की फिल्मों की स्टायल में पहनाए गए। इस फिल्म का संगीत भी बेहद लोकप्रिय हुआ। बिब्बो के स्वर में 'जीवन यूं ही बीत न जाए', सुरेंद्र के गाए- 'अगर देनी थी हूरो जन्नत हमको तो यहां देते' और खुद अनिल विश्वास का गाया- 'वो ही पुराने खेल जगत के वो ही पुरानी बात' आदि सभी गीत लोकप्रिय हुए। यहां तक कि गायन से अनभिज्ञ मोतीलाल और माया बनर्जी के गाए गीत भी। इस फिल्म ने भी बॉक्स आफिस पर जबर्दस्त कामयाबी दर्ज की। गरज यह कि महबूब का नाम कामयाबी का पर्याय बन गया। इसके बाद उन्होंने सागर के लिए 1938 में 'हम तुम और वह' तथा 'वतन', 1939 में 'एक ही रास्ता' और 1940 में दो भागों में 'अलीबाबा' का सृजन किया। 'अलीबाबा' हिंदी के साथ पंजाबी में भी बनाई। 'अलीबाबा' के पंजाबी संस्करण का निर्देशन तो महबूब ने किया ही इसका संगीत भी उनके हठ पर अनिल विश्वास को ही देने पर बाध्य होना पड़ा। महबूब और अनिल विश्वास का अंतरंगता का अत्यंत सजीव वर्णन शरद दत्त द्वारा लिखित अनिल विश्वास की जीवनी 'ऋतु आए ऋतु जाए' में किया गया है जो सिनेमा के जीवनी साहित्य की अनुपम पुस्तक है।

ये सब फिल्में भी बहुत सफल हुईं। महबूब सागर मूवीटोन में सर्वोपरि हो गए। इसलिए जब द्वितीय विश्वयुद्ध के आरंभ होने पर परिस्थितियोंवश सागर को समाप्त कर एक नई संस्था 'नेशनल स्टूडियोज' की नींव रखी गई तो महबूब को भी आवश्यक रूप से वहां ले जाया गया। और क्यों नहीं? उनकी फिल्मों ने सागर मूवीटोन को मालामाल कर दिया था। उनका नाम जुड़ते ही असफलता दूर-दूर तक झांकने की हिम्मत नहीं जुटा पाती थी। जिस प्रकार प्रभात फिल्म के लिए वी. शांताराम अपरिहार्य थे, उसी तरह सागर के लिए महबूब। यह भी संयोग ही है कि 1943 में ही प्रभात से अलग होकर शांताराम ने अपनी स्वयं की निर्माण संस्था राजकमल कला मंदिर की स्थापना की, उसी तरह इसी वर्ष महबूब ने भी महबूब प्रॉडक्शन की नींव रखी। पर यह अभी दूर की बात है। अभी तो महबूब को नेशनल स्टूडियोज के लिए ही तीन फिल्में और बनानी थीं। 1940 में ही उन्होंने 'रोटी' बनाई। इसी का रंगीन संस्करण सत्रह साल बाद 1957 में विश्वविख्यात 'मदर इंडिया' के रूप में सामने आया। 1947 में 'बहन' और 1942 में 'रोटी'।

ये तीनों ही फिल्में सिर्फ फिल्मकार की तरह नहीं एक बौद्धिक व्यक्तित्व की तरह महबूब की परिपक्वता का प्रमाण देती हैं। 'रोटी' के कथाकार थे- बाबूभाई मेहता जिन्हें महबूब अपना बौद्धिक सलाहकार मानते थे। यह कथा पर्ल एस.बक के विश्वप्रसिद्ध उपन्यास 'द गुड अर्थ' पर आधारित थी। संवाद वजाहत मिर्जा के और गीतकार डॉ. सफदर आह। इसकी केंद्रीय भूमिका में थीं सरदार अख्तर जो बाद में महबूब की दूसरी पत्नी बनीं। उनके अच्छे और बिगड़ैल

बेटों की भूमिका में सुरेंद्र और याकूब थे जो 'मदर इंडिया' में राजेंद्र कुमार और सुनील दत्त ने अदा की। राधा के पति की भूमिका अरुण आहूजा ने की थी जो बाद में राजकुमार के हिस्से में आई। बस एक कन्हैयालाल ही हैं जिन्होंने दोनों में सुक्खी लाला बनने का सुअवसर पाया। शायद उनका कोई विकल्प ही नहीं था। इस श्वेत-श्याम फिल्म को बड़ी कामयाबी और प्रशंसा मिली। इसे उस समय का सबसे प्रतिष्ठित बेंगाल फिल्म जर्नलिस्ट एसोसिएशन का बेस्ट फिल्म का अवार्ड मिला। कई समीक्षक यह मानते हैं कि 'औरत' में अनिल विश्वास का संगीत, नौशाद के 'मदर इंडिया' के संगीत से बहुत बेहतर था। उसमें ग्रामीण समाज के लोकरंग की गहरी अनुगूंज थी। इसके अधिकांश गीतों में कोरस का अत्यंत प्रभावशाली प्रयोग किया गया था। अधिकांश समूह गीत थे और नायिका के हिस्से में एक गीत नहीं था। अनिल विश्वास ने स्वयं फिल्म के बारह में से चार गीतों में अपना स्वर दिया था। सबसे लोकप्रिय गीत 'काहे करता है देर बराती जाना है तोहे पी की नगरिया' में अनिल अधिक बेहतर थे या 'आज होली खेलेंगे साजन के संग' में यह निर्णय करना मुश्किल है। सुरेंद्र और ज्योति के स्वर में 'तुम रुठ गई बारी सजनियां, बलिहारी सजनियां' भी अत्यंत लोकप्रिय हुआ था। यूं लगभग हर गीत ने जनमानस को प्रभावित किया था। दरअसल फिल्म का प्रत्येक पक्ष सशक्त था। सरदार अख्तर ने नायिका राधा की भूमिका को जीवंत कर दिया था। फरदून ईरानी का छायांकन इतना कल्पनाशील था कि एक समीक्षक ने लिखा कि छायाकार ने ग्राम्य जीवन के चित्रों का दुर्लभ एलबम प्रस्तुत कर दिया है।

1941 में प्रदर्शित हुई 'बहन' में महबूब ने एक नए अभिनेता शेख मुख्तार को प्रस्तुत किया जो एक रफ-टफ व्यक्तित्व के रूप में आगे चलकर प्रसिद्ध हुए और निर्माता-निर्देशक भी बने। अन्य कलाकार थे नलिनी जयवंत, हरीश, कन्हैयालाल, भूडो अडवानी और आठ वर्ष की उम्र में मीना कुमारी ने इसमें बेबी मीना के नाम से नायिका के बचपन की भूमिका की थी। कथाकार थे बाबूभाई मेहता और जिया सरहदी। संवाद लिखे थे वजाहत मिर्जा ने और गीतकार थे सफदर आह। यह भूकंप में नष्ट हो गए भरे पूरे परिवार में शेष बचे बड़े भाई और छोटी बहन की कहानी है जहां भाई, बहन के प्रति इस तरह सुरक्षा भाव से ग्रस्त है कि वह उसका विवाह भी नहीं होने देना चाहता और जब वह शादी करके चली जाती है तो उसका जीवन एक महाशून्य बन जाता है। अनिल विश्वास के ही स्वर में 'क्यों करता है मूरख आशा, झूठी है तेरी अभिलाषा' भाई की वेदना को मूर्त करती है।

1942 में प्रदर्शित हुई 'रोटी' महबूब के समूचे करिअर में ही नहीं हिंदी सिनेमा की भी एक अनूठी फिल्म है। इसके कथाकार थे रमाशंकर चौधरी जिनके निर्देशन में महबूब ने अपने करिअर के आरंभ में कुछ फिल्मों में अभिनय किया था। पटकथा वजाहत मिर्जा ने तैयार की थी और मिर्जा के साथ सफदर वजहाद लखनवी और आरजू लखनवी ने गीत लिखे थे। यह एक काल्पनिक देश की कहानी है जहां आदिम समुदाय निवास करता है। जहां व्यक्तिगत संपत्ति की अवधारणा नहीं है। जहां हर परिवार को उसकी जरूरत के मुताबिक मिलता है और जहां वस्तुओं के विनियम द्वारा समाज चलता है। मुद्रा की अवधारणा ही नहीं है। वहां आधुनिक नागर सभ्यता का प्रतिनिधि जोड़ा अपना व्यक्तिगत हवाई जहाज क्रेश होने से पहुंच जाता है और इस तरह आधुनिक सभ्यता और मानव गरिमा के द्वंद्व का चित्रण किया गया है। दरअसल इसमें यह चित्रित किया गया है कि सभ्यता के आवरण में मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को

खोकर पशुओं से भी बदतर हो गया है और उस धन-दौलत के पीछे दीवाना हो रहा है जिनसे जिंदा रहने के वास्तविक संसाधनों की प्राप्ति नहीं की जा सकती। फिल्म के अंत में नायक रेगिस्तान में भूखा-प्यासा दम तोड़ता है जबकि उसकी मोटरकार में सोने की ईंटें भरी हुई हैं।

इसका कथानक स्पष्टतः कम्युनिज्म की वकालत करता था और आजादी पूर्व के उन दिनों में इसका सेंसर से बच पाना भी मुश्किल था। इसमें बहुत काट-छांट की गई। बावजूद इसके जब 'रोटी' प्रदर्शित हुई तो इसकी प्रशंसा ही नहीं हुई बल्कि फिल्म ने अच्छी व्यावसायिक सफलता भी पाई। 'रोटी' में आधुनिक समाज के प्रतिनिधि जोड़े की भूमिका में थे चंद्रमोहन और बेगम अख्तर और आदिम समाज के राजा-रानी की भूमिका में शेख मुख्तार तथा सितारा देवी। यह उन चंद फिल्मों में है जिनमें बेगम अख्तर ने छह गजलें भी गाई थीं जिनमें से बाद में दो का ही समावेश हुआ, चार हटा दी गईं। पर फिल्म का सबसे लोकप्रिय गीत बना सितारा देवी के स्वर में- 'सजना सांझ भई, आन मिलो-आन मिलो सजना सांझ भई।' अमीर और गरीब के बीच की खाई पर टिप्पणी करने के लिए निर्देशक ने एक पागल की भूमिका में अशरफ खान को उतारा था जो अपने पागलपन में सभ्यता की मक्कारी का पर्दाफाश करता है। वह अपने गीतों के द्वारा एक तरह से क्रांति का आह्वान करता है- 'दुखिया, दुर्बल छीन ले रोटी, भीख मांगकर जीने से तो अच्छा है मर जाना!' इतना ही नहीं वह एक और गीत में मानो चेतावनी देता है- 'डरो उस वक्त से जब रंग बदलेगा जमाने का, ये तुमसे बदला लेंगे जिनका आज अपमान करते हो।'

इसके साथ ही निर्देशक के रूप में महबूब की रचनात्मकता का पहला दौर समाप्त होता है जिसमें 1935 से 42 के बीच उन्होंने सागर मूवीटोन और नेशनल स्टूडियो के लिए ग्यारह फिल्मों का सृजन किया और प्रत्येक फिल्म से अपार सफलता पाई। समूचे हिंदी सिनेमा में ऐसा कोई दूसरा निर्देशक नहीं है। यह भी नहीं कि उन्होंने एक ही तरह की फिल्में बनाकर यह कारनामा किया हो। उन्होंने अलग-अलग विधाओं की फिल्में बनाईं। इस सफलता के कारण थ उनका समर्पण। अहसान को न भूलना और रचनात्मक साथियों के साथ गहरी अंतरंगता। मानवीय मनोभावों की पहचान में उनकी गहरी पैठ थी। अपनी नाकुछ हैसियत वाले दिनों को उन्होंने कभी नहीं भुलाया। जब वे 'अलीबाबा' बना रहे थे, उस समय वे पहला शॉट लेने उसी इंपीरियल कंपनी में गए जहां आर्देशिर ईरानी के द्वारा उन्हें पहला मौका मिला था और इसी नाम की फिल्म में वह भूमिका की थी जिसमें उनका चेहरा भी नहीं दिखा था। उनकी सृजनात्मक सफलता की गाथा जैसे उनकी ही फिल्म के एक गीत में इन शब्दों में अभिव्यक्त हुई है- 'मालिक है तेरे साथ न डर गम से तू ऐ दिल, मेहनत को इंसान तो क्या काम है मुश्किल।'

इसके साथ ही महबूब का अनिल विश्वास के साथ अंतरंगता का दौर भी पूर्णता को प्राप्त होता है। शायद 1942 में नेशनल स्टूडियो के बंद होने पर अनिल विश्वास का बांबे टाकीज में चला जाना महबूब को ठीक नहीं लगा क्योंकि बेरोजगार तो सब हुए थे और अनिल के अकेले के सामने संकट नहीं था। शायद इसीलिए अनिल विश्वास का जाते वक्त महबूब द्वारा फिल्म शुरू किए जाते वक्त वापस लौट आने का वादा करने के बावजूद महबूब ने जब 1943 में अपने प्रॉडक्शन की शुरुआत की तो अनिल को नहीं बुलाया- 'गो कि उनसे ठहरा न गया, उनसे बुलाया न गया!' बगैर किसी तकरार या मान-मनौव्वल के एक लंबी रचनात्मक अंतरंगता का पटापेक्ष हो गया।

महबूब की रचनात्मकता का दूसरा दौर 1943 से 1948 का है जिसमें उन्होंने छह फिल्मों का निर्माण किया। उनकी निर्माण संस्था का प्रतीक चिह्न बना हंसिया हथौड़ा और जब वह रजतपट पर आता था तो नेपथ्य में संगीतकार रफीक गजनवी की आवाज में आगा हश्र कश्मीरी का यह शेर गूंजता था- 'मुद्दई लाख बुरा चाहे तो क्या होता है, वही होता है जो मंजूर ए खुदा होता है।' आप चाहें इसे विरोधाभास भी कह सकते हैं लेकिन परंपरा और आधुनिकता का अजब तालमेल उनके व्यक्तित्व में भी था और रचनात्मकता में भी। वे आधुनिक भी थे और परंपरा की खूबियों का आदर करने वाले भी। जितना यकीन कर्म में, उतना ही खुदा में।

1943 में महबूब प्रॉडक्शन की पहली फिल्म आई- 'नजमा'। इसके लेखक थे आगा जानी काश्मीरी, गीतकार-अंजुम पीलीभीती और संगीतकार के रूप में आए रफीक गजनवी। यह उच्च और निम्नवर्ग की कहानी थी जिसमें गरीब अपने बड़प्पन से इस खाई को पाटता है। पहली बार विश्वसनीय ढंग से गुजरे जमाने की नवाबी-शान-ओ-शौकत और उनके रूढ़िवादी खोखले मूल्यों को प्रस्तुत किया गया था। इस फिल्म के साथ ही महबूब के सिनेमा में तब के सबसे बड़े स्टार अशोक कुमार का प्रवेश हुआ। 1943 में ही अशोक कुमार की सबसे कामयाब फिल्म बॉम्बे टाकीज की 'किस्मत' प्रदर्शित हुई और इसमें अनिल विश्वास ने संगीत रचना की थी। महबूब पहली बार अशोक कुमार को निर्देशित कर रहे थे और अनिल विश्वास भी पहली बार अभिनीत किसी फिल्म फिल्म का संगीत दे रहे थे- मगर अलग-अलग फिल्मों में। कैसे अजीब संयोग होते हैं। 'नजमा' के अन्य कलाकार थे- वीना, सितारा, कुमार, याकूब और मुराद।

इसी वर्ष महबूब की एक और फिल्म आई- 'तकदीर'। इसकी सबसे बड़ी खासियत यह थी कि यह हीरोइन की तरह नरगिस की पहली फिल्म थी। तब वे सिर्फ चौदह साल की थीं। यह एक हास्य का छौंक लगाकर बनाई गई। बिछड़ने-मिलने की कहानी थी। कुंभ के मेले में बिछड़कर गरीब का बेटा अमीर के घर पहुंच जाता है और अमीर की बेटी गरीब के घर पलती है और अंत में दोनों का मिलन न हो तो फिल्म बनती ही कैसे! अन्य कलाकार थे- मोतीलाल, चंद्रमोहन, चार्ली और जिल्लो। इसके संगीतकार की रफीक गजनवी ही थे।

1945 में अशोक कुमार को ऐतिहासिक भव्य फिल्म 'हुमायूं' में पेश किया महबूब ने। इसमें नरगिस, वीना, चंद्रमोहन, के.एन. सिंह, शाहनवाज जैसे अन्य बड़े सितारे थे। एक हिंदू राजकुमारी से हुमायूं को राखी बंधवाकर हिंदू-मुस्लिम एकता का संदेश भी दिया गया था। इससे महबूब ने अत्यंत भव्य स्तर पर बनाया था। यह फिल्म प्रशंसित भी बहुत हुई पर उस तरह की व्यावसायिक सफलता अर्जित नहीं कर सकी जो इस तरह की बड़े बजट की फिल्म के लिए अपेक्षित थी। इसमें संगीतकार के तौर पर रफीक गजनवी की जगह गुलाम हैदर लाए गए जिन्होंने 'खजांची' के संगीत से धूम मचा दी थी। पर यहां उनका संगीत प्रभावशाली होते हुए भी बहुत लोकप्रिय नहीं हो सका। एक ही गीत खासतौर से अवाम की जुबान पर चढ़ा था- 'हुस्न कहता जा रहा है, बादशाही कुछ नहीं।' अनिल विश्वास की जगह न रफीक गजनवी भर सके थे और न ही गुलाम हैदर को इसमें कामयाबी मिली। इन फिल्मों की व्यावसायिक सफलता की किंचित् कमजोरी का एक बड़ा कारण यह भी था। जिस तरह अनिल विश्वास के बावजूद महबूब अच्छी फिल्में बना रहे थे पर संगीत में वह बात पैदा नहीं हो रही थी, उसी तरह महबूब से अलग होकर विश्वास संगीत तो अच्छा दे रहे थे, पर 'किस्मत' जैसे चंद अपवाद छोड़कर कोई फिल्म बड़ी कामयाब नहीं हो रही थी और न ही फिर उन्हें कोई महबूब जैसा

पारखी-कद्रदान मिला।

अनिल विश्वास ने ही हिंदी फिल्म संगीत को अपनी अलग शिनाख्त दी। उसे शास्त्रीय जड़ता से मुक्त कर शास्त्रीयता को लोकरंग के विभिन्न आयामों से जोड़ा। वे बांबे टाकीज में गए जरूरत लेकिन तीन वर्षों में ही वहां से निकल भागे। धीरे-धीरे नई पीढ़ी के संगीतकार आते गए, सिने संगीत का मिजाज भी बदलने लगा और अनिल विश्वास अप्रासंगिक होते चले गए। महबूब की तलाश भी 1946 में 'अनमोल घड़ी' में नौशाद के आगमन के साथ पूरी हुई। जैसे उन्हें अपने पहले दौर में अनिल विश्वास के लिए तीन फिल्मों का इंतजार करना पड़ा था, उसी प्रकार दूसरे दौर में नौशाद के लिए भी तीन फिल्मों तक इंतजार करना पड़ा, तब तलाश पूरी हुई। इसके बाद 1962 में आखिरी फिल्म 'सन ऑफ इंडिया' तक हर फिल्म के संगीतकार नौशाद और गीतकार शकील बदायूंनी भी जो 1948 में 'अनोखी अदा' के साथ जुड़े तो आखिर तक साथ रहे। अनिल विश्वास और नौशाद दोनों ने ही महबूब की आठ-आठ फिल्मों को संगीतबद्ध किया है और इनमें किसी को किसी से बेहतर या कमतर नहीं कहा जा सकता।

अगर ये कहें कि 1946 में प्रदर्शित 'अनमोल घड़ी' का सबसे प्रबल पक्ष इसका गीत-संगीत ही था तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। बतौर कथा पक्ष इसमें वही अमीर-गरीब और ऊंच-नीच का पुराना राग अलापा गया था। अभिनय के क्षेत्र में भी नूरजहां, सुरैया और सुरेंद्र, तीनों अपनी गायकी (और खूबसूरती!) से ही प्रभावित करते हैं। लेकिन इन तीनों के गाए गीतों ने एकबारगी समूचे हिंदुस्तान में तहलका मचा दिया। लोग आवाज के जादू की डोर से बंधे बार-बार सिनेमाघरों में वापस लौटते। 'आजा मेरी- बर्वाद मुहब्बत के सहारे-' 'जवां है मुहब्बत हँसी है जमाना'- 'आवाज दे कहां है दुनिया मेरी जवां है' - 'सोचा था क्या-क्या हो गया'- 'मेरे बचपन के साथ मुझे भूल न जाना'- एक एक गीत में लोगों की गुनगुनाहटों में शामिल होने की जैसे होड़ लगी हो।

निस्संदेह 'अनमोल घड़ी' की कारोबारी सफलता और आवाम के बीच बेहद लोकप्रियता ने महबूब को राहत तो दी, पर संतोष नहीं। वे यह महसूस कर रहे थे कि अपने रास्ते से कुछ पीछे ही हटे हैं। एक फिल्मकार की तरह वे तृप्ति महसूस नहीं कर रहे थे। इसलिए एक बार फिर वे अपने सामाजिक परिदृश्य की ओर लौटे तथा मुस्लिम समाज की रूढ़ियों के खिलाफ और सांप्रदायिक सामंजस्य के आधार पर 'ऐलान' फिल्म का निर्माण किया। दो सौतेले भाइयों के माध्यम से अच्छाई और बुराई के संघर्ष को दिखाया गया। साथ ही नायिका के द्वारा अपने पूर्व प्रेमी के पुनर्विवाह के प्रस्ताव को ठुकराया जाना दिखलाकर और समाज सुधार के लिए अपने महल को स्कूल में बदलकर पीढ़ियों को अज्ञान के अंधकार से मुक्त करने का संदेश देकर नए जमाने को सुधारवादी संदेश दिया। इसके लिए महबूब को प्रशंसा तो अवश्य मिली लेकिन तब भी बात कुछ बनी नहीं। अवाम ने भी इसका रूखा-सूखा स्वागत ही किया। वस्तुतः यह इस तरह की फिल्म के लिए उपयुक्त समय भी नहीं था। देश विभाजन की लहर चल रही थी। उस उथल-पुथल के समय में ऐसी फिल्म को किसी वर्ग द्वारा अपनाया जाना कठिन ही था। परिणाम यह कि महबूब फिर प्रेम त्रिकोण की ओर लौटे और 1948 में नसीम बानो, सुरेंद्र और प्रेम अदीब के साथ 'अनोखी अदा' में। जहां 'ऐलान' जिया सरहदी ने लिखी थी, वहीं इसमें उनके साथ आगा जानी काश्मीरी भी जुड़े। 'ऐलान' की नायिका मुनव्वर सुल्ताना ने पाकिस्तान जाने का मन बना लिया था। इसलिए 'अनोखी अदा' में ब्यूटी क्वीन' 'नसीम' को लिया गया।

बेशक सायरा बानो की माताश्री अपनी बेटी की ही तरह बेइंतिहा खूबसूरत थीं और उनकी ही तरह भावशून्य चेहरा भी। 'अनोखी अदा' का प्रेम त्रिकोण जिसमें याददाश्त खोने और वापस आने का नुस्खा आजमाया गया था नई पीढ़ी को मोहने में नाकामयाब हुआ। दरअसल अब सुरेंद्र नसीम-अदीब का जमाना भी गुजर चुका था। परिदृश्य में दिलीप, देव और राज आ चुके थे। फिर इन दोनों में नौशाद का संगीत भी कुछ खास असर पैदा नहीं कर सका। 'अनमोल घड़ी' वाला जादू तो एकदम नदारद था।

इसके साथ ही 1943 से 48 के बीच का दूसरा दौर समाप्त हुआ। यह निश्चित ही पहले दौर की तरह चमत्कारिक नहीं था। यद्यपि कोई फिल्म गर्क तो नहीं हुई और महबूब ने अपनी रचनात्मकता में वैविध्य भी बनाए रखा लेकिन तब भी एक 'अनमोल घड़ी' को छोड़कर अन्य किसी फिल्म को सुपरहिट का दर्जा नसीब नहीं हुआ। जबकि पहले दौर की हर फिल्म ने यह खुशनसीबी हासिल की थी। यहां तक कि उनकी बेहद महत्वाकांक्षी और ऊंचे पैमाने पर अपने समय के सबसे बड़े सितारों के साथ बनाई गई ऐतिहासिक फिल्म 'हुमायूं' का परिणाम भी निराशाजनक ही रहा। इस स्थिति ने महबूब को पुनर्विचार के लिए प्रेरित किया। अब महबूब पुराने जमाने के प्रतिनिधि बन गए थे और उनका मुकाबला नए जमाने के फिल्मकारों से था। राजकपूर, चेतन आनंद, ख्वाजा अहमद अब्बास और कमाल अमरोही जैसे फिल्मकार नई ऊर्जा और सोच के साथ आ गए थे।

और यहीं महबूब ने फिर एक विस्फोट किया जब वे 1949 में 'अंदाज' के साथ सामने आए। इस एक फिल्म ने महबूब को एकबारगी सातवें आसमान पर पहुंचा दिया। वह भी इस तरह कि एक 'कल्ट' फिल्म बन गई और आज तक बनी हुई है। इस तरह कि जब भी कोई फिल्म प्रेम त्रिकोण बनाई गई इसकी छुअन से बचकर नहीं रह सकी। परंपरा और आधुनिकता का अद्भुत समन्वय कर सके महबूब 'अंदाज' में। अनेकानेक कारणों से हिंदी सिनेमा के इतिहास में यह अनूठी रचना बन गई और आज तक बनी हुई हैं पैंसठ साल गुजर जाने के बावजूद। यही महबूब का चमत्कार है। अपने समय में भविष्य के पार देखने की कूबत है। इसने जैसे महबूब को नवजीवन दिया और यहीं से महबूब की रचनात्मकता के तीसरे दौर की शुरुआत होती है।

महबूब ने अपनी रचनात्मकता के पहले 8 वर्षों के दौर में 11 फिल्में का सृजन किया। दूसरे 6 वर्षों के दौर में 6 फिल्में और तीसरे 14 वर्षों के दौर में कुल पांच फिल्में। 1949 में 'अंदाज', 1952 में 'आन', 1954 में 'अमर', 1957 में 'मदर इंडिया' और 1962 में 'सन ऑफ इंडिया'। 'अंदाज' ने महबूब को यह समझाइश दी कि अब सफलता और असफलता उसके लिए एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। उसका कद अब इन दुनियावी चीजों के उस पार है। उसकी प्राप्ति अब इसके आगे कुछ और है।

'अंदाज' में वह प्रेम त्रिकोण था जो इसके बाद फिर कभी रजतपट पर नुमाया नहीं हो सका। नरगिस, दिलीप कुमार और राजकपूर। नरगिस तो क्या दिलीप कुमार और राजकपूर तक फिर कभी एक साथ नहीं लाए जा सके। खुद राजकपूर तक अपनी पहली रंगीन फिल्म 'संगम' (1964) में लाख कोशिशों के बावजूद यह कर पाने में नाकामयाब रहे। यद्यपि राजकपूर, महबूब के प्रिय अदाकारों में कभी नहीं थे। वे तो यहां सिर्फ नरगिस के आग्रह के कारण लाए गए थे। इसके बाद फिर राजकपूर कभी महबूब की किसी फिल्म में नहीं आए। 1949 से 56

तक 'मदर इंडिया' के पहले महबूब भी नरगिस को अपनी किसी फिल्म के लिए नहीं ले सके। यह राज-नरगिस की अटूट अंतरंगता का समय था। जब 1956 में राज-नरगिस का संबंध अच्छा हुआ, तब ही उन्होंने अपनी आखिरी फिल्म की तरह ही 'मदर इंडिया' को स्वीकार किया।

1951 में जिस 'आवारा' ने राजकपूर को अंतरराष्ट्रीय ख्याति दी, वह कथा लेकर अब्बास पहले महबूब के पास ही गए थे। यदि बात नहीं बनी तो सिर्फ इसलिए कि महबूब को सब कुछ स्वीकार पर राजकपूर नहीं। वे बेटे की भूमिका में दिलीप को लेना चाहते थे और अब्बास इस बात पर दृढ़ थे कि पिता-पुत्र की भूमिका में पृथ्वीराज और राजकपूर ही होना चाहिए। यदि महबूब इस पर रजामंद हो जाते तो शायद आजादी के बाद के सिनेमा के आगामी बीस सालों का इतिहास ही बदल जाता।

'अंदाज' में दिलीप के मुकाबले राजकपूर की भूमिका संक्षिप्त है। पर राजकपूर के अभिनय की नेचुरल स्पॉनटेनिअसनैस ने इस संक्षेप में कमाल कर दिया है। इस तरह की खुद दिलीप कुमार ने भी इस सच्चाई को स्वीकार किया है। दरअसल राजकपूर ने महबूब के मन में स्पष्ट आधुनिकता के एकतरफा दुराग्रह के प्रति संकोच को साकार किया है। सारी सहानुभूति तो दिलीप के चरित्र के साथ जुड़ी हुई है वह अवैध होकर भी पौरुष को स्वीकार है। उसकी स्त्री के प्रति एकतरफा अधिकार भावना पुरुष के अहंकार को संतुष्ट करती है। स्त्री के सोच का कोई महत्व ही नहीं है। वह उसे निर्णय का अधिकार देना ही नहीं चाहता। महबूब बहुत साफ-साफ कहते हैं कि एक स्पष्ट सीमा से आगे बढ़ते ही स्त्री और पुरुष के बीच मित्रता में दैहिक संसर्ग का न होना एक असंभव आदर्शवाद है और तथाकथित आधुनिकता के बावजूद कोई पुरुष कम से कम अपनी संतान के पिता के रूप में तो ऐसी स्त्री को स्वीकार कर ही नहीं सकता। आधुनिकता को बाहरी आवरण की तरह स्वीकार कर जीवन नहीं चल सकता। समाज के स्वीकार-अस्वीकार का प्रश्न बहुत बाद में आता है। सबसे पहले यह आधुनिक कहा जाने वाला सोच हमें आपने अंतर्मन में स्वीकार करना होगा। क्या हम इसके लिए तैयार हैं? क्या हम स्त्री को एक से अधिक पुरुषों के साथ संबंध रखने के लिए स्वीकृति देने हेतु रजामंद हैं? और यदि ऐसा नहीं हैं तो यह आधुनिकता एक छद्म है। यह काल्पनिक उड़ान और बौद्धिक मनोविलास की वस्तु तो हो सकती है लेकिन व्यावहारिक जीवन की नहीं। क्या आज पैंसठ साल बाद भी यह व्यावहारिक सत्य नहीं है?

व्यवहार का सच तो यह है कि आज इस तथाकथित आधुनिक सोच ने स्त्री-पुरुष के संबंधों को और अधिक जटिल बना दिया है। उनके बीच की स्वाभाविकता को विकसित करने की जगह संकुचित किया है। स्त्री के लिए 'स्पेस' और अधिक सीमित किया है। आज भी पुरुष जिसे अपना स्वाभविक अधिकार मान लेता है वही अधिकार स्त्री को दने के लिए कतई तैयार नहीं हैं। यह तब ही मुमकिन है जब हम वैवाहिक संस्था को पूरी तरह निरस्त कर दें नारी प्रधान समाज को स्वीकार करें और संतान पर पिता के अधिकार को खारिज कर दें। वह सिर्फ मां के नाम से ही पहचानी जाए। उस पर पिता का कोई अधिकार न हो। हम यौन वर्जनाओं से मुक्ति को पूर्ण स्वीकृति प्रदान करें। क्या यह आज भी कहीं संभव हो सका है। इस संभावना तक को पुरुष सिर्फ अपने हित चिंतन तक ही स्वीकार करता रहा है।

इसलिए 'अंदाज' में सिर्फ आवरण ही आधुनिकता का है। अंतर्मन तो परंपराओं से गहरी आसक्ति में जकड़ा हुआ है। नायिका के पिता उससे कहते हैं- दुनिया में ऐसी बहुत बातें हैं जिन्हें

मदरसों में नहीं पढ़ाया जाता। जिन्हें कॉलेज के प्रोफेसर नहीं सिखा सकते उन्हें सिर्फ जिंदगी के अनुभव ही सिखाते हैं। उस शिक्षा के अभाव में हम अपने जीवन को सिर्फ त्रासदी के अंधेरे कुएं में धकेल सकते हैं। एक क्षणिक आवेगमय उत्ताप को जीने की कल्पना में संपूर्ण जीवन को नारकीय बना सकते हैं। स्त्री जिसे मित्रता समझती है, पुरुष उसे समर्पण मानकर अपने अधिकार क्षेत्र में उसके आगमन की सूचना मानता है और जिसे वह अपना अधिकारी पति कहती है वह भी इसे किसी अन्य रूप में स्वीकार नहीं करता।

सिर्फ नायिका का प्रेमी और पति ही ऐसा नहीं समझते, उसकी सहेली भी यही मानती है। जिसे थ्योरी के रूप में एक पल में स्वीकार कर हम आधुनिकता का ढोल पीटने लगते हैं, उसे प्रेक्टिकल में अमल में लाने के लिए युगों की साधना अनिवार्य होती है। क्या आज हम व्यावहारिक प्रत्यक्ष जीवन में बड़ें बौद्धिक पुरोधाओं तक को इस छद्म का शिकार हुआ नहीं देख रहे हैं? वह जमात जो रेप के लिए मृत्युदंड दिए जाने की गुहार लगा रही है, वही रोज हजारों दुष्कर्मों को अंजाम दे रही है। आधुनिकता बाहरी आवरण नहीं अंतर्मन के स्वीकार की भावना है। सिर्फ भारतीय ही नहीं दुनिया भर की स्त्रियां इस छद्म के दुष्परिणाम भुगत रही हैं। संबंधों की यह दुर्लंहय रेखा स्त्री और पुरुष दोनों के लिए लाजिमी है और इसका निर्धारण दोनों की सहमति से ही होना चाहिए।

'अंदाज' में पुरुष इस बारे में निर्णय अपने मनोभाव से लेना चाहता है स्त्री की सहमति से नहीं। यह ठीक है कि स्त्री उसे नहीं बतलाती कि वह किसी और के प्रति समर्पित है परंतु वह भी तो उसके सामने समर्पण का प्रस्ताव नहीं रखता। वह अपने अनुमान से तय कर लेता है कि वह उसके लिए समर्पित है। छल यदि है तो दोनों ओर समान है। भावनाओं के खेल में दो और दो जोड़ हमेशा चार ही हो ये जरूरी नहीं है। मनोजगत के इस द्वंद्व को तीनों केंद्रीय चरित्रों ने इतनी तन्मय अंतरंगता से जिया है कि दर्शक मात्र प्रेक्षक नहीं रह जाता, वह घटनाक्रम का अभिन्न अंग बन जाता है।

इसके गीतकार हैं मजरूह-जिनकी अर्थवत्तापूर्ण पंक्तियों को नौशाद ने जितने अनुराग से संगीतबद्ध किया है विशेष रूप से मुकेश ने उतने ही आंतरिक उल्लास और वेदना से डूबा स्वर श्रोताओं के दिलों में उतार दिया है- 'तू कहे अगर जीवन भर मैं गीत सुनाता जाऊं'-'हम आज कहीं दिल खो बैठे'-'टूटे न दिल टूटे ना'- और -'झूमझूम के नाचो आज गाओ खुशी के गीत'- ये चारों गीत फिल्म संगीत की अनमोल धरोहर हैं। लता के स्वर में- कोई मेरे दिल में खुशी बनके आया'- तोड़ दिया दिल मेरा, तूने अरे ओ बेवफ़ा' और लता-शमशाद का- 'डर न मुहब्बत कर ले' भी मनोमुग्धकारी गीत था। यूं तो अधिकांशतः दिलीप कुमार के लिए रफी और तलत ने ही स्वर दिया परंतु जब भी मुकेश को अवसर दिया गया तो उनके गाए गीत अमर हो गए। 'अंदाज' के अतिरिक्त 'यहूदी' में 'ये मेरा दीवानापन है यह मुहब्बत का सुरूर' और 'मधुमती' में - 'सुहाना सफर और ये मौसम हँसी' इसका प्रमाण है।

अंदाज की अपार सफलता के बाद महबूब ने 1952 में फिर भव्य स्केल पर टेक्नीकलर में 'आन' का निर्माण किया। इसक फिल्म का अनेक देशों में सफलतापूर्वक प्रदर्शन हुआ। इंग्लैंड में भी इस सराहा और देखा गया। एक फंतासी कथा जो भव्य रूप में ढाली गई थी भारत में अपेक्षाकृत कम पसंद की गई। पर महबूब के लिए सबसे बड़ी सफलता यह थी कि इसकी प्रशंसा में खुद उनके आदर्श सिसिल बी. डिमेले ने उन्हें सराहना का पत्र लिखा। महबूब के लिए इससे बड़ा अवार्ड कोई और नहीं था। यहूदी मूल की नादिरा को इसमें घमंडी राजकुमारी की तरह महबूब ने पेश किया।

भारतीय मानस उसके स्वरूप को नायिका की तरह स्वीकार नहीं कर सका। बाद में राजकपूर ने 1955 में नादिरा को 'श्री 420' में खलनायिका माया बनाकर पेश किया तो प्रशंसा भी मिली और वह फिल्म की ताकत भी बनी। पर 'आन' में उसे निम्मी के मुकाबले नायिका की तरह प्रस्तुत किया जाना दर्शकों को रास नहीं आया। उसके मर्दाना लुक ने उसे नायिका की तरह भारतीय जनमानस में स्वीकृत होने ही नहीं दिया। वर्ना इस फिल्म में वह सब कुछ था जो किसी फिल्म से टिकट खिड़की पर धूम मचवाता। है। खूबसूरत, आंखों को ठंडक पहुंचाने और दिलों में खलबली मचाने वाली दृश्यावलियों और भव्य सेट्स, दिलीप कुमार और प्रेमनाथ के लोमहर्षक तलवारबाजी के दृश्य और शकील के गीत तथा नौशाद का मुग्ध करने वाला संगीत- 'दिल में छुपा कर प्यार का तूफान ले चले, हम आज अपनी मौत का सामान ले चले'- 'आग लगी तन मन में दिल को पड़ा थमना, राम जाने कब होगा सैयां जी का सामना'- 'मान मेरा अहसान अरे नादान कि मैंने तुझसे किया है प्यार'- 'तुझे खो दिया हमने पाने के बाद, तेरी याद आई तेरे जाने के बाद'।

घमंडी राजकुमारी को एक साधारण युवक द्वारा सीधे रास्ते पर लाने का जो नुस्खा महबूब कारगर नहीं बना पाए, उसी की नकल 25 साल बाद मनमोहन देसाई 1977 में 'धरमवीर' में बेहद कामयाब बना ले गए। पर वह महबूब की नहीं उस छवि की असफलता थी जिसे महबूब ने चुना था। दर्शक अपने अजीज हीरो दिलीप कुमार के साथ नायिका की तरह नादिरा को कुबूल ही नहीं कर सके। शायद महबूब ने विदेशी दर्शकों को नजर में रखते हुए नायिका का चुनाव किया होगा। तब भी यह बड़ी नाकामयाबी नहीं थी। हां, इसके बड़े बजट की तुलना में मामूली सफलता जरूर थी।

पर महबूब के लिए बड़ी नाकामयाबी आगे जरूर खड़ी थी- और इस तरह से जिसे फिल्मकार अपनी सबसे ईमानदार और दिल के करीब फिल्म माने उसे दर्शक ठुकरा दे। 1954 में प्रदर्शित हुई 'अमर' के साथ यही हादसा पेश आया। यह महबूब के संपूर्ण कृतित्व में बिल्कुल अलग तरह का कथा चित्र है। यह मनुष्य की महानताओं की जगह उसकी कमजोरियों को अनावृत्त करता है। जाहिर करता है कि यह हाड़-मांस का पुतला अपनी कमजोरियों को दुलारकर और उनसे मुक्ति पाकर ही जीवन के अलौकिक आनंद का अनुसंधान करता है।

महबूब ने अपने दिल के बहुत नजदीक स्त्री की उस संवेदना को पाया जो पुरुष को जीवन के आनंद को अनुभव कर सकने और गहराई में उतरकर उस दिव्य ज्योति के आलोक को पहचान पाने की शक्ति देती है जो उसे देवत्व प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करती है। यह उन अनपढ़ गंवार ग्वालिन के आदिम प्रेम भाव की ईमानदारी से आधुनिक सभ्यता से कुंठित अहंकार में डूबे पुरुष के अहंकार के बीच द्वंद्व की कथा है जो उसकी क्षुद्रता को अपने उत्सर्ग से तिरोहित करती है। वह पुरुष जिसे वह अपने मनमंदिर में प्रतिभा की तरह स्थापित किए हुए है, उसी से बलात्कृत होती है तब भी उसके विरुद्ध जुबान नहीं खोलती। उसे आत्म वेदना की भट्टी में तपने का अवसर देकर खरा सोना बना देती है।

मनुष्य को आत्मानुसंधान कराने वाले आलोक से परिचित कराने वाली इस कथा को भव्यता से नहीं सादगी से चित्रित करने की आवश्यकता थी। इसके नायक की महामहिम छवि उसे क्षुद्रता की प्रतीति करा सकने की सामर्थ्य ही नहीं देती। यहां दिलीप कुमार की जगह किसी बलराज साहनी या मोतीलाल जैसे अभिनेता की आवश्यकता थी। मीना कुमारी की जगह मधुबाला को नायिका की तरह लाना दूसरी भूल थी जो महबूब को दिलीप के व्यामोह या दबाव में करनी पड़ी। यह निम्मी के उत्कर्ष की फिल्म है। इस आदिम नारी गंध से परिचित कराने वाली नायिका को अभी तक उसे

सिनेमा में अभूतपूर्व योगदान के लिए उसी तरह नहीं पहचाना गया है जिस तरह अमर का नायक उसके समर्पण के अनाभिव्यक्त सौंदर्य को नहीं पहचान पाता।

शकील के गीत और नौशाद का संगीत यहां भी था और वह दर्शकों को अनुरंजित करता है। 'इंसाफ का मंदिर है ये भगवान का घर है' और 'न मिलता गम तो बर्वादी के अफसाने कहां जाते-' आज भी अपनी पूरी ताजगी के साथ मौजूद हैं। 'अंदाज' के बाद महबूब सृजन में नित नवीन प्रयोग करना चाहते थे। अब वे महज आर्थिक सफलता से संतुष्ट नहीं हो सकते थे। वे फिल्म इंडस्ट्री के निर्विरोध नेता भी बन गए थे और देश के पहले प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू के न सिर्फ बहुत नजदीक थे अपितु उनसे गहरा अनुराग रखते थे। वे नव स्वतंत्र देश को अलौकिक गरिमा देने वाले सिनेमाई अनुभव से आलोकित करना चाहते थे। इसके लिए वे फिर अतीत में लौटे और 'अमर' के बाद उन्होंने भव्य स्तर पर आजाद मुल्क में 'औरत' के पुनर्निर्माण की योजना बनाई। नरगिस और राजकपूर के संबंध विच्छेद के बाद उन्हें नरगिस सुलभ हो गईं, जिसके बगैर 'मदर इंडिया' की कल्पना भी नहीं की जा सकती। फिल्म समीक्षक बाबू राव पटेल ने इस तरह खुले दिल से कभी किसी फिल्म की प्रशंसा नहीं की थी। उन्होंने इसे हॉलीवुड की किसी भी महानतम फिल्म का मुकाबला कर सकने वाली फिल्म बतलाते हुए यह भी कहा कि अपनी विषयवस्तु के स्तर पर तो उनसे बहुत-बहुत आगे की महान फिल्म है। नरगिस के बारे में उनके शब्द- 'रिमूव नरगिस एंड देयर इज नो मदर इंडिया। शी इज बोथ द बॉडी एंड सोल ऑफ द पिक्चर। नर्गिस रीचेज सच रेअर हाइट्स ऑफ इमोशंस दैट इट विल बी डिफीकल्ट टू फाइंड अनादर आर्टिस्ट इन द एंटायर फिल्म वर्ल्ड टुडे टू कंपेयर विद हर। नर्गिस लिव्ज द रोल बैटर देन राधा कुड हैव लिव्ड इट।'

1957 में प्रदर्शित हुई 'मदर इंडिया' आज 56 साल बाद भी वैसी ही नई नवेली तरो-ताजा वर्तमान की फिल्म है। ऐसी फिल्म जिसके बारे में कहा जा सकता है कि महबूब ने यदि बाइस फिल्में नहीं बनाई होतीं, एक अकेली मदर इंडिया ही बनाई होती तब भी उनकी कीर्ति अक्षुण्ण रहती। इस फिल्म का यह रिकॉर्ड था कि प्रथम प्रदर्शन के दशकों बाद भी जब ये फिल्म कहीं भी किसी भी सिनेमाघर में प्रदर्शित होती थी तो हाउसफुल चढ़ती थी और हाउसफुल ही उतरती थी। अब इक्कीसवीं सदी में जब मल्टीप्लेक्स संस्कृति ने पुरानी फिल्मों का सिनेमाघरों में प्रदर्शन बाधित कर दिया है तब भी यह टेलीविजन के अन्यान्य चैनलों पर अक्सर प्रदर्शित होती रहती है। यह मातृत्व को अर्पित की गई अनन्य श्रद्धांजलि है। ऐसा चित्रपट जो हमें अपने क्षुद्रताओं से मुक्त होने की सामर्थ्य देता है। इसके कथा विस्तार में जाने की आवश्यकता इसलिए नहीं है क्योंकि बार-बार इसे दोहराया जा चुका है और वह करोड़ों दिलों में अंकित है। हिंदी के यथानाम तथागुण प्रखर कथाकार सुबोध कुमार श्रीवास्तव ने 'वसुधा' के सिनेमा विशेषांक में इस पर विस्तृत आलेख 'भारतीय कृषक जीवन का दृश्य महाकाव्य' शीर्षक से लिखा था।

नरगिस के अतिरिक्त सुनील दत्त, राजकुमार, राजेंद्र कुमार, कुमकुम, मुकरी, जिल्लोबाई, मास्टर साजिद, चंचल, अजरा, सितारा देवी और कन्हैयालाल इसके प्रमुख कलाकार थे। गीतकार शकील और संगीतकार नौशाद की एक रचना आज तक जनमानस को उद्वेलित करती है- 'पी के संग आज प्यारी दुल्हनियां चली'- 'ओ मेरे लाल आजा'- 'ओ आने वालो जाओ न घर अपना छोड़ के'- 'उमरिया कटती जाए रे'- 'नगरी-नगरी द्वारे-द्वारे द्वारे ढूंढूं रे सांवरिया'- 'न मैं भगवान हूं न मैं शैतान हूं'- 'खट खट करती खुट खुट करती गाड़ी हमरी जाए'- 'घूंघट नहीं खोलूंगी सैंयां तोरे आगे', 'दुख भरे दिन बीते रे भैया अब सुख आयो रे' और विलक्षण होली गीत- 'होली आई रे कन्हाई, रंग छलके सुना दे

जरा बांसुरी'- जिसके एक अंतरे की पंक्तियां किसी भी काव्य सौंदर्य का प्रतिमान बनने का सामर्थ्य रखती हैं 'छूटे न रंग ऐसी रंग दे चुनरिया, धोबनियां धोए चाहे सारी उमरिया।'

महबूब दिलीप कुमार के प्रति अत्यंत मोहग्रस्त थे और यहां भी वे उन्हें बिगड़ैल बेटे बिरजू की भूमिका में लेना चाहते थे। पर फिल्म के सौभाग्य से यह मुमकिन नहीं हो सका। इसका एक कारण यह बतलाया जाता है कि जिसके साथ नायक की भूमिकाएं कीं, उसका बेटा बनाना उन्हें ठीक नहीं लगा। दूसरा यह भी कि उन्हें नायिका के मुकाबले फिल्म में स्पेस बहुत संकुचित लगा इसलिए वे नायिका के पुत्र और पति की दोहरी भूमिका करना चाहते थे। बहरहाल जो भी हो, पर यह बेहतर हुआ कि वे फिल्म में नहीं हुए, वर्ना उसके संतुलन का प्रभावित न होना नामुमकिन था।

'औरत' के कथानक से महबूब ने एक ही महत्वपूर्ण परिवर्तन किया था। वहां पति आर्थिक संकुचन की स्थिति में जब नायिका चौथी बार गर्भवती होती है तब आत्मग्लानि वश उसे छोड़ जाता है। यहां वह अपंग होने पर पलायन करता है। 'मदर इंडिया' का अग्निकांड प्रसंग नरगिस और सुनील दत्त के विवाह का कारक बना था और 'औरत' की नायिका सरदार अख्तर से खुद महबूब ने विवाह किया था।

1962 में प्रदर्शित हुए 'सन ऑफ इंडिया' महबूब की अंतिम और एकमात्र असफल फिल्म थी। असफल आर्थिक क्षति से भी कहीं बहुत आगे इस संदर्भ में कि यह वह फिल्म है जिसमें निर्देशक दिशाहीन प्रतीत होता है। जैसे उसे खुद ही मालूम न हो कि वह क्या कहना चाहता है। इसे महबूब ने 'मदर इंडिया' से भी बढ़कर भव्य स्तर पर बनाया था, वह भी सिनेमास्कोप में। महबूब ने गुरुदत्त की 'कागज के फूल' (1959) के सिनेमास्कोप में बनाए जाने के हादसे भी नहीं सीखा कि भारत में इस तरह की फिल्म के प्रदर्शन के लिए उचित सिनेमाघर ही नहीं हैं। यद्यपि इसके लिए महबूब ने अनेक सिनेमाघरों को इस पद्धति की फिल्म के प्रदर्शन हेतु विकसित कराया था पर यह असफलता इसलिए दुखद थी क्योंकि यह 'कागज के फूल' की तरह 'महान असफलता' नहीं थी। यह एक कमजोर फिल्म की असफलता थी जिसे महबूब को भीतर से हिला दिया। उन्हें विचलित कर दिया।

1962 में भारत-चीन युद्ध की त्रासदी ने जिस तरह उनके आदर्श नेहरू का दिल तोड़ा ठीक उसी तरह 'सन ऑफ इंडिया' की असफलता से महबूब बेहद निराश हुए। यह फिल्म उन्होंने बिल्कुल नए कलाकारों और नायक के रूप में 'मदर इंडिया' में बालक बिरजू का किरदार अदा करने वाले साजिद को लेकर बनाई थी। यह वह समय था जब फिल्म इंडस्ट्री का माहौल भी नई करवट ले रहा था। फिल्मकारों के मुकाबले सितारों का कद ऊंचा हो रहा था और स्वाभिमानी फिल्मकार के लिए अपने नजरिए की फिल्म बना पाना दिन-ब-दिन मुश्किल होता जा रहा था। महबूब का स्वास्थ्य भी गिर रहा था। इन्हीं परिस्थितियों के बीच उन्हें एक और गहरा आघात लगा। 27 मई 1964 को नेहरूजी की मृत्यु का समाचार उनके ऊपर बिजली की तरह गिरा और उन्हें हार्ट अटैक आया। अगले दिन 28 मई 1964 को वे भी इस फानी दुनिया से महज 57 साल की उम्र में विदा हो गए।

(लेखक वरिष्ठ फिल्म विश्लेषक हैं और सिनेमा पर उनकी कई पुस्तकें प्रकाशित हैं)

समानांतर सिनेमा के सारथी : राय से ऋतुपर्ण तक

कृपाशंकर चौबे

चालू सिनेमा से अलग भी सिनेमा की एक दुनिया है जो सपनों के जाल में हमें भरमाती नहीं, बल्कि जीवन और समाज की जटिलताओं के यथार्थ का हमें साक्षात्कार कराती है। सिनेमा की इस दूसरी दुनिया के निर्माताओं में थे सत्यजित राय और ऋत्विक घटक। उनके समानांतर और लगभग सहयात्री हैं मृणाल सेन। भारत में कला फिल्म की शुरुआत बांग्ला फिल्म 'पथेर पांचाली' (1955) से मानी जाती है, जिसके निर्देशक सत्यजित राय थे। इसी तरह हिंदी में समानांतर सिनेमा की शुरुआत 'भुवन सोम' (1969) से मानी जाती है, जिसका निर्देशन मृणाल सेन ने किया था। बात सत्यजित राय (1921-1992) से शुरू करें तो उनका विश्व सिनेमा में कोई सानी नहीं है। उनकी कालजयी फिल्मों- 'पथेर पांचाली', 'अपराजितो', 'जलसाघर', 'कंचनजंघा', 'चारुलता', 'अशनि संकेत', 'घरे बाइरे', 'पारस पाथर', 'देवी', 'तीन कन्या', 'प्रतिद्वंद्वी', 'गणशत्रु' और 'आगंतुक' को देखकर आज भी बहुत कुछ सीखा जा सकता है। राय ने छोटी-बड़ी कुल 37 फिल्मों का निर्देशन किया। उनकी हर फिल्म कैसे शाश्वत फिल्म बन गई? शिल्प के कारण या कथ्य के कारण? या दोनों के कारण? कई बार तो राय के यहां शिल्प ही कथ्य भी प्रतीत होता है। उनके यहां कथ्य के भीतर पैठकर ही शिल्प उभरता है। मोहक छायांकन, विलक्षण रंगबोध और दृश्य संयोजन के मामले में तो राय सदैव अनन्य रहे। यह बड़ा दिलचस्प है कि राय को हिंदी नहीं आती थी पर हिंदी में उन्होंने पहले 'शतरंज के खिलाड़ी' बनाई, बाद में 'सद्गति'। ऐसा कर उन्होंने हिंदी को अविस्मरणीय सिनेमाई अनुभव से भी समृद्ध किया।

सत्यजित राय की पहली फिल्म 'पथेर पांचाली' 1955 में आई थी और उस पहली ही फिल्म से ही राय पूरी दुनिया में मशहूर हो गए थे। आज भी 'पथेर पांचाली' की प्रासंगिकता असंदिग्ध है। ऐसी फिल्म हर युग में प्रासंगिक बनी रहती है। कहना न होगा कि दुर्गा-अपू भी युग-युग तक तक अम्लान रहेंगे, चिर नवीन रहेंगे। मनुष्य को जीवन भर संग्राम करना पड़ता है और हरिहर या अपू हमारे ही जीवन संग्राम के प्रतिनिधि हैं। 'पथेर पांचाली' ने जब देश-विदेश में धूम मचा दी तो मुंबई फिल्मोद्योग के कुछ व्यक्तियों को यह नागवार लगा था। नरगिस दत्त ने कहा था, 'देश की दरिद्रता को बेचकर विदेश से धन लाया जा रहा है। विदेशों में इस फिल्म का प्रदर्शन तत्काल बंद कराया जाना चाहिए। दरिद्रता की ऐसी कारुणिक छवि विदेशों में दिखाने से नहीं चलेगा।' यह फिल्म क्या वास्तव में सिर्फ दरिद्रता की छवि है? कहने की जरूरत नहीं कि इस फिल्म में दरिद्रता ही आखिरी बात नहीं है। 'पथेर पांचाली' प्रकृति के साथ एकात्म होकर संघर्ष करते हुए मुनष्य के जीवन दर्शन का संधान करती है। पूरी दुनिया

को बंगाल के प्राकृतिक सौंदर्य ने मुग्ध किया था। निश्चिंदपुर का सोनाडांगा माठ न्यूयॉर्क के फिफ्थ एवेन्यू में लोगों ने देखा था। आम का बगीचा, बंसवाडी और उनका सौंदर्य सबने देखा-सराहा था। आज भी बंगाल में हजारों-हजार अपू और दुर्गा हैं। पढ़ने-लिखने का अधिकार सिर्फ अपू का है, दुर्गा का नहीं। दुर्गा को घर का काम करना है और कुपोषण जनित रोगों से मर जाना है। दीदी की मृत्यु का दृश्य देखकर हॉल में दर्शक रो पड़े थे। जो फिल्म इतनी असर करने वाली है, उसके निर्माण में सत्यजित राय को बहुत संघर्ष करने पड़े थे। 'पथेर पांचाली' के निर्माण में कई बार बाधाएं आईं। प्रायोजक की तलाश में सत्यजित राय को कहां-कहां नहीं भटकना पड़ा। राना दत्ता एंड कंपनी ने प्रायोजक बनाना स्वीकार किया और 40 हजार रुपये देने की बात कही तो 1953 में शूटिंग शुरू हुई। एक-तिहाई शूटिंग पूरी हुई तो राना दत्त एंड कंपनी ने फिल्म का प्रायोजक होने से मना कर दिया। फलतः शूटिंग बंद। फिर प्रायोजक ढूंढ़ने की कवायद हुई, पर कोई सफलता नहीं मिल रही थी। सत्यजित राय की पत्नी विजया राय के गहने बंधक रखकर कुछ दिन शूटिंग हुई कि फिर बंद। आठ महीने बाद अनिल चौधरी ने प्रस्ताव दिया कि मुख्यमंत्री विधानचंद्र राय से मदद मांगी जाए। सत्यजित राय की मां सुप्रभा देवी ने अपने मित्र के मार्फत मुख्यमंत्री विधानचंद्र राय से संपर्क किया। मुख्यमंत्री ने सत्तर हजार रुपये फिल्मकार को दिए। सत्यजित राय कहते भी थे कि विधानचंद्र राय और मिस्टर निकलसन के कारण ही 'पथेर पांचाली' बन पाई थी। तत्कालीन राज्य सरकार की वित्तीय मदद के फलस्वरूप 'पथेर पांचाली' की 1954 में नए सिरे से फिर शूटिंग शुरू हुई। राज्य सरकार से पैसा पाने के बाद राना दत्त एंड कंपनी के चालीस हजार रुपये वापस किए गए। बंधक रखे गए विजया राय के गहने छुड़ाए गए। द्रुत गति से फिर शूटिंग शुरू हुई।

'पथेर पांचाली' की पूरी पटकथा कभी नहीं लिखी गई। कागज पर सत्यजित राय कुछ नोट लिखते थे और स्केच बनाते थे। राय का जीवन शहर में बीता था फिर भी इसे फिल्माने में उन्हें दिक्कत नहीं हुई क्योंकि विभूति भूषण बंद्योपाध्याय की इस कथाकृति में गांव के पूरे परिवेश का बारीकी से विवरण है। विभूति बाबू की पत्नी रमा बंद्योपाध्याय ने भी सत्यजित राय को अधिकार दिए थे और राय के पास तब रमा देवी को कॉपीराइट के लिए पैसे देने की भी सामर्थ्य नहीं थी। बहरहाल राज्य सरकार की वित्तीय मदद के बाद फिल्म की शूटिंग पूरी हुई। दिन-रात लगकर राय ने एडिटिंग की ओर 26 अगस्त, 1955 को फिल्म रिलीज हुई। 111 मिनट की फिल्म कान, एडिनबरा, बर्लिंग, न्यूयॉर्क, तोक्यो, डेनमार्क समेत बारह फिल्मोत्सवों में 'पथेर पांचाली' पुरस्कृत हुई। फिल्म को कई अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार मिले। जब देश-विदेश में फिल्म की धूम मच गई तो उन लोगों का मुंह भी बंद हो गया जो आर्थिक मदद करने के लिए विधानचंद्र राय की आलोचना कर रहे थे। देश-विदेश में फिल्म की धूम मचने पर 27 जनवरी, 1957 को 'पथेर पांचाली' का सम्मान समारोह कोलकाता में आयोजित हुआ। उसमें विधानचंद्र राय को फिल्म दिखाई गई। फिल्म देखकर वे मुग्ध हुए। उस समारोह में उन्होंने कहा था कि 'पथेर पांचाली' ने पूरी दुनिया में भारत का नाम रोशन किया है। फिल्म के क्षेत्र में भी हम सीना तानकर दुनिया के सामने खड़े हो सकते हैं- यह 'पथेर पांचाली' ने साबित कर दिया है। विधानचंद्र राय की ही पहल पर तत्कालीन प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने फिल्म देखी और उन्होंने भी प्रशंसा की। विख्यात फिल्म समीक्षक मैरी ने फिल्म देखने के बाद कहा था, 'राय विश्व सिनेमा में महानतम हैं।' सचमुच सत्यजित राय विश्व सिनेमा के जीनियस थे। सिनेमा

को कला के उत्कर्ष पर ले जाने में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका उन्होंने निभाई। यह भूमिका वही निभा पाता है जो अपने कला कर्म में अपने समय से मुठभेड़ करे। राय की हर फिल्म समय और उसकी चुनौती से मुठभेड़ करती है। बानगी के बतौर 'अपराजितो' का संदर्भ ले सकते हैं। एक मां और उसके वयस्क होते एकलौते पुत्र के बीच के संबंध को फिल्म मार्मिक ढंग से अभिव्यक्त करती है। पढ़ने के लिए अपू अपनी मां से बहुत दूर चला जाता है और जब लौटता है तो मां गुजर चुकी होती है। गांव का कोई भी आदमी अपू को उसकी मां की मृत्यु के बारे में कुछ नहीं कहता। यह फिल्म देखते समय शायद ही कोई मां बगैर रोए रह पाई हो। यह बूढ़ों को अंदर से हिला देनेवाली और बर्बर समय से सामना करानेवाली विलक्षण फिल्म है। मां और वयस्क बेटे के संबंध के विश्लेषण और प्रदर्शन में सत्यजित राय ने यथार्थ दृष्टिकोण अपनाया है। प्रकारांतर से यह फिल्म यह सवाल भी छोड़ जाती है कि वैश्वीकरण के इस युग में जब समूची दुनिया एक हो रही है, विश्व जब एक ग्राम में परिणत हो रहा है, उसी वक्त संयुक्त परिवार बिखर रहे हैं। मां और पुत्र भी एक साथ नहीं रह पा रहे हैं। यह सवाल बहुत दारुण है, कारुणिक है और मर्म से भरा हुआ है। यह सवाल फिल्म में चीख बन जाता है। ऐसी ही चीखें सत्यजित राय की हर फिल्म में हम सुन सकते हैं।

सत्यजित राय के समकालीन ऋत्विक घटक की पहली फिल्म 'नागरिक' 1952 में ही बन गई थी किंतु उनके जीवनकाल में प्रदर्शित नहीं हो पाई थी। 'बाड़ी थेके पालिए' (1956), 'अजांत्रिक' (1958), 'मेघे ढाका तारा' (1960) और 'कोमल गांधार' ने ऋत्विक को एक समर्थ फिल्मकार की पहचान दी। उसी दौर में ऋत्विक की फिल्म 'स्वर्णरेखा' भी आई थी। उसके बाद लंबे समय तक वे चुप रहे। 1974 में उन्होंने 'तितास एकटि नदीर नाम' और 'जुक्ति तोक्को आर गप्पो' नामक फिल्में बनाईं। इन फिल्मों के कथ्य, ध्वनि प्रयोग, दृश्यक्रम और दृश्य संयोजन की नाटकीयता ने दर्शकों को अभिभूत कर दिया था। 'स्वर्णरेखा' में क्या उस ध्वनि प्रयोग और दृश्य संयोजन को कभी भूला जा सकता है, जब अमानवीय हालातों के कारण नायिका आत्महत्या कर लेती है और लिफ्ट में उतरते कैमरे के साथ त्रासदी की ध्वनियां सुनाई देती हैं और आंखें अंधेरे में जैसे पाताल लोक पहुंच जाती हैं, फिर रोशनी जब होती है तो खून के छींटे दिखते हैं। 'तितास एकटि नदीर नाम' में जिस जन समुदाय को ऋत्विक ने दर्शाया, वह अब नहीं मिलता क्योंकि नदी के साथ ही वह समुदाय भी सूख गया है। उस लुप्त संस्कृति की झलक अब सिर्फ फिल्म में ही हम देख सकते हैं। बांग्लादेश के कट्टरपंथियों में इस फिल्म को लेकर जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई थी क्योंकि फिल्म के अधिकरतर चरित्र हिंदू हैं।

ऋत्विक की फिल्मों में अतीत के प्रति एक खास मोह दिखता है। अतीत में जाकर ही फिल्मकार वर्तमान को देखता है। बंगाल के विभाजन का संदर्भ हमेशा उनका पीछा करता है। इस पार और उस पार के बंगाल का विभाजन भले हो गया, ऋत्विक ने दोनों ओर के बंगाल के सांस्कृतिक विभाजन को कभी स्वीकार नहीं किया। उनकी फिल्में इसका सबूत हैं। उनके यहां सबसे बड़ी बात यह है कि शिल्प को परे खिसकाकर कथ्य कुछ भी नहीं रह जाता। शिल्प के साथ कथ्य इसी तरह वे गूंथते थे। उन्होंने 'स्वर्णरेखा' में सीता और 'तितास एकटि नदीर नाम' और 'जुक्ति तोक्को आर गप्पो' में मां दुर्गा की झलक इस तरह दिखाई कि जननी की जगतव्यापी छवि साकार हो उठी। देवी के अलावा ऋत्विक की फिल्मों में अक्सर साधु व फकीर प्रकट हो जाते हैं। लोक जीवन को अभिव्यक्त करने के लिए ऋत्विक ऐसा करते हैं। उन्होंने

फिल्मों में लोक गीतों का प्रयोग भी इस मकसद से किया है कि दर्शक सैकड़ों साल पहले की व्यथा से अवगत हो सकें और आज के हालात से उसकी तुलना कर सकें।

ऋत्विक के व्यक्तिगत जीवन को और तत्कालीन परिवेश को समझने की कुंजी उनकी फिल्म 'जुक्ति तोक्को आर गप्पो' देती है। नीलकंठ (ऋत्विक) पियक्कड़ है और उसकी फकीरी के कारण उसकी पत्नी (तृप्ति मित्र) से उसके रिश्ते तनावपूर्ण हैं। पुत्र (ऋजुभान घटक) के अलावा कई लोग उसके साथ हो लेते हैं। खास तौर पर बांग्लादेश बनने के बाद इस पार आई बंगबाला (सांवली मित्र), तब नक्सलवाद जोर पकड़े हुए है। समाज में एक धुंध छाई है। पुलिस की गतिविधि बढ़ी हुई है। जोतदारों और किसानों में संघर्ष चल रहा है। इन सारे हालातों में नीलकंठ तिलमिला देनेवाली टिप्पिणयां करता है। पुलिस व नक्सलियों की मुठभेड़ में नीलकंठ मारा जाता है। उसकी मौत के उपरांत उसकी पत्नी उसे कबूल करती है। इस फिल्म में ऋत्विक नक्सलियों को जो समझाते हैं, वही फिल्म का संदेश है कि अपनी संस्कृति के सुदूर व निकट अतीत को समझे बिना वर्तमान का अध्ययन नहीं किया जा सकता और अतीत व वर्तमान को समझे बिना द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के आईने में देश-काल और परिस्थितियों का विश्लेषण किए बगैर क्रांति का प्रयास निरर्थक है। इस वक्तव्य में वे उग्रवादी वामपंथी समूहों को भविष्य की एक दिशा देने का प्रयत्न करते हैं। ऋत्विक की फिल्मों का मूल संदेश यह है कि भविष्य को देखो। यानी वे कहना यह चाहते हैं कि तमाम त्रासदियों, विडंबनाओं के बावजूद मनुष्य आगे बढ़ता रहेगा। यही उनकी कामना है। यह कामना एक औघड़ फिल्मकार की कामना है।

सत्यजित राय और ऋत्विक घटक के समकालीन मृणाल सेन की पहली फिल्म 'रातभोर' 1956 में आई थी और पिछली फिल्म 'आमार भुवन' आज से ठीक दस साल पहले 2003 में आई थी। मृणाल दा भाषा बंधन की अनूठी मिसाल पेश करनेवाले फिल्मकार हैं। उन्होंने अपनी मातृभाषा बांग्ला के अलावा उड़िया, तेलुगु और हिंदी में भी फिल्में बनाईं। मृणाल सेन ने महादेवी वर्मा की कहानी 'चीनी फेरीवाला' पर 1958 में बांग्ला में 'नील आकाशेर नीचे' शीर्षक से फिल्म बनाई थी तो 1966 में कालिंदीचरण पाणिग्रही के उपन्यास 'माटीर मनीश' पर इसी शीर्षक से उड़िया में फिल्म बनाई और 1977 में प्रेमचंद की कहानी 'कफन' पर तेलुगु में 'ओका ओरि कथा' बनाई थी। मृणाल दा ने 1969 में 'भुवन सोम' बनाई थी जिसे हिंदी में समानांतर सिनेमा को जन्म देने का श्रेय दिया जाता है। कुल अठाइस फीचर फिल्मों का निर्देशन करने वाले मृणाल दा के खाते में 'एक अधूरी कहानी', 'मृगया', 'खंडहर', 'जेनेसिस' और 'एक दिन अचानक' जैसी श्रेष्ठ हिंदी फिल्में भी हैं। दिलचस्प यह है कि मृणाल दा को हिंदी नहीं आती। फिर भी फिल्म निर्देशन में उनके समक्ष भाषा की समस्या कभी आड़े नहीं आई। जिस भाषा में उन्होंने फिल्म बनाई तो वहां की स्थानीय लोकोक्तियों को व्यवहृत किया। 'ओका ओरि कथा' बनाते समय मृणाल दा ने तेलंगाना के स्थानीय लोगों से पूछा था कि 'तू डाल डाल मैं पात पात' के लिए कौन सी लोकोक्ति तेलुगु में चलती है तो वहां उन्हें जो बताया गया, उसका हिंदी अनुवाद होगा-'तू मेघ मेघ, मैं तारा तारा।' जिस भाषा में मृणाल दा फिल्म बनाते थे तो सबसे पहले वहां के मुहावरे और लोक व्यवहार में ढल जाते थे। वैसे यदि एक भाषा की लोकोक्तियां दूसरी भाषा में आएं तो जाहिर है कि दूसरी भाषा को भी वे समृद्ध करेंगी। स्थानीय लोक व्यवहार पर जोर देने के अलावा मृणाल दा हमेशा अपनी हर फिल्म को तीन कसौटियों पर कसते रहे हैं। एक- टेक्स्ट, जिस पर फिल्म आधारित होती है। दूसरा- सिनेमा का फार्म, जिसमें

कलाकारों के परमार्मेंस पर ध्यान दिया जाता है और तीसरा- समय। फिल्म जब अपने समय से जुड़ती है तभी प्रासंगिक बनती है। कदाचित इन कसौटियों पर कसने के कारण ही मृणाल दा 28 श्रेष्ठ कला फिल्में, तीन गंभीर वृत्त चित्र और दो टेली फिल्में दे सके।

मृणाल दा की फिल्में आज के हिंसा-प्रतिहिंसा के भयावह परिवेश में मनुष्य को बचाने की चिंता पूरी शिद्दत से करती हैं। मृणाल सेन के यहां यह चिंता एक मूल्य बन जाती है। उदाहरण के लिए उनकी पिछली फिल्म 'आमार भुवन' को ही लें तो उस फिल्म के आरंभ में ही युद्ध, दंगे और असहाय बच्चे की तस्वीर आंखों के सामने तैर जाती है। यह दृश्य सिर्फ दो मिनट का होता है किंतु विचारणीय है कि क्या यह आज के समय की सबसे बड़ी ग्लोबल सच्चाई नहीं है? कहना न होगा कि यह ग्लोबल सच्चाई ही मनुष्य से उसकी पहचान छीन रही है, उसके बचे रहने की संभावना को क्षीण कर रही है, और तो और, उसे मानव बम बना रही है। विध्वंस के दृश्यों के बीच परदे पर मोटे-मोटे अक्षरों में एक पंक्ति उभरती है- 'पृथ्वी भांगछे, पुड़छे, छिन्न-भिन्न होच्छे। तबू मानुष बेंचे थाके ममत्वे, भालोबासाय, सहमर्मिताय।' यानी 'पृथ्वी टूट रही है, जल रही है, छिन्न-भिन्न हो रही है। तब भी मनुष्य बचा रहता है, ममत्व, प्यार और संवेदना के कारण।' टूटती-जलती छिन्न-भिन्न होती पृथ्वी के दृश्य दिखाने के बाद फिल्म दर्शकों को उस लोक में ले जाती है, जहां हिंसा नहीं है, प्रतिहिंसा नहीं है, विद्वेष नहीं है, वातावरण विषाक्त नहीं है और यह सब गरीबी के बावजूद नहीं है। उस लोक में ममत्व है, प्यार है, संवेदना है और एक-दूसरे को समझने की इच्छा बची हुई है। वहां बड़े भाई के हाथों 'मानुष' हुए नूर अली हैं। चौदहवीं शताब्दी में चंडीदास ने कहा था- 'सुनो हे मानुष भाई/ सबार ऊपोरे मानुष सत्य/ ताहार ऊपोरे नाई।' यानी मनुष्य से ऊपर कोई सत्य नहीं है। बंगाल में हम रोज किसी न किसी माता-पिता के मुंह से सुनते हैं- 'छेले-मे के मानुष कोरते होबे।' यानी सिर्फ पढ़ाना-लिखाना पर्याप्त नहीं, मानुष बनाना जरूरी है।

फिल्म का नाम 'अमार भुवन' है जिसका हिंदी भाषांतर होगा- 'मेरी पृथ्वी।' इस पृथ्वी में एक ओर संपन्न लोगों (नूर) की दुनिया है, दूसरी ओर निर्धन मेहर का निरीह संसार। मेहर-सखीना के अभावग्रस्त संसार, उनकी व्यथा और यथार्थ को फिल्म मार्मिकता से दिखाती है। मेहर-सखीना के संसार को मृणाल सेन संकेतों, बिंबों, प्रतीकों के जरिए समग्रता में और पूरी संवेदना के साथ इस तरह दिखाते हैं कि उसमें पूरा भारतीय जीवन ही दिखने लगता है। अभाव के भाव को और उसकी कथा को मृणाल सेन स्मरणीय सिनेमाई अनुभव बना देते हैं।

नूर अपने यहां भोज देता है जिसमें बूढ़े चटर्जी महाशय भी पहुंचते हैं और पूछते हैं- मुझे न्यौतना क्यों भूल गए? एक मुसलमान की पार्टी में हिंदू को लाकर फिल्मकार ने सांप्रदायिक सद्भाव की बात कहनी चाही है। मृणाल सेन उस पृथ्वी की बात करते हैं या वैसी पृथ्वी चाहते हैं जहां संप्रदायों में सद्भाव है, जहां विलगाव के बावजूद प्रेम है। यदि ऐसी पृथ्वी हो जाए तो क्या कहने! इसलिए अविश्वास और विध्वंस के इस समय में मृणाल सेन यदि 'आमार भुवन' जैसी कथा फिल्म रचते हैं तो उनकी यह रचना (कल्पना) भी तात्पर्यपूर्ण है। यह फिल्म रवींद्रनाथ ठाकुर के गान से समृद्ध है। फिल्म में 'ममचित्ते' शीर्षक गीत बार-बार आया है और श्रीकांत आचार्य की आवाज में जंचता भी है। इस तरह फिल्म की समृद्धि में स्थिर चित्रों का भी योगदान माना जाना चाहिए। शुरू में जो स्थिर चित्र दिए गए हैं, वे कलात्मकता के रचनात्मक तत्वों को पर्याप्त उभारते हैं और फिल्म के आशय को पुष्ट करते हैं। 'रातभोर' से

लेकर 'आमार भुवन' तक मृणाल दा की हर फिल्म अपने समय और समय की चुनौतियों से जूझती है। हर फिल्म में मृणाल सेन को उनका समय गाइड करता है- हिंसा-प्रतिहिंसा-विद्वेष के विरुद्ध खड़ा होने के लिए, प्रेम के लिए, ममत्व के लिए, मनुष्य को बचाने के लिए।

सत्यजित राय, मृणाल सेन और ऋत्विक घटक की समानांतर सिनेमा की परंपरा को जो नए फिल्मकार निरंतर आगे बढ़ा रहे हैं, उनमें गौतम घोष अनन्य हैं। पिछले चार दशकों के दौरान गौतम ने 'पार', 'पतंग', 'गुड़िया', 'दखल', 'अंतर्जली यात्रा', 'पद्मा नदीर माझी', 'मां भूमि', 'आबार अरण्ए', 'देखा', 'यात्रा', 'कालबेला', 'मनेर मानुष' और 'बाइशे श्राबन' जैसी कलात्मक और दृष्टिसंपन्न फिल्में बनाकर खुद को सार्थक सिनेमा का योद्धा साबित किया है। बांग्लाभाषी गौतम घोष ने तेलुगु में 'मां भूमि' नामक फिल्म बनाकर और हिंदी में 'पार', 'गुड़िया' और 'यात्रा' जैसी फिल्में बनाकर भाषा सेतु बंधन भी किया। एक ऐसे समय में जब सार्थक सिनेमा की सांसें फूल रही हैं और ढेर सारे गंभीर फिल्मकार चालू फिल्मों की ओर लौट रहे हैं, गौतम घोष ने अपना ढंग नहीं बदला है। उनकी फिल्मों में एक स्पष्ट वैचारिक दृष्टि दिखाई पड़ती है। वे हमेशा कोई न कोई बड़ी समस्या उठाते हैं। देश में जब धर्मांधता की समस्या बढ़ गई तो गौतम घोष ने सुनील गंगोपाध्याय के उपन्यास 'मनेर मानुष' पर इसी नाम से फिल्म बनाई। 'मनेर मानुष' बंगाल के प्रसिद्ध लोक कलाकार लालन फकीर के जीवन पर केंद्रित है। यह फिल्म धर्मांधता के खिलाफ जबर्दस्त सिनेमाई हस्तक्षेप है। यह फिल्म उस सूफी संत लालन फकीर के जीवन दर्शन को उभारती है, जिन्होंने हिंदुओं और मुसलमानों दोनों की धार्मिक कट्टरता का जवाब प्रेम और करुणा की एक नई परंपरा की नींव डालकर दिया। उस बाउल परंपरा में सबसे ऊपर मानुष है। 'मनेर मानुष' फिल्म दिखाती है कि गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर के अग्रज और अपने जमाने के बहुचर्चित चित्रकार ज्योतींद्र नाथ ठाकुर लालन फकीर को अपने घर आमंत्रित करते हैं और जीवन एवं जगत के बारे में कई अहम मुद्दों पर उनसे बातचीत करते हैं। ठाकुर के प्रश्नों का जवाब लालन फकीर गाकर देते हैं। वह 1889 का अविभाजित बंगाल है। लालन फकीर के जीवन को फ्लैश बैक में देखते हुए दर्शक को एक विस्मयकारी देशकाल की यात्रा करने की अनुभूति होती है। यह फिल्म जीवन और समय के बारे में एक अद्भुत संगीतमय आख्यान है। 19वीं सदी के अंतिम दिनों के बंगाल का देशकाल अत्यंत जीवंतता के साथ प्रस्तुत होता है। इस फिल्म में मूल उपन्यास को हू-बहू नहीं उतारा गया है, अपितु उपन्यास में कतिपय परिवर्तन किया गया है। कहानी के ट्रीटमेंट के साथ मामूली परिवर्तन का अधिकार फिल्मकार को है।'मनेर मानुष' बनाने के पहले सुनील गंगोपाध्याय की ही रचना पर आधारित 'आबार अरण्ये' नामक फिल्म गौतम घोष ने बनाई थी। कला फिल्में भी हिट हो सकती हैं, इसे 'मनेर मानुष' की तरह 'आबार अरण्ये' ने भी साबित किया था। 'आबार अरण्ये' दरअसल सत्यजित राय के 'अरण्ये दिन रात्रि' का उत्तर पक्ष है बल्कि यों कहें कि उत्तर आधुनिक पक्ष है। वैसे 33 वर्षों में काफी परिवर्तन आ गया है। देह में, मन में और जीवन जगत में भी। सुनील गंगोपाध्याय, शक्ति चट्टोपाध्याय समेत चार मित्र जीवन की आपाधापी से कुछ दिनों के लिए निजात पाने के लिए अरण्य (जंगल) घूमने गए थे। उसी भ्रमण पर सुनील गंगोपाध्याय ने कहानी लिखी और उस पर 1969 में सत्यजित राय ने फिल्म बनाई- 'अरण्ये दिनरात्रि।' 1969 में जो चार मित्र अरण्य घूमने गए थे, उनमें एक शेखर (रवि घोष) का निधन हो गया है। बाकी बचे तीन मित्र असीम (सौमित्र चटर्जी), संजय (शुभेन्दु चटर्जी) और हरि (सुमित भंज) अब साठ

साल पार कर रहे हैं। उनके बेटे-बेटियां जवान हो गए हैं। अपर्णा (शर्मिला टैगोर) और असीम (सौमित्र चटर्जी) की बेटी (तब्बू) अमेरिका में पढ़कर और 9 सितंबर की वर्ल्ड ट्रेड सेंटर उड़ाए जाने की घटना में प्रेमी को गंवा कर लौटी हैं। चूंकि वह हिंसा में प्रेमी को गंवा कर लौटी हैं। चूंकि वह हिंसा में प्रेमी को गंवा चुकी हैं, इसलिए किसी भी तरह की हिंसा को देखकर सिहर उठती हैं। टीवी पर हिंसा के दृश्य देखते हुए पत्थर फेंककर टीवा का कांच तोड़ देती हैं। उसके स्वाभाविक जीवन को लौटाने के लिए तीनों मित्र फिर जंगल में घूमने जाने की योजना बनाते हैं। सत्यजित राय इन मित्रों को पलामू के जंगल ले गए थे और गौतम घोष उत्तर बंगाल ले जाते हैं। प्रकृति की नैसर्गिक छटा का असर यह होता है कि भ्रमण पर आए ये चारों मित्र अपनी-अपनी तरह से प्रकृति के सौंदर्य में डूबते हैं। गाते हैं, नृत्य करते हैं, महुआ पीते हैं। आनंद ही आनंद है। लेकिन सारा आनंद बेचैनी में बदल जाता है जब असीम अपर्णा की बेटी अचानक गायब हो जाती है। बाद में पता चलता है कि वह आदिवासी समूह के बीच पहुंच गई है। वहां वह आदिवासियों के कल्याण के लिए मां-पिता को पत्र लिखकर तीन लाख रुपये की मांग करती है। दूसरे शब्दों में आदिवासी उसका अपहरण कर चुके हैं और उसकी रिहाई के लिए तीन लाख रुपये की फिरौती मांगते हैं। उन तीन लाख रुपयों से मास्टर साब आदिवासियों का बहुविध कल्याण करना चाहते हैं। मास्टर-साब को पैसे मिलते ही नहीं, अंततः गिरफ्तार होना पड़ता है। रिहा होने के बाद तब्बू अपने परिजनों से कहती है- 'बंच ऑफ हिप्पोक्रेट्स'। जंगल में जंगल पुत्रों (आदिवासियों) के बीच तब्बू जितनी देर रहती है, उनकी स्थिति पर 'रिएक्ट' करती है। उनके बीच काम करना चाहती है, युद्ध की विभीषिका के खिलाफ भी वह 'रिएक्ट' करती है। फिल्म में दो-दो पीढ़ियां हैं पर नई पीढ़ी में रिएक्ट सिर्फ तब्बू करती है। जंगल हो और उसमें जंगलपुत्रों का जीवन न हो, यह कैसे संभव है। जंगलपुत्रों का अभावग्रस्त जीवन और उनके शोषण की महागाथा को गौतम घोष ने मार्मिक तरीके से दिखाया है। बंगाल की राजनीतिक अस्थिरता को चाय बागान और जंगलपुत्रों और मास्टर साहब के जरिए चित्रित किया गया है। तैंतीस-चौंतीस साल पहले की फिल्म 'अरण्ये दिन रात्रि' की क्लिपिंग्स दिखाकर मानो गौतम सत्यजित राय को ही दिखा देते हैं। फिल्म में सत्यजित राय तो हैं फिर भी गौतम अपनी मौलिकता बनाए रखते हैं। घोष इस फिल्म में सत्यजित राय को विस्तार देते हैं। राय को यह सच्ची श्रद्धांजलि है। अपनी तरह की अनोखी श्रद्धांजलि। रवींद्रनाथ ठाकुर और चे गुएवेरा के गीत और शक्ति चट्टोपाध्याय की कविता फिल्म को नया ताप देती है। जीवन में काव्य आवृत्तिकार के रूप में प्रतिष्ठित किंवदंती अभिनेता सौमित्र चटर्जी शक्ति की कविता की आवृत्ति करते हैं। सौमित्र चटर्जी, शर्मिला टैगोर, तब्बू, शुभेंदु चटर्जी, गुलशन आरा चम्पा, सुमित भंग, रूपा गांगुली, शाश्वत चटर्जी, यीशु सेनगुप्त और अरुण मुखर्जी ने अपनी भूमिकाओं के साथ न्याय किया है। निर्देशन, संगीत, कहानी, पटकथा गौतम घोष की है। सिनेमेटोग्राफी भी उन्हीं की थी। 'आबार अरण्ए' के पहले गौतम ने 'देखा' बनाई थी। उदारीकरण की आंधी में हमारे आस-पास की चीजें टूट रही हैं, किंतु त्रासदी यह है कि उस टूट-फूट और क्षयशीलता को आंख होते हुए भी हम संवेदनहीनता के अंधत्व के कारण नहीं देख पा रहे हैं। दूसरी तरफ कुछ अंधे अपनी जागृत संवेदना के कारण इस क्षय को देख रहे हैं। इस संदर्भ को रुपहले पर्दे पर दिखाकर गौतम घोष ने 'देखा' को एक अत्यंत महत्वपूर्ण फिल्म कृति बना दिया है। गौतम घोष ने इस फिल्म को गहरे अंतर्दृष्टि के साथ रचा है। 'देखा'की तरह गौतम घोष की हर फिल्म

हमारी पथराई संवेदना पर गहरी कविता की तरह चोट करती है।

गौतम घोष के ही समकालीन हैं बुद्धदेव दासगुप्त। उनकी फीचर फिल्मों-'दुरत्व', 'नीम अन्नपूर्णा', 'गृहयुद्ध', 'शीत ग्रीष्मेर स्मृति', 'अंधी गली', 'फेरा', 'बाघ बहादुर', 'ताहादेर कथा', 'चराचर', 'लाल दरजा', 'उत्तरा', 'मंद मेयेर उपख्यान', 'स्वप्नेर दिन', 'आमि यासिन आर आमार मधुबाला', 'कालपुरुष' और 'जानला' ने भारतीय कला सिनेमा को नया आयाम दिया है। वेनिस, बर्लिन, कान, मांट्रियाल आदि अंतरराष्ट्रीय फिल्म महोत्सवों में कई बार उनकी फिल्में शामिल हुई हैं। उन्होंने 1968 में पंद्रह मिनट की पहली लघु फिल्म बनाई थी-'समयेर काछे'। उसी समय उन्होंने तय कर लिया था कि वे सदा सार्थक फिल्में ही बनाएंगे। आज तक उन्होंने इस मामले में समझौता नहीं किया। फिल्मकार को हर समय लड़ना पड़ता है अपने वृत्त के भीतर और वृत्त के बाहर भी। उसमें कठिन परिश्रम करना पड़ता है। 'बुद्धदेव दासगुप्त ने फिल्मों के अलावा दर्जन भर वृत्त चित्र बनाए। उन्हीं में एक है- 'जोड़सांको ठाकुरबाड़ी'। एक घंटे का यह वृत्तचित्र सिर्फ रवींद्रनाथ पर नहीं है। यह ठाकुरबाड़ी भी सिर्फ रवींद्रनाथ की नहीं है। यह द्वारिकानाथ, देवेंद्रनाथ, अवनींद्रनाथ, गगनेंद्रनाथ, सुनयना देवी की भी उतनी ही है। कलकत्ता में ही ठाकुरबाड़ी से बड़े भवन हैं पर दुनिया में कोई ऐसा घर नहीं, जहां सांस्कृतिक धारा की निरंतरता दो सौ वर्षों तक बनी रहे। ठाकुरबाड़ी ने नवजागरण को जन्म दिया। कम्युनिस्ट पार्टी की शुरुआत यहीं हुई। स्वदेशी और राजनीतिक चेतना को इसने प्रखरता दी। बांग्ला संगीत और चित्रकला को नए आयाम दिए। ठाकुरबाड़ी से कई विभूतियों की कहानियां जुड़ी हैं। उन सबको समेटता है यह वृत्तचित्र। जोड़ासांको ठाकुरबाड़ी ने साहित्य को कलाओं से जोड़ा था। इस जुड़ाव को महसूस करते रहना किसी फिल्मकार के लिए बहुत जरूरी होता है। कविता और चित्रकला के साथ ही संगीत को भी जोड़ लीजिए तो इन तीन भिन्न-भिन्न कला रूपों के साथ सिनेमा का एक अटूट संबंध है। जब बुद्धदेव दासगुप्त फिल्में बनाते हैं तो ये तीनों कला रूप प्रेरणा का काम करते हैं और नई नान स्टेटिक इमेज रचने में मदद पहुंचाते हैं। बुद्धदेव के लिए सिनेमा का मतलब सिर्फ कहानी कहना भर नहीं है। उसमें आख्यान भी रहता है। पर आवरण में। फिल्म के दर्शक कम हैं या अधिक, मूल्यांकन का यह आधार नहीं होना चाहिए। आधार गुणवत्ता होनी चाहिए और गुणवत्ता की दृष्टि से बुद्धदेव दासगुप्त बहुत ऊपर हैं। नई बाजार व्यवस्था और खगोलीकरण के इस युग में भी अच्छा सिनेमा ही उद्वेलन पैदा करता है। बुद्धदेव की फिल्मों की सार्थकता यहीं है।

गौतम घोष और बुद्धदेव दासगुप्त से उम्र में छोटे थे ऋतुपर्ण घोष (31 अगस्त 1963-30 मई 2013)। उन्होंने कला फिल्म बनाने की परंपरा को आगे बढ़ाने के लिए आजीवन रचनात्मक संघर्ष किया। चलचित्र निर्माण में उन्होंने 1992 में कदम रखा था। उसी साल उनकी पहली निर्देशित फिल्म 'हीरेर आंगटि' (हीरे की अंगूठी) 1992 में रिलीज हुई। उसके बाद उन्होंने बीस फिल्मों- 'उनीशे एप्रील' (1994), 'दहन' (1997), 'बाड़ीवाली' (1999), 'असुख' (1999), 'उत्सव' (2000), 'तितली' (2002), 'शुभ मुहूर्त' (2003), 'चोखेर बाली' (2003), 'रेनकोट' (2004), 'अंतर्महल' (2005), 'दोसर' (2006), 'द लास्ट लियर' (2007), 'खेला' (2008), 'सब चरित्र काल्पनिक' (2008), 'आबहवान' (2010), 'नौका डुबी' (2010), 'आर एक टि प्रेमेर गल्प' (2011), 'मेमोरीज इन मार्च' (2011), 'सन ग्लास' (2012) और 'चित्रांगदा' (2012) का निर्देशन किया। ऋतुपर्ण ने एक तरफ 'रेनकोट' और 'सन ग्लास' जैसी श्रेष्ठ हिंदी फिल्में बनाईं

तो 'द लास्ट लियर' और 'मेमोरीज इन मार्च' जैसी अंग्रेजी फिल्में भी। ऋतुपर्ण की विशेषता यह थी कि उनकी फिल्में जीवन, समय और समाज के मूल प्रश्नों की तरफ दर्शक का ध्यान खींचने की सामर्थ्य रखती हैं। ऋतुपर्ण द्वारा निर्देशित अंतिम बांग्ला फिल्म 'चित्रांगदा' थी जो पिछले साल रिलीज हुई थी। 'चित्रांगदा' जैसी साहसी फिल्म बहुत कम बनी है। 'चित्रांगदा' में पुरुष पात्र के अंदर स्त्रियोचित गुणों के होने को जिस ढंग से ऋतुपर्ण ने पर्दे पर उतारा है, वह अप्रतिम है। पूरी दुनिया में फिल्म निर्देशक के रूप में मशहूर होने के बाद दो साल पहले ऋतुपर्ण ने एक नई पारी शुरू की-अभिनेता के रूप में। ऋतुपर्ण ने 'आर एकटि प्रेमेर गल्प', 'मेमोरीज इन मार्च' और 'चित्रांगदा' में अभिनय भी किया। ऋतुपर्ण हमेशा समय के सुलगते सवाल उम्दा ढंग से उठाते थे। उदाहरण के लिए उन्होंने समलैंगिकता को अत्यंत संवेदनशील तरीके से उठाया था। वे मानते थे कि समलैंगिकता समाज की एक हकीकत है और इसके प्रति घृणा का भाव नहीं रखा जाना चाहिए। अपने समलैंगिक संबंधों को उन्होंने अपने वक्तव्य के रूप में उसे पर्दे पर उतारा। सिनेमा में इस तरह का साहस विरल उदाहरण है।

ऋतुपर्ण घोष की बांग्ला फिल्म 'आर एकटि प्रेमेर गल्प' (और एक प्रेम कहानी) में बताया गया है कि एक समलैंगिक निर्देशक का फिल्म के नायक से साथ प्रेम-संबंध कैसे स्थापित हो जाता है। इसी तरह उनकी एक अन्य फिल्म 'मेमोरीज इन मार्च' भी दो समलैंगिक प्रेमियों की कहानी है। फिल्म उस दर्द और पीड़ा को भी सामने लाती है जो एक मां झेलती है। वह मां एक सड़क हादसे में बेटे को खो चुकी है। इस हादसे के बहुत दिनों बाद जब मां को यह पता चलता है कि उसके बेटे का एक पुरुष प्रेमी भी था, तो उसे एक और झटका लगता है। और अचानक वह अपने बेटे की जिंदगी के एक अनछुए पहलू से रू-ब-रू होती है। 'मेमोरीज इन मार्च' कहानी है एक मां की और उसके स्वर्गवासी बेटे के प्रेमी की, और किस तरह से दोनों अपने अपने दुख बांटते हुए एक दूसरे के करीब आ जाते हैं। कुल मिलाकर कहने का आशय यह है कि सत्यजित राय से लेकर गौतम घोष-ऋतुपर्ण घोष तक की सार्थक फिल्म यात्रा की धारावाहिकता बेहद तात्पर्यपूर्ण है।

(लेखक म.गां.अं.हि.वि., वर्धा के संचार एवं मीडिया अध्ययन केंद्र में एसोसिएट प्रोफेसर और कोलकाता केंद्र के प्रभारी हैं)

मणि कौल का सिनेमा और हिंदी

प्रयाग शुक्ल

मणि कौल की अधिकतर फिल्में हिंदी की साहित्यिक कृतियों पर ही केंद्रित/आधारित हैं। 'सतह से उठता आदमी' (मुक्तिबोध) 'उसकी रोटी' (मोहन राकेश) और 'नौकर की कमीज' (विनोद कुमार शुक्ल) का ध्यान इस सिलसिले में सहज ही हो आता है। फिर 'दुविधा' (विजयदान देथा) भी है- राजस्थानी/हिंदी में। इस तथ्य के स्मरण के साथ यह बात भी सहज ही ध्यान में आती है कि वह भाषा से संबंधित या उसको सोचता हुआ सिनेमा भर नहीं है- वह भाषा को सोचता हुआ सिनेमा भी है। इस नाते मणि कौल का सिनेमा हिंदी में बनी हुई फिल्मों से बहुत अलग है: फिर वे चाहे बॉलीबुड की फिल्में हो या समांतर सिनेमा की फिल्में।

यह तो सर्वज्ञात है कि कोई भी भाषा किसी अन्य माध्यम/विधा में व्यवहृत होते ही, एक अलग प्रकार की भूमिका में उतर जाती है, फिर वह चाहे कविता-कहानी-नाटक-उपन्यास-निबंध में बरती जा रही हो, या रंगमंच, सिनेमा और संगीत में। पर, यह भी होता ही है कि उसकी यह भूमिका कभी-कभी इतनी सघन, तीव्र, गहरी, एकाग्र और मौलिक हो सकती है कि उस पर अलग से सोचने की जरूरत महसूस होती है। मणि कौल की फिल्मों में हिंदी की भूमिका पर, भाषा की भूमिका पर, अलग से सोचने और चर्चा करने की ऐसी ही जरूरत सचमुच महसूस होती है, क्योंकि वह सिने भाषा में, सिने माध्यम में, भाषा का व्यवहार कुछ ऐसा सोचने और खोजने के लिए किया जा रहा है जो किसी मानवीय अर्थ और बोध को छवियों के साथ मिलकर बहुत गहरा कर रहा हो।

जब उसकी 'रोटी' फिल्म रिलीज हुई थी तो उसे यह कहकर बहुतों के द्वारा कोसा गया था कि वह अत्यंत शिथिल और उबाऊ है, कि उसके 'विलंबित लय' वाले संवाद अत्यंत असहज लगते हैं। तब इस बात को भुला दिया गया था कि संवादों की इस प्रकार की अदायगी का अपना अर्थ और मर्म है। दुर्भाग्यवश मणि कौल के सिनेमा को लेकर यह बात इतनी बार दुहराई गई कि आम दर्शक का ध्यान तो उसकी ओर से कटता ही गया, जिन्हें हम प्रबुद्ध दर्शक कहेंगे वे भी उनके सिनेमा को लेकर उस तरह उत्साहित नहीं हुए, जिस तरह कि होना चाहिए। उदयन वाजपेयी की एक पुस्तक 'अनेक आकाश' जरूर एक अपवाद की तरह सामने आई, और कुछ कवियों-लेखकों सिने-प्रेमियों की वे टिप्पणियां भी जो मणि कौल के सिनेमा को 'खारिज' करने की जगह उसकी खोज-परक यात्रा को समझने का यत्न करती हुई मालूम पड़ीं।

यह भी कम दुर्भाग्य की बात नहीं थी कि मणि कौल के सिनेमा को लेकर यह धारणा भी बनी, बनाई गई- और प्रचारित भी हुई- कि उनका सिनेमा पश्चिम के फिल्मकारों से प्रेरित सिनेमा है। जबकि स्थिति यह है कि वह फेलिनी, इंगमार बर्गमैन, फ्रांसुआ त्रुफो, गोदार आदि-आदि के सिनेमा से कहीं रोल नहीं खाता। हां, उसमें ऋत्विक घटक के सिनेमा की

'प्रतिध्वनियां' अवश्य हैं, जो मणि कौल के 'गुरू' और पथ प्रदर्शक थे। अच्छी बात यह भी है कि मणि 'प्रतिध्वनियों' पर ही नहीं रुके, अपनी तरह की सिने-भाषा की खोज में लगे रहे। प्रसंगवश, यहां यह भी याद करने की जरूरत है कि मणि कौल का संगीत से गहरा संबंध था और उन्होंने स्वयं ध्रुपद सीखा, और अंनतर कुछ देशी-विदेशी शिष्यों को सिखाया भी। यह स्वाभाविक ही था कि सिनेमा में भी वह शब्द-भाषा को सांगीतिक रचना का-सा आधार देकर, भाषा-मर्म की कई तहों को टटोलते-खंगालते। 'सिद्धेश्वरी देवी' जैसी वृत्तात्मक फिल्म में मणि कौल ने बनारस के घाटों, गंगा, और इमारतों के भीतर-बाहर के दृश्यों को जिस तरह फिल्माया है, और शब्दों की बारी आने पर, इन सबके बीच उन्हें तैयारा-गुंजाया है, उसका मर्म फिल्म देखते हुए ही समझा जा सकता है- उसे लिखकर बताना बहुत मुश्किल ही है। सो, वह यत्न में नहीं करूंगा। अपने को एक बार यह-याद जरूर दिलाऊंगा कि अगली बार जब भी 'सिद्धेश्वरी' को देखने का अवसर आए तो उसमें शब्द-व्यवहार को लेकर अपनाए गए दृष्टिकोण को लेकर और सजग रहूं। स्मृति के आधार पर -फिल्म की स्मृति के आधार पर- अभी तो एक चीज का ध्यान और गहरा रहा है कि मणि ने अपनी फिल्मों में शब्द को 'प्रहरों' के आधार पर जिस तरह बरता है, उस पर भी ध्यान जाना ही चाहिए। कोई पहर रात का है, दिन दुपहर-शाम का है, और वह क्या करूं... क्या करूं... कह' रहा है और शब्द-माध्यम से (छवियों के बीच) उस पर और क्या कसर या 'कहलवाया' जा सकता है, इस पर उनकी पकड़ अचूक रहती है।

यह भी गौर करने वाली बात है कि मणि कौल की जिन फिल्मों में, शब्द-व्यवहार गौण है- जैसे कि 'माटी मानस' में, वहां भी छवियों को फिल्मकार के द्वारा भाषा में ही सोचा जा रहा है- 'माटी मानस', दृश्यों का, माटी निर्मित चीजों का, फिल्मांकन मात्र नहीं है, पर दृश्य कुछ कह रहा है, और उस दृश्य के पीछे से भाषा मानों बिन बोले भी, बोल रही है, हमें गहरे में स्पर्श भी कर रही है। यह एक 'जादू' है, जिसे मणि ने लाघव के साथ साधा है। अगर ऐसा न होता, हर दृश्य एक 'क्या' भी न करूं रहा होता, तो 'माटी मानस' जैसा लंबा वृत्त-चित्र, एक फीचर फिल्म का-सा आनंद हमें न दे पाता। 'सतह से उठता आदमी' ही भाषा के 'अचूक' और नितांत नए तेवरों के कारण अपूर्व है ही।

मणि की अपनी भाषा तो कश्मीरी थी, पर, जब हिंदी को उन्होंने बरता तो उसमें इतना गहरे पैठकर बरता, कि उस पर तो कोई अलग से भी 'अध्ययन' कर सकता है। मैं यह टिप्पणी, अपनी बेटी वर्षिता के यहां, त्रांदाइम (नार्वे) में बैठकर लिख रहा हूं, जहां फिलहाल इस बात का अवकाश नहीं है कि मैं मणि कौल की कुछ फिल्मों को पुनः देखता, और कुछ अधिक संदर्भ-सामग्री जुटाता। मणि पर लिखे गए लेखों और टिप्पणियों की प्रतिलिपियां भी नहीं हैं, जो भारत में घर पर हैं। पूरी टिप्पणी स्मृति के आधार पर लिखी है, और उन चीजों के आधार पर, जो मन में बसी हुई हैं- मणि के सिनेमा को लेकर।

और कह सकता हूं कि 'स्मृतियां' कई हैंः सिद्धेश्वरी देवी के फिल्मांकन के बीच मीता वशिष्ठ का स्वर जिस तरह तरंगित होकर एक-एक शब्द को ध्वनित करता है, और स्वयं अभिनेत्री की देह जिस तरह जल की सतह के भीतर-ऊपर तरंगित होकर देह-भाषा से भी बहुत कुछ कहती है-और देह-भाषा और शब्द भाषा, अपनी अपनी तरंगों में अलग होते हुए, कहीं मिल भी जाते हैं, वह अपूर्व है। शब्द भाषा से कब, कैसा, और कितना, काम लेना है, इस पर मणि का सोच निश्चय ही एक अलग प्रभाव डालता है। छवियों के सिलसिले में 'दुविधा' का

'गुड़ प्रसंग' ने भी मुझे बहुत आकर्षित किया था।

मणि के साथ अपनी मुलाकातों की भी कई स्मृतियां हैं। एक बार मणि, मैं, चित्रकार मनजीत बाबा, और दो-एक अन्य मित्र कार से चंडीगढ़ और फिर वहां से जालंधर गए थे, और साथ ही दिल्ली लौटे थे। मणि की दृष्टि बेधक थी। वे बातें करते थे। मुखर थे। जालंधर के रास्ते में जब हम कहीं कुछ खाने-पीने के लिए किसी ढाबे पर रुकते थे, तो किसी दृश्य, वस्तु, व्यक्ति, प्रसंग, पर उनकी टिप्पणी देखने-सुनने वाली होती थी। कुछ स्मृतियां किसी चित्र-प्रदर्शनी को साथ-साथ देखने की भी हैं। हम 'स्मृतियों' के विवरणों को कुछ भूल भी जाते हैं। और बातचीत भी हूबहू कहां याद रहती है। पर, स्मृति में किसी से मिलने-बातियाने' का और उस 'सुख' का एक बोध बना रहता है। वही बोध मणि से 'मिलने' का मन में बना हुआ है।

क्या मणि अपने सिनेमा में भी स्मृति (यों) के 'बोध' की बात ही नहीं करते, ओर नैरेटिव के बोझ को उतारकर फेंक नहीं देते। और जब शब्द-भाषा के माध्यम से किसी संवाद या उच्चारण को रखते हैं तो बस स्मृति के, उसके मर्म को गहरा करने के लिए ही रखते हैं-शब्दों का कोई अपव्यय किए बिना!

(लेखक वरिष्ठ कवि और संगीत नाटक अकादेमी की पत्रिका 'संगना' के संपादक हैं)

बिमल राय का रचना संसार

मनमोहन चड्ढा

भारतीय सिनेमा के विकास में बंगालीभाषी और मराठीभाषी समाज का विशिष्ट योगदान रहा है। सिनेमा का जन्म सन 1896 में माना जाता है। बंगाल के हीरा लाल सेन सन् 1902 से ही फिल्मों के प्रति आकर्षित हो गए थे। उन्होंने कई फिल्मों का आयात किया और इस नए आविष्कार को वे राजा-महाराजाओं के दरबार तक ले गए और वहां इन फिल्मों का प्रक्षेपण-प्रदर्शन किया।

सन् 1913 में दादा साहब फाल्के ने भारतीय सिनेमा को जमीन प्रदान की और भारतीय सिनेमा के मूक युग का आरंभ हुआ। इस युग के अनेक व्यवसायी फिल्मकारों के साथ-साथ जिन समर्थ फिल्मकारों का नाम लिया जाता है उनमें दो नाम प्रमुख हैं- बाबूराव पेंटर और धीरेंद्रनाथ गांगुली। दोनों ने यथार्थपरक और सार्थक फिल्में बनाईं।

सिनेमा में ध्वनि के आगमन की आहट सुनाई देने से पूर्व ही कलकत्ता का न्यू थिएटर्स आकार ले चुका था और फिल्म उद्योग को नया रंग देने की तैयारी शुरू हो चुकी थी। न्यू थिएटर्स के दो आरंभिक बड़े निर्देशक थे, देवकी बोस और नितिन बोस।

सन् 1935 में पच्चीस-छब्बीस वर्ष की आयु में बिमल राय ने न्यू थिएटर्स में नौकरी की शुरुआत की। आरंभ में वे नितिन बोस के सहायक कैमरामैन रहे लेकिन जल्दी ही उन्हें स्वतंत्र कार्यभार संभालने का अवसर मिल गया। स्वतंत्र छायाकार के तौर पर बिमल राय की पहली फिल्म प्रमथेश नाथ बरुआ द्वारा निर्देशित 'मुक्ति' थी।

सन् 1939 में द्वितीय महायुद्ध आरंभ हो गया और कलकत्ता युद्ध की जद में आ गया। सन् 1940 से 1945 के बीच के समय में कलकत्ता शहर के नागरिकों ने सिनेमाघरों को अपना आश्रय स्थल बनाया। जहां तक फिल्म संबंधी जानकारी का प्रश्न है 'किस्मत' नामक फिल्म (अब कोलकाता) कलकत्ता के सिनेमाघर में तीन वर्ष तक हाउसफुल रही।

यही नहीं 1941-42 में आईं 'कंगन', 'बंधन' और 'झूला' फिल्में भी सुपरहिट रहीं। ऐसा लगता है कि 1940-46 के बीच के समय में भीड़ सिनेमाघरों पर टूट रही थी। उस समय के समाचार पत्रों तथा अन्य उपलब्ध सामग्री के आधार पर उस समय की मानसिकता पर शोध कार्य होना चाहिए। एक ओर भारत का स्वतंत्रता संग्राम अपने अंतिम चरण में था, दूसरी ओर आजाद हिंद फौज के स्वागत की तैयारी थी और तीसरी ओर फिल्मों के प्रति बढ़ता आकर्षण था।

ऐसे समय में सन् 1944 में बिमल राय द्वारा निर्देशित प्रथम फिल्म 'उदेर पाथे' प्रदर्शित हुई। कहा जाता है कि इस फिल्म को देखने के लिए अपार जन समूह की उत्सुकता अभूतपूर्व थी। एक वर्ष बाद इसका हिंदी संस्करण 'हमराही' संपूर्ण भारत में प्रदर्शित हुआ।

सुप्रसिद्ध फिल्म समीक्षक इकबाल मसूद ने लिखा है, 'मद्रास के स्टार थिएटर में मैंने बिमल राय की 'हमराही' फिल्म देखी। मद्रास में यही एक सिनेमाघर था, जहां हिंदी फिल्में दिखाई जाती थी। मैं एक सामान्य व्यावसायिक फिल्म देखने गया था। मैं फिल्म के निर्देशक या फिल्म के बारे में कुछ भी नहीं जानता था।

'लेकिन फिल्म ने मुझ पर गहरा असर छोड़ा। शायद यह एक समाजवादी फिल्म थी। उन दिनों इंग्लैंड में समाजवाद आ चुका था लेकिन भारत के वामपंथी युवक खुद को अकेला पा रहे थे। सांस्कृतिक स्तर पर सब कहीं घटिया लोकप्रिय कला का बोलबाला था। मुझे आज भी स्मरण है कि 'हमराही' ने मुझमें उत्साह का संचार कर दिया था।'

आज के समीक्षक 'हमराही' को रोमांटिक यथार्थवादी फिल्म कहते हैं। उस समय इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग आरंभ नहीं हुआ था। आज की शब्दावली में कहूं तो 'हमराही' मुझे 'अपने समय से आगे की' या 'भविष्य की फिल्म' लगी थी। दूसरे शब्दों में कहूं तो, 'जिस प्रकार के समाज में हम जी रहे थे और जिस भविष्य की हम कल्पना करते थे। उसके अनुरूप यह फिल्म थी। हम जवान थे और अच्छा लगता था कि फिल्म में एक लखपति की बेटी एक वामपंथी युवक से प्यार करती है।''

यह लंबा उद्धरण यह भी बताता है कि हमारे यहां अच्छी फिल्म समीक्षाओं का हमेशा अकाल रहा है। खोजने पर भी चौथे, पांचवें या छठे दशक की फिल्मों पर प्रबुद्ध दर्शकों की तात्कालिक या समकालीन टिप्पणियां हमें नहीं मिल पातीं। अपनी प्रथम फिल्म से ही बिमल राय समर्थ निर्देशक के रूप में स्थापित हो गए थे।

'हमराही' मूलतः एक शोषक राजेंद्रनाथ तथा एक शोषित अनूप की कथा है। यह पहली हिंदी फिल्म थी, जिसमें शोषक तथा शोषित का द्वंद्व साफ होकर उभरा था। अनूप एक शिक्षित बेरोजगार युवक है और अपनी मां तथा बहन के साथ रहता है। अनूप की बहन सुमित्रा एक दिन अपनी सहेली गोपा के घर एक खुशी के अवसर पर जाती है। इस पार्टी में धनाढ्य वर्ग के लोग एकत्रित हैं। सुमित्रा पर चोरी करने का आरोप लगा दिया जाता है और वह अपमानित होकर घर लौट आती है।

इधर बेरोजगार अनूप को काम मिल जाता है। उसी का एक लेखक मित्र जो एक पत्रिका का संपादक भी है, अनूप को बताता है कि राजेंद्रनाथ नाम के करोड़पति को एक प्रचार अधिकारी चाहिए। इस प्रचार अधिकारी का काम है, करोड़पति के लिए भाषण तैयार करना। अनूप यह काम स्वीकार कर लेता है। राजेंद्रनाथ को भी अनूप का काम पसंद आता है। अनूप द्वारा लिखे गए भाषणों को सभाओं में सुनाकर राजेंद्रनाथ बहुत लोकप्रिय हो जाता है। एक दिन जब अनूप इस मिल मालिक की लाइब्रेरी में बैठकर अपना काम कर रहा है, उसकी भेंट गोपा से होती है। गोपा, राजेंद्रनाथ की बहन है और सुमित्रा की वही सहेली है जिसने उसे अपने घर पार्टी पर बुलाया था। यह पता लगते ही कि इसी घर में उसकी बहन का अपमान हुआ था, अनूप तुरंत नौकरी छोड देता है।

राजेंद्रनाथ का काम अनूप के बिना चल नहीं पाता। अनूप ने एक उपन्यास भी लिखा है, जिसे वह छपवाना चाहता है। राजेंद्रनाथ अनूप के घर आता है और उससे मित्रता करके उसे अपने साथ ले जाता है। साथ ही वह अनूप द्वारा लिखे गए उपन्यास की पांडुलिपि भी इस आश्वासन के साथ ले जाता है कि शीघ्र ही अनूप के उपन्यास को प्रकाशित करवा देगा।

राजेंद्रनाथ की बहन गोपा पांडुलिपि देख लेती है, उसे यूं ही उलटती पलटती है तथा अनिच्छुक पाठक की तरह पढ़ने लगती है। ज्यों-ज्यों वह उपन्यास को आगे पढ़ती जाती है उपन्यास उसे अपनी लपेट में ले लेता है और वह पूरा उपन्यास पढ़ डालती है। अनूप द्वारा लिखे उपन्यास को पढ़कर गोपा का परिचय जीवन के उस पक्ष से होता है जो अब तक उसके लिए नितांत अपरिचित रहा है। यह उपन्यास मजदूरों की रोजमर्रा जिंदगी तथा पूंजीपतियों द्वारा उनके शोषण के बारे में है। उपन्यास पढ़ लेने के बाद गोपा, गुप्त रूप से मजदूरों की सभाओं में भी जाने लगती है।

इस बीच राजेंद्रनाथ, अनूप का उपन्यास अपने नाम से छपवा लेता है, और उसकी ख्याति एक पूंजीपति तथा एक विचारक लेखक के रूप में फैल जाती है। गोपा अपने भाई के इस कुकृत्य को जान लेने के बाद उससे घृणा करने लगती है। एक दिन जब गोपा घर पर है तब वह राजेंद्रनाथ को टेलीफोन पर बातें करते सुनती है। राजेंद्रनाथ मजदूरों की एक सभा को भंग करने के आदेश दे रहा है। भले ही हिंसा का सहारा क्यों न लेना पड़े। इस सभा में अनूप भाषण दे रहा है। गोपा को सभास्थल पर पहुंचने में थोड़ी देर हो जाती है। राजेंद्रनाथ अपना काम करवा चुका है। सभा बिखर चुकी है। अनूप घायल होकर अचेतावस्था में लहूलुहान पड़ा है।

गोपा के पीछे-पीछे ही राजेंद्रनाथ भी पहुंच जाता है और अपनी बहन को घसीटकर घर ले आता है। गोपा का मजदूरों के प्रति प्रेम तथा अनूप से लगाव जगजाहिर हो जाता है। अगले दिन अखबारों में पूंजीपति की बहन तथा बेटी की मजदूरों से सहानुभूति के समाचार के लंबे विवरण छपते हैं। गोपा का भाई और पिता उसके समझाने का प्रयत्न करते हैं। गोपा के न मानने पर वे उसे एक कमरे में बन्द कर देते हैं। इन सब घटनाओं से गोपा का अनूप के साथ रहने का निश्चय दृढ़ होता जाता है। अगले दिन जब अनूप इस शहर को छोड़कर दूसरी जगह जा रहा है तब गोपा भी उसी के साथ चल रही है।

बलराज साहनी ने अपनी फिल्मी आत्मकथा में लिखा है, 'उस जमाने में बंगाल में बिमल राय 'हमराही' बना रहे थे, जिसमें पूंजीवादी व्यवस्था के प्रति व्यंग्य कूट-कूट कर भरा हुआ था। पर बिमल राय अंत तक यथार्थवाद को निभा पाने में सफल नहीं हो पाए थे। 'हमराही' के हीरो हीरोइन भी, जैसा कि न्यू थिएटर्स की फिल्मों में प्रायः हुआ करता था, अंतिम दृश्य में दूर क्षितिज की ओर जाते हुए दिखाई देते हैं, मानो संसार की समस्याओं का हल किस्मत पर छोड़ दिया गया हो।'

बिमल राय द्वारा निर्देशित अगली फिल्म 'परिणीता' थी। शरतचंद्र चटर्जी के उपन्यास पर आधारित इस फिल्म में अशोक कुमार तथा मीना कुमारी ने अभिनय किया था। इस फिल्म के संवाद नबेंदू घोष ने लिखे थे। एक बैंक क्लर्क गुरूचरण अपने कई बच्चों के साथ रहता है। उसके ही बच्चों के साथ उसकी भांजी ललिता भी पल रही है। ललिता एक होशियार और सुघड़ लड़की है लेकिन गुरूचरण उसका विवाह करने की चिंता में डूबा रहता है, क्योंकि गुरूचरण का पुश्तैनी मकान उसके पड़ोसी नवीनचंद्र के पास गिरवी पड़ा है। नवीनचंद्र तथा गुरूचरण के परिवार आपस में स्नेह तथा सौहार्द्र के साथ अच्छे पड़ोसियों की तरह रहते हैं। ललिता भी नवीनचंद्र की पत्नी के पास बनी रहती है और घर के काम-काज में भी हाथ बंटा देती है। ललिता का एक काम नवीनचंद्र के पुत्र शेखर के कमरे को ठीक-ठाक रखना भी है। शेखर को वह अपना दोस्त मानती है और वक्त जरूरत उसके बटुए से पैसे भी निकाल लेती है। ललिता का एक अन्य

परिवार में यानी मनोरमा के घर भी आना-जाना है। मनोरमा के घर वह खाली समय में ताश खेलने जाती है। मनोरमा का एक भाई है गिरिन। एक दिन मनोरमा का परिवार पिकनिक पर जाने तथा दिन भर घर से बाहर घूमने की योजना बनाता है। जब यह समाचार शेखर को मिलता है तब वह उद्वेलित हो उठता है। शेखर की परेशानी के कारण का पता चलते ही ललिता मनोरमा के परिवार के साथ बाहर जाने से इनकार कर देती है। इन्हीं क्षणों में शेखर यह महसूस कर पाता है कि ललिता की निकटता अब प्यार में बदल चुकी है।

नवीनचंद्र अपने देनदार गुरूचरण से कर्ज की रकम जल्दी चुका देने का आग्रह करता है। गुरूचरण के घर गिरिन अब ज्यादा आने-जाने लगा है। गुरूचरण एक दिन नवीनचंद्र का ऋण चुकाकर मकान छुड़ा लेता है। गुरूचरण के घर में विवाह का आयोजन हो रहा है। विवाह की तैयारियां देखकर शेखर समझता है कि गिरिन का विवाह ललिता से हो गया है। वास्तव में गिरिन ने गुरूचरण की एक अन्य बेटी से विवाह किया है। ललिता स्वयं को शेखर की वाग्दत्ता मानती है। जैसे ही शेखर पर यह भेद खुलता है वह तुरंत ललिता को अपनी मां के पास ले जाता है ताकि वह अपनी भावी पुत्रवधू को आशीर्वाद दे सके।

अपनी अगली फिल्म 'दो बीघा जमीन' में बिमल राय ने सामाजिक विषमता को दर्शाने वाला कथ्य चुना था। यही एकमात्र फिल्म है जो 'हमराही' की परंपरा में आती है। 'दो बीघा जमीन' में हम शरतचंद्र के औपन्यासिक पात्रों की मध्यवर्गीय दुनिया से निकलकर एक किसान की समस्याओं को देखने समझने का अवसर पाते हैं। 'दो बीघा जमीन' को देखकर एक अमेरिकी आलोचक ने कहा था कि भारत किसी अन्य प्रकार से न सही लेकिन राजनीतिक दृष्टि से एक नव स्वतंत्र देश है। इस राष्ट्र का एक फिल्मकार अपने देश के आर्थिक विकास को इस क्रूर निराश दृष्टि से देखता है, यह बड़ी अजीब बात है।

'दो बीघा जमीन' की कहानी सलिल चौधरी, पटकथा ऋषिकेश मुखर्जी और गीत शैलेंद्र ने लिखे थे। शायद यह क्रूर सी दिखने वाली फिल्म बिमल राय ही बना सकते थे जिन्होंने 1941-42 में 'हमराही पर काम किया था इसी कारण बीते दस वर्षों में भारत ने विकास की जो दिशा ग्रहण की थी, उसकी विवेचना कर पाने में समर्थ थे।

'दो बीघा जमीन' एक ऐसे किसान की कहानी है जो गांव का सबसे सुखी किसान है, क्योंकि वह खुदकाश्त है। किसी की जमीन पर मजदूरी नहीं करता लेकिन जमींदार गांव की सारी जमीन एक उद्योगपति को बेच देना चाहता है। इसमें शंभू की 'दो बीघा जमीन' बाधा बनती है। जमींदार शंभू को बुलाकर बताता है कि उस पर दो सौ पैंतीस रुपये का कर्ज है जो उसे कल तक चुका देना चाहिए। लेकिन शंभू को अदालत से तीन माह का समय मिल जाता है।

शंभू अपने बेटे कन्हैया को साथ लेकर और अपनी पत्नी पार्वती को गांव में ही छोड़कर पैसे कमाने के लिए, कलकत्ता चला आता है। पित्रा पुत्र दोनों कड़ी मेहनत करते हैं, चोरी करने या न करने के अंतर्द्वंद्व के शिकार होते हैं, अस्वस्थ होते हैं, लेकिन अपने काम में जुटे रहते हैं। इन प्रसंगों में बिमल राय ने कलकत्ता शहर के चरित्र को उजागर किया है। सन् 1956 में जब वेनिस फिल्म समारोह में यह फिल्म दिखाई गई तो पश्चिमी दर्शक कलकत्ता शहर को देखकर चकित हो गए। एक अमेरिकी आलोचक ने अपने लेख में भारत की इस खूबी का वर्णन किया है कि जहां शहर की सड़कों पर, आ जा रही कारों के बीच, गाएं और भैसें भी आती-जाती रहती हैं।

दरअसल 'दो बीघा जमीन' में पहली बार एक शहर, कथा को आगे बढ़ाने का बहाना भर बनकर नहीं, बल्कि अपनी अस्मिता के साथ सिनेमा के पर्दे पर उपस्थित हुआ था। इस परिवर्तन को भी कई लोगों ने महसूस किया। सुप्रसिद्ध फिल्म समीक्षक इकबाल मसूद ने अपने लेख, 'द फिफ्टीज, द सिटीः पैराडाइज एंड इनफर्नो' में लिखा था, -'बिमल राय की 'दो बीघा जमीन' का कलकत्ता हिंदी के लोकप्रिय सिनेमा में दिखाई दिया पहला उल्लेखनीय शहर भी है। यह उजड़े हुए गैर-बंगाली किसान की आंखों से देखा गया कलकत्ता है, जो इस शहर में पैसे कमाने तथा पूंजीपति जमींदार से अपनी जमीन छुड़वाने आया है। यह फुटपाथों और काम के बोझ से थक गए रिक्शा वालों का कलकत्ता है। बिमल राय की यह फिल्म शहर को अस्थायी मजदूर तथा सर्वहारा के दृष्टिकोण से देखने का प्रयास करती है। ऐसी कोशिशें सिनेमा में बहुत कम हुई हैं।'

शरतचंद्र के उपन्यास 'बिराज-बहू' पर आधारित फिल्म में बिमल राय ने नायिका के व्यक्तित्व को उभारने का सफल प्रयत्न किया। बिराज एक गरीब परिवार की बहू है। वह मिट्टी के खिलौने बनाकर परिवार की आय में अपनी ओर से भी योगदान देती है। बिराज न केवल सर्वगुण संपन्न है बल्कि वह बहुत सुंदर भी है। इसी सुंदरता पर गांव का जमींदार रीझ जाता है और उसका अपहरण कर लेता है। इस विषय को कई फिल्मकारों ने अपनी तरह से छुआ है। इन कथाओं में स्त्री निरपराध होते हुए भी दोषी मानी जाती है और इस की सजा उसे अपने प्राण देकर ही चुकानी पड़ती है।

'बिराज बहू' में नीलांबर और पीतांबर की पत्नियों के सौहार्द्र को बिमल राय ने लगन से फिल्माया है। भले ही दोनों स्त्रियां शरीर से घर को बांटने वाली दीवार को पार नहीं कर सकतीं। उनका स्नेह इस दीवार के अस्तित्व को मिटा देता है। फिल्मांकन में उनका आपसी स्नेह सशक्त होकर उभरता है।

'बिराज बहू' फिल्म बीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों के ग्रामीण जीवन, संयुक्त परिवार और पति-पत्नी संबंधों का प्रमाणिक चित्र प्रस्तुत करती है। उस समाज में यह संभव था कि कोई स्त्री एक बुरे पुरुष को डांट सकती थी और वह पुरुष प्रत्युत्तर न देकर चुप रहता था। बिराज बहू ने जिस बात पर जमींदार को डांटा, जब बिराज बहू का पति यह कहता है कि वह जमींदार से यह शिकायत करेगा कि वह दिन भर वहां क्यों खड़ा रहता है जहां से गांव की स्त्रियां पानी लाती है। तब वह उसे बरज देती है क्योंकि वह जानती है कि यहां पुरुषों का अहंकार आड़े आ जाएगा। कुतर्क से बचने के लिए यहां यह स्पष्ट करना उचित होगा कि कोई भी समीक्षक यह नहीं कह रहा कि 'बिराज बहू' का गांव आदर्श गांव है या उस जीवन और समाज में अनेक बुराइयां नहीं थीं।

यह सही है कि आज हम उस जीवन पद्धति से बहुत आगे निकल आए हैं। 'बिराज बहू' में राम -सीता के मिथक द्वारा कथा कही गई है। उपन्यासकार शरतचंद्र की सोच इस फिल्म को शक्ति भी प्रदान करती है और कमजोर भी बनाती है। यही क्या कम है कि यह फिल्म देखकर 'पाथेर-पांचाली' का स्मरण हो आता है। यह भी सच है कि बिमल राय उस स्तर तक कहीं पहुंच पाते।

सन् 1955 में बनी बिमल राय की 'देवदास' सन् 1935 में बनी प्रमथेश चंद्र बरुआ, सहगल और जमना की 'देवदास' की तुलना में वाकई बेहतर और चुस्त फिल्म थी। इस फिल्म से जुड़े सभी लोगों ने इसे एक चुनौती के रूप में स्वीकार किया था। इस फिल्म से हिंदी सिनेमा की

उस समय की बहुत-सी दिग्गज प्रतिभाएं जुड़ी थीं। दिलीप कुमार देवदास बने थे, पार्वती की भूमिका सुचित्रा सेन ने की थी, वेश्या चंद्रमुखी के पात्र को वैजयंतीमाला ने और देवदास के कलकत्ता के मित्र चुन्नीलाल की भूमिका को मोतीलाल ने जीवंत कर दिया था। गीत साहिर लुधियानवी ने लिखे थे, संगीत सचिन देव बर्मन का था। पटकथा तथा संवाद नबेंदू घोष और राजेंद्र सिंह बेदी के थे।

'देवदास' की अपार सफलता के कारणों से बिमल राय भली भांति परिचित थे। वे जानते थे कि फिल्म की तुलना फिल्म से ही की जाती है। शरतचंद्र के उपन्यास 'देवदास' को पढ़ने के बाद फिल्म देखने वाले लोग इक्का दुक्का ही होंगे। बिमल राय ने कहा था, 'शरतचंद्र' के उपन्यासों पर फिल्म बनाना मेरे लिए सर्वाधिक आनंददायी कर्म है। हालांकि किसी भी साहित्यिक उपन्यास पर फिल्म बनाना तनी हुई रस्सी पर चलने के समान है। जब भी फिल्म का किसी उपन्यास में फिल्मांकन की जरूरतों के अनुसार बहुत छोटी सी छूट भी लेता है तो साहित्य प्रेमी कराह उठते हैं। मुझे शरतचंद्र के उपन्यासों पर तीन फिल्में 'बिराज बहू', 'परिणीता' और 'देवदास' बनाने का अवसर मिला है।

'शरतचंद्र के उपन्यासों के प्रत्येक पात्र के अनेक पाठ संभव हैं। पात्र को पाठक अपने नजरिए से व्याख्यायित करता है। इसलिए यह अस्वाभाविक नहीं है कि पाठक, फिल्मकार की व्याख्या से सहमत न हो लेकिन फिल्मकार को उसकी अपनी व्याख्या के लिए दोषी ठहराना क्या उचित होगा?'

'दूसरी ओर एक बुरी परिपाटी यह भी है कि शरतचंद्र के उपन्यासों पर बनी फिल्मों को तुलना उससे पूर्व बनी फिल्मों ही के साथ की जाती है। फिल्म पत्रकारों और फिल्म समीक्षकों की टिप्पणियां इसी प्रकार की होती हैं। बहुत ही कम प्रबुद्ध दर्शक ऐसे होंगे जो शरतचंद्र का उपन्यास पढ़कर, उस पर मनन करने के बाद, उस उपन्यास पर आधारित फिल्म देखें और सीधे उपन्यास के साथ फिल्म को जोड़ें। तमाम कठिनाइयों के बाद भी यदि मुझे शरतचंद्र की एक और उपन्यास पर फिल्म बनाने का अवसर मिलेगा तो यह मेरा सौभाग्य होगा।'

यह बात सही है कि 'बिराज बहू' के पति के पात्र को कई कोणों से देखा जा सकता है वह अपनी पत्नी से बेहद प्यार करने वाला उसका अत्यंत आदर करने वाला पति है लेकिन व्यावहारिक जीवन में असफल और (यदि आधुनिक दृष्टि से परखा जाए तो) एक निकम्मा पुरुष है आदि- आदि। यही अनेकों कोण संवेदनशील समीक्षक या पाठक के समक्ष व्याख्या की चुनौतियां प्रस्तुत करते हैं। सबसे आसान काम है कि 'बिराज बहू' को दांपत्य जीवन की सीधी-सरल-अनउलझी कथा कहकर खारिज कर दिया जाए।

'यहूदी' फिल्म की पटकथा नबेंदू घोष की थी और संवाद वजाहत मिर्जा के। आगा हश्र कश्मीरी की कहानी के अनुसार मोजेस ने क्रोधित होकर यहूदियों को अविश्वास का श्राप दिया था, उसी दिन से यहूदी सारी मानवजाति की घृणा और उपेक्षा के पात्र हैं। शापित यहूदी जगह-जगह भटक रहे हैं। वे किसी भी देश के नागरिक नहीं हैं।

एजरा एक यहूदी व्यापारी है। रोम में वह प्रतिष्ठित है लेकिन एक दिन जब रोम का राजा ब्रूटस रास्ते से जा रहा है तभी एजरा के पुत्र द्वारा अनजाने में एक ईंट गिर जाती है। ब्रूटस आदेश देता है कि यह हमला किसने किया? फलतः एजरा के बेटे को पकड़ लिया जाता है और मौत के घाट उतार दिया जाता है। इधर एजरा का नौकर इलियास (तिवारी) रात के अंधेरे में ब्रूटस

(नासिर हुसैन) की बेटी को उठा लाता है। एजरा को इस बालिका में अपने पुत्र की प्रतिछाया दिख पड़ती है। पंद्रह वर्ष गुजर जाते हैं। इस बीच रोमन सैनिक यहूदियों पर अत्याचार करते रहे हैं। अब हान्ना (मीना कुमारी) बीस वर्ष की है। एक दिन रोम का राजकुमार घर लौट रहा है उसका रथ उलट जाता है और वह लुढ़कता हुआ नीचे गिर पड़ता है। होश में आने पर वह हान्ना को देखता है।

शहजादा मारकस - 'कहां हूं मैं- जमीन पर या जन्नत में?' (रोमन राजकुमार)

हान्ना - मुंह बंद रखिए आगे ही कीचड़ लगा रखा है उस पर....'

(यहूदन)

अब मारकस यहूदी का वेश धरकर हान्ना के घर पहुंच जाता है। एजरा उसे अपने शिष्य की भांति अपना लेता है। यहां मारकस का नाम मंशिया है।

यहां यह महत्वपूर्ण है कि मारकस मंशिया होना चाहता है या मारकस ही रहना चाहता है। मारकस के बदले हुए व्यवहार से उसकी मंगेतर ऑक्टेविया भी चिंतित है। एक दिन ऑक्टेविया यहूदी व्यापारी एजरा के घर हीरे खरीदने आती है उस समय मारकस वहां मंशिया के रूप में उपस्थित है। एजरा इन शाही मेहमानों को हीरे-जवाहरात दिखाने का आदेश देकर चला जाता है।

मारकस अपना चेहरा छुपा रहा है। यह एक छोटा सा हास्य दृश्य तो है ही, इसमें त्रासदी भी है। मारकस अपनी मंगेतर से आंखें चुरा रहा है। यानी वह अपना सुरक्षित महल छोड़कर इस असुरक्षित घर को अपना ठिकाना बनाना चाह रहा है। अपनी पहचान संदिग्ध बना रहा है। क्योंकि इस घर में यदि वह 'पहचान' लिया गया तो अजनबी हो जाएगा। दूसरी ओर आक्टेविया के सम्मुख बेजान हीरे बिखरे पड़े हैं लेकिन वह अपनी तेज नजर और सहज मेधा से जान लेती है कि असली हीरा उसके हाथ से छूटकर हान्ना की झोली में जा गिरा है।

सन् 1959 में उन्होंने 'सुजाता' का निर्माण और निर्देशन किया। उपेंद्रनाथ चौधरी और उनकी पत्नी चारु, एक अछूत लड़की सुजाता को गोद ले लेते हैं। सुजाता के माता पिता एक महामारी के शिकार हो चुके हैं। 'सुजाता' इसी परिवार में पलती और बड़ी होती है लेकिन उसके अछूत होने की पहचान इस परिवार को बेचैन बनाए रखती है। चारु और उपेंद्रनाथ की एक अपनी बेटी रमा भी है। रमा और सुजाता दोनों ही केवल बहनों की तरह ही नहीं बल्कि दो बहुत अच्छे मित्रों की तरह रहती हैं। सुजाता का मधुर व्यवहार ही उसे इस घर में टिकाए रखता है, वरना चौधरी परिवार तो कई बार यह प्रयत्न कर चुका है कि सुजाता को किसी भी तरह इस घर से निकाल दिया जाए।

चारु की एक सहेली गिरिबाला भी, चारु को यह चेतावनी दे चुकी है कि घर में एक अछूत को घर के एक सदस्य की तरह ही रखने के गंभीर परिणाम हो सकते हैं। गिरिबाला और चौधरी परिवार दोनों ही इस बात पर एकमत हैं कि रमा का विवाह गिरिबाला के पोते अधीर से हो जाए लेकिन अधीर स्वयं सुजाता को पसंद करता है। समस्या विकट होती जाती है। दोनों परिवारों के सदस्यों में सुजाता के प्रति कड़ुवाहट बढ़ती जाती है। इधर अधीर और सुजाता एक दूसरे के साथ जीने और मरने का निश्चय कर लेते हैं। एक दिन चारु सीढ़ियों से फिसलकर गिर जाती है और बुरी तरह घायल हो जाती है। केवल सुजाता का खून ही उसे बचा सकता है और सुजाता अपना रक्त देती है। चारु और सुजाता के रक्त वर्ग की समानता ही चारु में यह चेतना

जगाती है कि छूत-अछूत की समस्या को मानव ने अपने क्षुद्र स्वार्थो की पूर्ति हेतु निर्मित किया है। मानवीय अस्तित्व इस प्रकार के भेद स्वीकार नहीं करता।

सन् 1960 में निर्देशित 'परख' में बिमल राय एक अछूता विषय उठाते हैं। 'परख' स्वतंत्र भारत के तीसरे आम चुनाव से पहले प्रदर्शित हुई थी। यह फिल्म भारत की चुनावी राजनीति पर तीखा व्यंग्य करती है। राधानगर नाम के छोटे से गांव के पोस्टमास्टर को पांच लाख रुपये का चेक मिलता है। चैक पर जे.सी. राय के हस्ताक्षर हैं और यह निर्देश संलग्न है कि इस धनराशि को गांव के सब से अच्छे आदमी को दे दिया जाए। पोस्टमास्टर की पूरी रात बेचैनी में कटती है। सुबह वह गांव के पांच ऐसे लोगों को बुलाता है, जो गांव के प्रभावशाली व्यक्ति माने जाते हैं। जमींदार तांडव तरफदार, महापंडित तर्क अलंकार, गांव के मजदूरों के नेता हरिहर कुंज, गांव के स्कूल का मास्टर रजत और गांव के डॉक्टर हरी-इन्हीं पांचों में से सर्वोत्तम का चुनाव किया जाना है।

तुरंत चुनावी राजनीति और सरगर्मियां शुरू हो जाती हैं। शांत गांव तरह-तरह के शोर शराबे में डूब जाता है। जमींदार ढोल ताशे बजाकर यह घोषणा करवा देता है कि उसने सब कर्जे माफ कर दिए हैं। साहूकार एक कुशल इंजीनियर को बुलवाता है तथा तुरंत गांव में नलकूपों की खुदाई का काम शुरू करवा देता है। मास्टर रजत पूर्ववत गांव की सेवा में लगा रहता है और गांव वालों के छोटे-मोटे काम करता रहता है। डॉक्टर यह घोषणा करता है कि उस के दवाखाने पर दवा निःशुल्क मिलेगी और पंडितजी भविष्यवाणी करते हैं कि इस गांव पर लक्ष्मी की अपार कृपा होने वाली है।

पूरे गांव के लोग इन खानदानी शोषकों के अचानक दयावान हो जाने पर चकित हो उठते हैं। इन खजानों के खुल जाने पर भी मास्टर रजत ही अपनी निस्वार्थ सेवा के कारण गांव का लोकप्रिय व्यक्ति बना रहता है। पंडित तथा साहूकार मिलकर मास्टर रजत को बदनाम करने का कुचक्र रचते हैं और अगली रात को कुछ लोग युवक रजत तथा पोस्टमास्टर की लड़की सीमा को साथ-साथ देखते हैं। गांव का पोस्टमैन हरधन इन सब घटनाओं पर निगरानी रखता है। अंततः यह फैसला हो जाता है कि गांव का श्रेष्ठ व्यक्ति कौन है। हरधन अपनी वास्तविक पहचान बताता है और पता चलता है कि वही जे.सी. राय है। पांच लाख रुपये रजत और सीमा को दे दिए जाते हैं।

सन् 1963 में बिमल राय ने एक अत्यंत उत्तम कृति 'बंदिनी' का निर्माण एवं निर्देशन किया। 'बंदिनी' इस से पूर्व बिमल राय द्वारा निर्देशित 'परिणीता' का ही तार्किक विस्तार है। यहीं यह भी दिखाई देता है कि 'परिणीता' से 'बंदिनी' तक पहुंचने में बिमल राय की सिनेमाई भाषा पर पकड़ कितनी मजबूत हुई है। 'बंदिनी' एक असाधारण फिल्म है। 'बंदिनी' की कहानी तो बहाना भर है। यह फिल्म सिनेमा की भाषा में रची गई एक सुंदर कविता है। कल्याणी नाम की युवती अपने गांव में कैद हो कर आए एक क्रांतिकारी स्वतंत्रता सेनानी विकास घोष से प्यार करने लगती है। विकास घोष और कल्याणी का प्यार बढ़ता है और जब विकास घोष को दूसरी जेल में ले जाया जाता है तो जाने से पहले विकास घोष, कल्याणी को अपनी पत्नी मानकर स्वीकार करता है।

पूरा गांव जानता है कि कल्याणी अब विकास घोष की पत्नी है। लेकिन वर्षो गुजर जाते हैं और विकास घोष की कोई खबर ही नहीं आती। एक दिन यह खबर मिलती है कि स्वतंत्र

होने के बाद विकास घोष ने विवाह कर लिया है और दूसरे शहर में रहने लगा है। गांव वाले कल्याणी तथा उस के पिता का मजाक उड़ाने लगते हैं। परेशान होकर कल्याणी अपना गांव और घर छोड़ देती है। अपने ही विचारों में कैद, अपनी ही दुविधा में उलझी कल्याणी शहर पहुंचकर एक दुर्घटना में फंस जाती है और कैदी बन जेल पहुंच जाती है। सभी इस सीधी सरल लड़की को देखकर चकित होते हैं। जेल का डॉक्टर देवेंद्र तो कल्याणी से प्यार करने लगता है लेकिन कल्याणी सिर्फ एक सवाल के घेरे में कैद है, क्या अब भी वह विकास की पत्नी है या नहीं? यदि विकास ने अपना वचन तोड़ दिया है तो क्या वह भी इस बंधन से मुक्त हो गई है? कैद से तो वह अपने अच्छे व्यवहार के कारण छूट जाती है लेकिन इस सवाल की बंदिनी बनी रहती है। बिमल राय अपनी इस फिल्म में संकेतों द्वारा गहनतम मनोभावनाओं को अभिव्यक्ति देने में सफल हो सके हैं 'बंदिनी' बिमल राय की सर्वोत्कृष्ट कृति है।

बिमल राय की फिल्मों पर उसी स्तर का या बेहतर समीक्षाकर्म संभव है जैसा कि शेखर एक जीवनी और कामायनी पर हुआ है। हिंदी की तथा विश्व की क्लासिक फिल्मों के अध्ययन-अध्यापन से नई रचनात्मकता का विकास संभव है। आज साधनों का अभाव नहीं है लेकिन कहीं इच्छा शक्ति की कमी है। नई विधा पर अध्ययन आरंभ करने में अध्यापकीय संकोच भी एक बाधा है। आशा है इन बाधाओं से पार पाया जा सकेगा।

(लेखक सुपरिचित सिनेमा विश्लेषक हैं)

अविस्मरणीय विभूति : सत्यजित राय

धीरेंद्र कुमार राय

एक ऐसे समय में जब सिनेमा का इतने बड़े पैमाने पर विस्तार हुआ है। पूरी दुनिया में भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार में इसकी भूमिका को नकारना असंभव हो गया है। यह विडंबना ही है कि हमारी फिल्मों से गंभीर सामाजिक व सांस्कृतिक बहस कम होती जा रही है। पूंजी के लोभ में सरोकार पीछे छूटता जा रहा है। ऐसे में हमें सिनेमा को देखने, पढ़ने व समझने के लिए सत्यजित राय की उसी पाठशाला में जाना पड़ता है जिसने सिनेमा को देखने की एक नई दृष्टि प्रदान की। यथार्थवादी धारा की फिल्मों को नई पहचान दिलाने वाले सत्यजित राय बीसवीं सदी के विश्व की महानतम फिल्म हस्तियों में एक थे, जिन्हें सर्वोत्तम फिल्म निर्देशकों में शुमार किया जाता है। उनके संबंध में दुनिया के महान फिल्म हस्ताक्षर अकिरा कुरोसवा ने कहा कि 'सत्यजित राय के बिना सिनेमा जगत वैसा ही है, जैसे सूरज चांद के बिना आसमान।'

साहित्य और सिनेमा की अविस्मरणीय विभूति सत्यजित राय लेखक, चित्रकार, कलाकार और इतिहासकार होने के साथ-साथ भारतीय समाज के अध्येता और विश्लेषक भी थे। उनका जन्म कला और साहित्य जगत के एक समृद्ध परिवार में हुआ था। अपने समय के विद्वान भाषाविद् तथा गीतकार और संगीतकर रमाकांत राय; संस्कृत, बांग्ला, फारसी के विद्वान और प्रगतिशील विचारों के संवाहक श्यामसुंदर राय; संगीत की गहरी समझ रखने वाले सत्यजित राय के पितामह बासुरी वादक उपेंद्र किशोर तथा सत्यजित राय के पिता चित्रकार व रचनाकार सुकुमार राय का उन्हें सानिध्य मिलना इस बात की पुष्टि करता है कि साहित्य में उनकी रुचि स्वाभाविक थी जो उन्हें विरासत में मिली थी।

यह दुःखद बात है कि राय के बाल्यकाल के दौरान उनकी पारिवारिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। बचपन में ही पिता चल बसे। मां को विधवा आश्रम में नौकरी कर घर का खर्च चलाना पड़ा। कुछ समय बाद मजबूरन मां उन्हें लेकर ननिहाल चली गईं। यहां की स्थिति काफी संपन्न थी। राय को शिक्षा का एक अनुकूल माहौल मिला। इनके मामा का परिवार भी नाटक और फिल्म से जुड़ा हुआ था। परिवार में संगीत की एक लंबी परंपरा थी। अतः इन सबका सत्यजित राय के जीवन पर व्यापक असर पड़ा जो आगे चलकर इनकी फिल्मों में और मुखर होकर सामने आई। यही वजह है कि राय कम शब्दों में उपयुक्त अर्थों के साथ किसी भी घटना को प्रस्तुत करने की क्षमता उनकी हर फिल्म में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

राय ने अपनी कई फिल्में साहित्यिक कृतियों पर बनाई है, जहां सर्वोत्तम जीवन यथार्थ की कुंजी है। विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय के दो उपन्यास 'पथेर पांचाली' और 'अपराजितो' के आधार पर सत्यजित राय ने तीन फिल्में 'पथेर पांचाली', 'अपराजितो' और 'अपूर संसार' बनाई। रवींद्रनाथ के उपन्यास 'घरे बाइरे' पर इसी नाम से फिल्म का निर्माण किया। रवींद्र के उपन्यास 'नष्टनीड़' पर

'चारुलता', परशुराम की कहानी पर 'महापुरुष', शंकर के उपन्यासों पर क्रमशः 'सीमाबद्ध' और 'जनअरण्य', सुनील गंगोपाध्याय के उपन्यासों पर 'अरण्येर दिनरात्री' और 'प्रतिद्वंद्वी' तो इब्सन के नाटक 'एन इनमी ऑफ द पीपुल' पर आधारित 'गणशत्रु' बनाई। हिंदी में प्रेमचंद की शतरंज के खिलाड़ी और 'सद्गति' पर फिल्म बनाने से पहले उन्होंने तमाम बांग्ला रचनाओं पर फिल्में बनाई। राय ने अपने जीवनकाल में वृत्तचित्र, फीचर फिल्में, लघु फिल्में इत्यादि कुल मिलाकर सैंतीस फिल्मों का निर्देशन किया। अपनी मेहनत, लगन और काम के जरिए कई राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार भी प्राप्त किए। भारत रत्न, ऑस्कर और दादा साहब फाल्के जैसे श्रेष्ठ सम्मान के साथ-साथ ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय द्वारा मानद (डॉक्टरेट) की उपाधि से भी नवाजा गया। सन् 1987 में फ्रांस सरकार द्वारा देश का सर्वोच्च नागरिक सम्मान 'द लीजन ऑफ ऑनर' प्रदान किया गया था, जिसे वहां के राष्ट्रपति ने स्वयं कोलकाता आकर उन्हें यह सम्मान भेंट किया।

मानवीय अंतरसंबंधों और वैज्ञानिक पक्षों पर सत्यजित राय की मजबूत पकड़ थी। राय ने अपनी फिल्मों में मानवीय मूल्यों के गिरते स्तर को बखूबी दिखाया है जो समाज के लिए आईना प्रतीत होती हैं। उन्होंने फिल्म-दर-फिल्म भारतीय समाज के गुण-दोष की दृष्टि से हर एक पक्ष और उनसे उत्पन्न होने वाली प्रभुता प्रथा की छान-बीन की है। अपनी फिल्मों में बेरोजगारी, गरीबी, भ्रष्टाचार जैसी तात्कालिक समस्या हो या समाज में स्त्रियों की स्थिति का प्रश्न, उन सभी सामाजिक पहलुओं का चित्रण किया है जो समाज में अभिशाप थीं।

पचास के दशक में भाषाई आधार पर भारत में राज्यों का पुनर्गठन हो रहा था। उसी दौर में भारतीय सिनेमा भी एक नए कलेवर में सामने आ रहा था। ब्रिटिश एडवरटाइजिंग कंपनी से बतौर विजुअलाइजर अपने कॅरियर की शुरुआत करने वाले सत्यजित राय ने एक क्षेत्रीय भाषा में 'पथेर पांचाली' नामक फिल्म बनाई। इस फिल्म ने भारतीय सिनेमा उद्योग में फिल्म की कहानी और ट्रीटमेंट को लेकर जोरदार बहस छेड़ी, जिसने भारतीय सिनेमा में एक नई धारा को जन्म दिया। 'पथेर पांचाली' के जरिए सत्यजित राय ने भारतीय सिनेमा को उसकी संपूर्णता के साथ अंतरराष्ट्रीय फलक पर पहुंचाकर आंचलिक भाषाओं में भी इस जनकला माध्यम को अपनाने की बेचैनी पैदा कर दी। अपने प्रदर्शन के कुछ ही दिनों में यह पूरी दुनिया में चर्चा का केंद्र बन गई। हालांकि इस फिल्म की बहुत आलोचना भी हुई। एंडसे लिंडरसन ने लिखा कि 'पथेर पांचाली' जीवन की एक व्यापक महागाथा है। इसे कई दशकों बाद एक बार फिर से देखना घुटनों धूल में चलकर भारतीय यथार्थ और मानवीय दशा के हृदय में उतरना है। विविधता और खुलेपन में भारत की लज्जा नहीं बल्कि गौरव है जिसकी शिक्षा सत्यजित राय ने दी है।' वास्तव में यह फिल्म भारतीय समाज का एक नग्न यथार्थ है। जिसे पूरी जीवंतता के साथ पर्दे पर उकेरा गया। यह एक गरीब गांव का संपूर्ण अनुभव है जिसे भारतीय उपमहाद्वीप के देश के पांच लाख गांवों का प्रतिनिधि माना जा सकता है। यहां गरीबी और भूखमरी की चपेट में पड़े इंसान हैं। उनका अपना जीवन है। इसमें मां की आंतरिक आदर्शवादिता और जीवनसंघर्ष है। आज भी 'पथेर पांचाली' के उस निश्चिंदपुर की तरह इस उपमहाद्वीप के तीन चौथाई विस्तार में हजारों गांव हैं, जहां वास्तविक जीवन में भी ऐसा होता है। इस दृष्टि से निर्माण की आधी सदी के बाद भी 'पथेर पांचाली' को देखना भारत के विपन्न गांव का एक समग्र अनुभव है।

तमाम तरह की दिक्कतों को झेलते हुए बंगाल सरकार की आर्थिक सहायता से किसी तरह 'पथेर पांचाली' का निर्माण हुआ था। दरअसल जिस विषय को उठाने का जोखिम राय ने लिया था, वह उस दौर के किसी भी फिल्मकार के लिए एक बड़ी चुनौती थी। 1956 के कॉन फिल्म समारोह

में 'पथेर पांचाली' को 'दि बेस्ट ह्यूमन डॉक्यूमेंट' पुरस्कार से नवाजा गया। 'पथेर पांचाली' से शुरू हुआ सत्यजित राय का सिनेमाई सफर भारतीय सिनेमा जगत के लिए मील का पत्थर बन गया। हाल ही में 'साइट एंड साउंड' की ओर से कराए गए सर्वेक्षण में 'पथेर पांचाली' को सर्वकालिक पचास सर्वश्रेष्ठ फिल्मों में शामिल किया गया है। हालांकि यह विडंबना ही है कि आज इस फिल्म की एक भी संरक्षित प्रति भारत में नहीं है।

राय ने अपनी फिल्मों के लिए हमेशा प्रामाणिक भारतीय परिधि को चुना। उनके काल और सौंदर्यबोध को फिल्मों में घटित होते देखना एक विलक्षण अनुभव है। श्रेष्ठ जीवन मूल्यों की रक्षा उनकी फिल्मों का प्रमुख तत्व है। यदि 'पथेर पांचाली', 'अपराजीतो' और 'अपूर संसार' को देखें तो वहां गांव है। 'पाथेर पांचाली' गांव के सीमित, पिछड़े और अभावग्रस्त जीवन की एक मर्मस्पर्शी हृदयविदारक घटना है। 'अपराजीतो' में बड़े होते बेटे और मां के एकांतिक प्रेम का अंतर्विरोध है। 'अपराजितो' उपन्यास के उत्तरार्द्ध पर आधारित 'अपूर संसार' संघर्ष की कहानी है। यहां परंपरा से आधुनिकता तक सफर करता एक गरीब ब्राह्मण परिवार है। 'अपूर संसार' वह कृति है जिसे पूरी दृढ़ता व वैचारिकता के साथ यथार्थ और संवेदना के धरातल पर उकेरा गया। 'पथेर पांचाली' और 'अपराजितो' को एक दर्जन से अधिक अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त हुए है। यह एक सुखद एहसास था कि उस समय तक दुनिया के किसी भी निर्देशक को सिर्फ दो फिल्मों के लिए इतने पुरस्कार नहीं मिले थे। 'अपराजितो' को वर्ष की सर्वश्रेष्ठ फिल्म के रूप में 'डेविड ओ सेल्जनिक' पुरस्कार से नवाजा गया था। हाल ही में सर्च इंजन गूगल ने भी सत्यजित राय के 92वें जन्मदिन पर 'अपूर संसार' की एक छवि अपने होम पेज पर डालकर उन्हें सम्मानित किया।

'शतरंज के खिलाड़ी' में मुगल गौरव के अंततः अवसान से लेकर 'जलसाघर' में सामंती जमींदार के पतन, जिसमें सामंती जीवनशिल्प के क्षय की कथा है। जहां विश्वंभर नामक चरित्र एक आदर्शवादी दुनिया का पलायनवादी व्यक्तित्व है। 'जलसाघर' राय की एक बहुचर्चित फिल्म है। 'शतरंज के खिलाड़ी' में स्पष्ट रूप से दिखाया गया है कि किस तरह सामंती समाज अपने आस-पास की घटनाओं से कटा होता है। फिल्म 'देवी' में संभ्रांत वर्ग के विवेक से एक नया समाज है। 'देवी' में हिंदू समाज में व्याप्त अंधविश्वास को परत-दर-परत कुरेदने व उसे टटोलने की कोशिश की गई है। 'चारुलता' में कुलीनवर्ग के विवेक और बौद्धिक विचारों के प्रति जागरूकता है। रवींद्रनाथ के उपन्यास 'नष्टनीड़' पर आधारित राय की सुप्रसिद्ध फिल्म 'चारुलता' की कहानी बंगाल के नवजागरण काल की है जहां बदलते सामाजिक दर्शन का प्रभाव साफ देखा जा सकता है। 'चारुलता' में विवाहित स्त्री का पर पुरुष में अनुरक्त होना एक क्रांतिकारी धारणा है। 'चारुलता' राय की वह कृति है, जिसे आज भी भारत में बनी सर्वश्रेष्ठ फिल्मों में शुमार किया जाता है। 'महानगर' भी स्त्री प्रधान फिल्म है जहां नारी अपने जिंदगी की राह खुद चुनना चाहती है। 'महानगर' बनाते वक्त राय ने कोलकाता को एक नए सिरे से समझने की कोशिश की है। 'अरण्येर दिनरात्री', 'प्रतिद्वंदी', 'सीमाबद्ध' और 'जनअरण्य' ये चारों राय की ऐसी फिल्में हैं जिनमें उन्होंने अपने समकालीन जीवन को गहराई से समझने और उसे यथास्थिति पर्दे पर उकेरने की कोशिश की है। राय के रचना संसार में 'अरण्येर दिनरात्रि' तत्कालीन जीवन मूल्यों और नई पीढ़ी के युवाओं को समझने का पहला प्रयास है। 'प्रतिद्वंदी' एक आदर्शवादी युवक की कहानी है जहां स्वतंत्रता प्राप्ति के कई दशकों बाद बेरोजगार युवक का आक्रोश है। 'जनअररण्य' और 'शाखा-प्रशाखा' में भ्रष्ट समाज में सामाजिक चेतना की अपरिहार्य मृत्यु तो 'सीमाबद्ध' और उसके साथ की तीनों फिल्में कामकाजी दुनिया के जरिए शिक्षित

युवा वर्ग में कलकत्ता के जीवन के तनाव और मानसिक पीड़ा को समझने की कोशिश करती है। 'जनअरण्य' भ्रष्ट समाज की कहानी है तो 'सीमाबद्ध' कलकत्ता के तत्कालीन धनाढ्य वर्ग से जुड़ी है। 'जनअरण्य' तत्कालीन बंगाल के भ्रष्टाचार पर केंद्रित वह फिल्म है जिसका समाधान शायद सत्यजित राय की समझ से भी बाहर था। वे जीवन की बेचैनी को अपने तरीके से बयां करते हैं। उनकी फिल्में समय के यथार्थ का बखूबी चित्रण करती हैं। 'जनअरण्य' की दुनिया वर्तमान जीवन के यथार्थ के काफी करीब है। समकालीन जीवन पर केंद्रित राय की ये फिल्में नवोदित युग और कलकत्ता के मुक्त होते जीवन से जुड़ी थीं। यह नस्लवाद का वह दौर था जब वर्ग संघर्ष बढ़ रहा था। 'कंचनजंघा' सत्यजित राय की पहली मौलिक और रंगीन फिल्म है जो बंगाल के संभ्रांत उच्च वर्ग की आलोचना करती है। फिल्म 'हीरक राजा देशे' पलायन और गरीबी के दर्द को काफी संजीदगी से बयां करती है। इस फिल्म का एक मार्मिक दृश्य जो मानवीय संवेदना को अंदर तक उद्वेलित करता है, जिसे उस यथार्थ के प्रतिविम्ब के रूप में देखा जा सकता है जब आपातकाल के दौरान दिल्ली जैसे तमाम बड़े शहरों में इस तरह की घटनाएं चरम पर थी।

'सद्गति' में दुखी दलित ब्राह्मण के हाथों किस तरह प्रताड़ित होता है और अंत में मर जाता है, इसे बहुत ही मार्मिक ढंग से दिखाया गया है। वहीं 'आशनी संकेत' में जातिगत व्यवस्था के दलदल में जूझता परिवेश है। छूत-अछूत पर विमर्श खड़ी करने वाली ये फिल्में भारतीय समाज का प्रतिबिंब हैं। जिसके माध्यम से राय ने समाज की जातिगत व्यवस्था पर प्रहार किया है। इस समय तक वह दौर सामने आ रहा था जब लोग अपने आस-पास फैली असमानता और भ्रष्टाचार तथा सरकार की जनविरोधी नीतियों से सचेतन हो रहे थे। राय की अंतिम तीन फिल्में मानवतावाद का पुरजोर समर्थन करती हैं। जहां 'शाखा-प्रशाखा' में सामाजिक मनोवृत्ति का मर जाना आवश्यक हो जाता है वही 'गणशत्रु' में धार्मिक कट्टरता और पतित राज्य के विरुद्ध संघर्ष है। अतिथि देवो भवः की भारतीय संस्कृति का वीभत्स रूप 'आगंतुक' में देखने को मिलता है। सत्यजित राय की आखिरी फिल्म 'आगंतुक' में मानवीय मूल्यों के प्रतिस्थापन का आशावादी स्वर दिखाई देता है। यह फिल्म संस्कृति और समाज के प्रति राय की गहरी चिंता को बयां करती है। राय के सांसों की रफ्तार धीमी हो चुकी थी। पैर थम से गए थे। शरीर पूरी तरह थक चुका था। उनकी आंखें अब पूरी पलक फैलाकर दुनिया को देखने में असमर्थ थीं लेकिन उनकी सोच अभी भी समाज की नब्ज को मजबूती से थामें हुई थी। हौसले बुलंद थे। शारीरिक अस्वस्थता के बावजूद खुद के प्रति उनका विश्वास कुछ ज्यादा ही था। जीवन के अंतिम क्षणों में वे फिल्म 'आगंतुक' के माध्यम से समाज के साथ कदमताल करते हुए सभ्यता विमर्श कर रहे थे। फिल्म का एक-एक फ्रेम समाज को संदेश देता नजर आता है।

सत्यजित राय की मूल संवेदनाएं साहित्यिक थी जिन्हें वे कुशलता से फिल्मों में लाए। उन्होंने साहित्यिक कृतियों के साथ बखूबी न्याय किया। मिशाल के तौर पर राय की हिंदी फिल्म 'शतरंज के खिलाड़ी' और 'सद्गति' को देखा जा सकता है। दोनों ही फिल्में प्रेमचंद की दो बिल्कुल अलग तरह की कहानियों पर आधारित हैं। फिल्म 'शतरंज के खिलाड़ी' मुंशी प्रेमचंद की एक लघुकथा पर आधारित है जो नवाब वाजिद अली शाह के समय के लखनऊ की कहानी कहती है। यह वह दौर था भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी का विस्तार हो चुका था। राजनीतिक सत्ता एक हाथ से दूसरे हाथ में सौंपी जा रही थी। फिल्म थके-हारे सामंती ढ़ांचे की ब्रिटिश उपनिवेशवाद के हाथों पराजित होने की त्रासदी का शुभारंभ करती है। यह फिल्म इस बात की पुष्टि करती है कि ब्रिटिश उपनिवेशवाद और भारतीय सामंतवाद दोनों ही प्रेमचंद की लेखनी के केंद्र में रहे हैं। राय ने इस फिल्म के अंत को मूल साहित्य से अलग

कर यह तथ्य स्थापित करने की कोशिश की है कि नवाबी सभ्यता के खत्म हो जाने के बाद भी उसकी बुराइयां समाज में जीवित हैं। 'शतरंज के खिलाड़ी' ऐतिहासिक पृष्ठभूमि वाली वह फिल्म है जो भारतीय सामंतवाद और ब्रिटिश उपनिवेशवाद के संघर्ष की दस्तावेज है।

यह भी ध्यान देने वाली बात है कि 'अभिजान', 'जय बाबा फेलुनाथ' और 'सोनारकेला' जैसी कुछ एक फिल्मों को छोड़ दिया जाए तो राय का पूरा फिल्मांकन शारीरिक हिंसा से काफी दूर रहा है। वे अपनी फिल्मों के चरित्र को चेहरे व शरीर की भाव-भंगिमा से ही उसकी आंतरिक बेचैनी को संपूर्ण छटपटाहट के साथ पर्दे पर चित्रित करते हैं। उन्होंने सिनेमा की अपनी एक भाषा गढ़ी थी। यह उन पुकारों की भाषा थी जिनकी चीख हमारे समाज में गूंजती तो थी लेकिन इंसानी कोलाहल और भागदौड़ भरी जिंदगी के बीच सामने वाला व्यक्ति भी न तो उसे सुन सकता और न ही महसूस कर सकता था। राय की यह शैली उनकी फिल्मों को दर्शकों की संवेदना से जोड़ती है। उनके कैमरे की भी एक भाषा है जो उनकी फिल्मों में बिंबों के माध्यम से मुखर होती है। वे फिल्मों में बिंबों के माध्यम से मोंटाज क्रिएट कर दृश्यों को और जीवंत बनाते हैं, जो मानवीय संवेदना को अंदर तक झकझोरता है।

सार्वकालिक बनाने की कोशिश ही राय की फिल्मों को बड़ा बनाती है। उनकी फिल्मों का उल्लेखनीय तरीका जैसे भाषा की आवाज, शब्दों का खास चुनाव, दृश्यों की जीवंतता विशेष प्रभाव या अर्थ पहुंचाता है। सिनेमा की संप्रेषणीयता से वे भली-भांति परिचित थे। वे इस बात से सरोकार रखते थे कि सिनेमा में गीतों, संवादों की भाषा चाहे जो भी हो वह अपनी संवेदना से ही विशाल जनसमूह तक संप्रेषित होने की क्षमता रखती है। सिनेमा में भाषा के अलावा दृश्य का अपना महत्व होता है जिसमें एक सार्वजनिक अपील छिपी होती है। दृश्यों में निहित संदेशों का संबंध उन मानव अनुभूतियों से होता है जिसको समझना किसी भी भाषाई, जातीय या क्षेत्रीय समुदाय के लिए कठिन नहीं होता। यही वजह थी कि भाषा कभी उनकी फिल्मों के लिए अवरोध नहीं बनी। बल्कि गैर भाषाई दर्शकों तक भी सहज ही संप्रेषित होती रही।

सत्यजित राय की फिल्में एक सार्वभौम मानवीय दस्तावेज हैं। उन्होंने फिल्मों में नई तकनीकी का प्रयोग एवं भारत के समकालीन विषयों की तरफ लोगों का ध्यान आकृष्ट करने का महत्वपूर्ण कार्य किया। राय ने समाज और संस्कृति में व्याप्त जड़ता और कुरीतियों को पर्दे पर उकेरकर भारतीय जनमानस के उत्थान में न सिर्फ अपनी मजबूत उपस्थिति दर्ज कराई बल्कि दलितों एवं शोषित समाज के सवाल को व्यापक परिप्रेक्ष्य में रखकर सामाजिक न्याय एवं उत्तरदायित्व के प्रति जागरूकता पैदा की। राय ने बतौर निर्माता, निर्देशक व लेखक कई फिल्मों का निर्माण किया जो उन्हें महान से महानतम बनाती हैं। उन्होंने अपने समय के द्वंद्व व समस्याओं को न सिर्फ बंगाल परिप्रेक्ष्य में बल्कि पूरे मानवीय गरिमा एवं समाज को ध्यान में रखकर उठाया है। वे अपने समय से बहुत आगे थे। वे बीसवीं शताब्दी की महानतम फिल्म हस्तियों में एक हैं, जिन्होंने भारतीय सिनेमा को विश्व में एक अलग पहचान दिलाई। सिर्फ भारत ही नहीं बल्कि संपूर्ण विश्व उनके अविस्मरणीय योगदान के लिए उन्हें हमेशा याद रखेगा। पूरी दुनिया में सार्थक सिनेमा की कोई भी चर्चा सत्यजित राय के बिना अधूरी रहेगी...फिल्म 'गोपी गायन-बाघा बायन' में फिल्माया गया सत्यजित राय का वह गीत जिसे उनके देहांत के बाद कलकत्ता के सड़कों पर लाखों लोगों ने गाया था, सिनेमा में उनके अविस्मरणीय योगदान के लिए समर्पित- 'महाराजा तोमारे शेलाम'.....

(लेखक म.गां.अं.हि.वि., वर्धा के संचार एवं मीडिया अध्ययन केंद्र में शोध छात्र हैं)

अंतिम पड़ाव के अधर में अकेला आनंद

प्रभु जोशी

कोई यों ही और अचानक नही मर जाता। यक-ब-यक। बस मृत्यु की ही कहीं कोई धीमी और खामोशी-सी पूर्व तैयारी होती है, जो सहसा एक दिन पूरी होती है और वह कहती है- 'अब ओर मोहलत नहीं। बस हो चुका खेल खत्म' और आदमी अपनी ही बनाई हुई खूबसूरत दुनिया को अंततः अलविदा कह देता है। दरअसल, राजेश खन्ना के संदर्भ में यह तैयारी उसी दिन से शुरू हो गई थी, जिस दिन वे शिखर से नीचे आ गए थे.....वैसे, जो शिखरों को छूने और वहां बने रहने का सुनहरा स्वप्न देखते हैं, वे जानते हैं कि ऊंचाइयों पर ऑक्सीजन की कमी होती है। वहां हरदम सांस फूलती रहती है। इसलिए जो चढ़ते हैं वे अपनी पीठ पर अपनी ऑक्सीजन खुद लादकर ले जाते हैं और उस टंकी का नॉब खोलना नहीं भूलते। लेकिन, दुर्भाग्यवश राजेश खन्ना बस यह नहीं कर पाए, उनसे यही एक चूक हो गई वे भूल गए उन्होंने, वहां से, उस नॉब से अपना हाथ उठा लिया और अपने से लगभग आधी उम्र की एक छोटी लड़की के हाथ में, अपना वह हाथ दे दिया, लेकिन हाथ भर का वह फासला, जिसके पूरने से जीवन का वृत्त बनता है, वे कभी पूरा नहीं कर पाए। नतीजतन, वह हाथ भी उनसे छूटा और धीरे-धीरे उनके दरमियान मीलों का फासला फैल गया। अब उनके अपने-अपने और अलग-अलग संसार थे ठीक इसी वक्त प्रसिद्धि ने भी उनसे फासला बढ़ाना शुरू कर दिया।

शायद यह बेरहम वक्त का कोई ऐसा बेसबब सिलसिला था कि वे इस सारे तह-ओ-बाल से अपना सिर उठाकर ठीक से दूर तक देख ही नहीं पाए। यह शायद रजतपट का पैदा किया गया फोटो-फोबिया था और, जब देखा तो उन्होंने पाया कि एक दिन उनके साथ 'आनंद' में काम करने वाला वह सह-कलाकर, जो उनके समक्ष लगभग 'नो-व्हेयरमेन' था, और जिसे वे कभी काम दिलाने के लिए फिल्म प्रोड्यूसरों से सिफारिश किया करते थे, उनके देखते-देखते ही शिखर पर पहुंच गया है। उस शिखर पर जहां कभी वे थे वहां उस ऊंचाई पर उनकी प्रसिद्धि की ध्वजा कुछ दिनों तक और लहराती रही, लेकिन, अंत में फड़फड़ाकर चिंदी-चिंदी हो गई। उन्होंने अपनी गीली आंखों से उधर देखा। आंसुओं से नफरत करने की हिदायत देने वाला संवाद 'आय हेट टीयर्स' कदाचित् केवल फिल्म के किरदार की जबान पर रह गया था और, वे आंखों को गीली होने से बचा नहीं पाए थे।

अपने भव्य आवास, 'आशीर्वाद', जिसकी छत के नीचे प्रसिद्धियों के शिखरों पर रहने वाले सिने कलाकार, भारतभूषण और राजेंद्र कुमार रह चुके थे, तब खबरें आने लगीं थीं कि वहां, उसके अंदर उन्होंने अपने लिए एक 'अंधेरा बंद' कमरा बनवा लिया है.... यह 'आशीर्वाद' के भीतर 'अभिशाप-कक्ष' था; जिसमें बैठकर वे कैमरों के सामने आंखों को चकाचौंध कर देने वाली

उन रौशनियों की स्मृतियों से भरे दिनों के उजले पन्नों को अकेले पलटते रहते हैं। यह एक किस्म की प्रसिद्धि के पराभव के बीच चुना हुआ अंधेरा था, जिसे उन्होंने अपने साथ कर लिया था।

दअरअसल, राजेश खन्ना छवियों के मायालोक में तब दाखिल हुए थे, जब नेहरू युग के उम्मीदों से भरे, नए दौर के नायक, जो सब 'मिल कर लिक्खेंगे नई कहानी' के स्वप्नों के साथ पर्दे पर आए थे- वे 'वो सुबह कभी तो आएगी' की उदास और डूबती धूसर उम्मीदों के साथ हाशिए पर चले गए थे। यह उनकी विदाई का समय था। वे अपने संवादों और शक्लों में भी बासी हो चुके थे। दरअसल वे नेहरू युग के 'विचार' के सम्मोहन के साथ सिनेमा में आए थे लेकिन एक दशक के गुजरते ही नेहरू खुद राष्ट्र-नायक के रूप में 'पराजय का प्रतिमान' बन गए थे। नवस्वतंत्र राष्ट्र का विजयोल्लास खत्म हो चुका था।

बहरहाल, यह समय का एक ऐसा संधिकाल था, जब पुराना पूरी तरह विदा नहीं हुआ था और नए ने अपने लिए मुकम्मल जगह नहीं बनाई थी। यह -कल के विरुद्ध बिना किसी कल' की वाली स्थिति थी। एक दिशाहीन-सी यथास्थिति। परिवर्तन के मिथ्या-लक्षणों को व्यक्त करता एक अधकचरा 'मिश्रित' सा नायक एक छोटी-सी उपस्थिति दर्ज कराने के लिए आता दिखाई दिया। यह मनोरंजन और मसखरी की मिलावट का 'स्वत्वहीन-सा' युवक था। वह परिवर्तन नहीं, परिवर्तन का बिजूका था। वह 'ईव-टीजिंग' को 'प्रेमाभिव्यक्ति' की तरह लेता हुआ, स्त्री के भीतर उसकी 'निजता' पर अतिक्रमण के लिए उतारू रहता था। वह 'जंगली', 'जानवर', 'बदतमीज' था। अतार्किक समय की यह विकृत प्रतिलिपि था लेकिन, ठीक इसी बीच नायकों की दो प्रति छवियां और भी पर्दे पर आ रहीं थीं। एक-- दिलीप कुमार के केश-विन्यास, लेकिन दिलीप कुमार से कुछ अधिक सुंदर। बावजूद, अभिनय की उस गहराई से शून्य। वह संगीत और सुंदर नायिकाओं के सहारे प्रसिद्धि की परिधि का छूता हुआ जुबली कुमार बन गया। दूसरा-- 'फूल और पत्थर' के प्रतीकों के द्वैत से निकलता हुआ 'ही-मैन' बन गया। वह जुबलीकुमार के 'स्त्रैण-रुदन' को तोड़ने लगा। इसके बावजूद, मध्यवित्तीय परिवार की औसत लड़की आर्थिक अभावों के बीच जीवन में किसी ऐसे 'ही-मैन' को हकीकतन हासिल कर सकने में अड़चन अनुभव करती थी, नतीजतन बावजूद सुंदर और सुडौल होने के वह हरेक युवती के सपनों में उपद्रव नहीं मचा सकता था। केवल पुरुष को लेकर एक पाषाणी देहासक्ति पैदा करता था। यहां यह नहीं भूलना चाहिए कि राजेश खन्ना के आगमन की पूर्व पीठिका के रूप में सिने-जगत में एक क्षीण-सी 'समांतर कौंध' भी बीच-बीच में दमक उठती थी। आसपास के परिवेश और सामाजिक यथार्थ की जो अपने स्तर पर जीवन और फिल्म के फर्क को कम करने का आग्रह कर रही थी।

बहरहाल, इस परिवर्तन के एक वाजिब वक्त में जब राजेश खन्ना आए तो अपने नैसर्गिक 'साधारणत्व' के साथ वे आकाशचारी सपनों में आवाजाही करते रहने वाले सितारे की तरह नहीं आए, बल्कि रेजिस देब्रे के पैदल चलते पांच फीट छः इंच के उस पैराडाइम की तरह आए जो पड़ोस के किसी गली मुहल्ले का रॉशन कार्ड लिए था। कमोबेश राजेश खन्ना के लिए यह उसी 'समांतरी यथार्थ के आग्रह' का बनाया हुआ स्पेस था। वह रोजमर्रा के यथार्थ से सीधा बिना किसी किस्म के पूर्व दस्तक दिए रूपहले पर्दे पर आ गया साधारण-सी शक्ल-सूरत के साथ। सामान्य कद काठी में 'देहासक्ति' नहीं थी, मध्यवित्तीय परवरिश का 'अभिजातहीन देह-साम्य' था उसमें। वह गाढ़ी और पाटदार आवाज में 'डायलॉग' नहीं बोलता था, बल्कि उसमें

बतरस की सहजता थी। उसके पास बड़े प्रश्नों के छोटे उत्तर थे। अलबत्ता, कहना चाहिए कि वह उस समय की एक किस्म को सोशियल इग्नोरेंस की उपज था। उसे किसी से शिकायत नहीं थी। कुछ तो लोग कहेंगे, लोगों का काम है कहना। कहता हुआ, थोड़ा है, थोड़े की जरूरत में तृप्त। एक किस्म का मिनिमलिज्म। पंगे रहित जीवन उसका अभीष्ट। अभाव में भी अपार आनंद को अविष्कृत करने वाला। उसके पास थी एक कपटहीन हंसी तथा गुस्से को व्यक्त करते हुए, उसे तुरंत नकली बना डालने की युक्ति।

हालांकि, उसके केशविन्यास में राजेंद्र कुमार की प्रतीति व आंख झपकाने तथा टेढ़ी गरदन के साथ संवाद अदायगी की देव आनंद से ली गई अदा का अतिरिक्त अभिनेयता के साथ दोहन। देव आनंद के आंख झपकाने और टढ़ी गरदन में, 'मेट्रोपोलिटन कल्चरल इलिट' का दर्प दीप्त होता था जबकि यहां कस्बाई मध्यमवर्गीय युवक की चुनी हुई लापरवाही। नितंब की पृथुलिता पर कुर्ते का आवरण। आंख झपकाने से लगता था, गालिबन उसने सामने वाले का एक नामालूम ढंग से 'कुछ' खुरचकर पलकों के भीतर कर लिया है। लड़कियों को लगता था, पलक झपकाकर उसने बाली की तरह उनका आधा 'स्वत्व' ही खींच लिया है। आंखों के इस अभिनय से जिस्मतोड़ शैली में नायिका को आगोश में लेने की फिल्मी युक्ति इसलिए भी निरर्थक हो गई कि मध्यवर्गीय कस्बाई परिवेश में खुल्मखुल्ला ऐसा आगोश में लेना विषेधात्मक था। यहां 'आंखों ही आंखों में बात होने दो' की-सी स्थिति थी। इस सबके बीच आंसू-तोड़ किस्म की कातरता को खारिज करता हुआ, यह चरित्र अपनी अन्विति में 'आय हेट टीयर्स' वाला भी था लेकिन, राजेश खन्ना को सिर्फ इसी ने शीर्ष पर नहीं पहुंचाया था, उन्हें शीर्ष पर पहुंचाने वाली हकीकतें कुछ और भी थीं।

थोड़ा-सा हम अब साहित्य की तरफ झांककर देखें तो हम पाएंगे कि शताब्दियों से तमाम कलाएं अपने-अपने ढंग से जिन तीन चीजों से, भिडंत करती रही आई हैं या उनके खिलाफ गहरा संघर्ष करती हैं। वे हैं- 'समय' 'ईश्वर' और 'मृत्यु'। बहरहाल इन तीन शाश्वताओं से संघर्ष किए बगैर शायद ही साहित्य में कोई कथा-पात्र अपने असली आशयों में 'नायकत्व' ग्रहण कर पाता हो। निहायत-सी सामान्य कदकाठी और शक्ल सूरत वाला अभिनेता यदि सिने इतिहास में शोहरत के सर्वाधिक ऊंचे शिखर पर चढ़ सका तो निश्चय ही इसके पीछे उसके द्वारा 'मृत्यु की चिरंतरता' से भिडंत में, स्वयं को निर्भीकता के साथ आखिरी क्षण तक झोंके रहने वाले किरदार की भूमिका अदा करना भी है। यों तो उन्हें फिल्मों में आए हुए को चार-पांच वर्ष होने को आए थे, लेकिन इन वर्षों में वे जो भूमिकाएं करते आ रहे थे, वह फिल्मी लेखन की अतिपरिचित गढ़ंत का थोड़ा-बहुत हेरफेर के साथ तैयार कर लिया जाने वाला किरदार था, जो कोई चमत्कार पैदा नहीं कर पा रहा था। 'आनंद' और 'सफर' ऐसी दो फिल्में उन्हें करने को मिलीं, जिनके पात्र मृत्यु की निष्करुण विभीषिका से अपनी 'सामान्यता में एक असामान्य लड़ाई लड़ते हैं। इस धारावाहिक युद्ध की बुनियाद की अवधारणा, कैंसरग्रस्त पात्र आनंद से एक संवाद से ध्वनित होती है 'बाबू मोशाय, जिंदगी लंबी नहीं बड़ी होनी चाहिए।' बहरहाल, फिल्म 'सफर' और 'आनंद' दोनों के ही पात्र युवा थे और मृत्यु उनको अचानक तब धर-दबोचने के लिए आ धमकती है, जबकि उन्होंने जीवन बस शुरु करने का इरादा ही किया है। 'सफर' फिल्म का शिक्षा का छात्र कहता है, 'यदि जिंदगी एक दीया है तो इसका तेल बहुत जल्दी से जल रहा है, लेकिन मैं इस दीये की उम्र बढ़ाने के लिए इसकी रोशनी कम करना नहीं चाहता।'

कहना न होगा कि दोनों ही पात्रों के भीतर 'मृत्यु की निर्मम निश्चिंतता' के विरुद्ध जीवन की दीर्घता तो खारिज करके, जीवन को बड़ा बनाने की निर्मल और निर्भय प्रतिज्ञा है। वे मृत्यु के भय को अपदस्थ करके जीवन को जज्बे के साथ जीने में जुट जाते हैं। यह मृत्यु को फलांगने की ही कोशिश थी, जो उन्हें 'मरकर भी जिंदा' बनाने का 'चमत्कार' गढ़ती है। ऐसे में वे नश्वर होने के बावजूद अनश्वर बन जाते हैं और वे अपनी नश्वर देह को त्यागकर हमेशा के लिए दर्शकों की स्मृति के संसार की नागरिकता प्राप्त कर लेते हैं। यह मृत्यु के कुरुक्षेत्र में, उसके शिकंजे में फंसकर शिकंजे से बाहर निकल जाना था। यह 'कामनर' का 'एपिकल' हो जाना था और 'वामन' का 'विराट'।

संयोग से राजेश खन्ना के प्रारब्ध में ही यह लिखा था कि ये दो फिल्में उन्हें अपने सिने-जीवन के आरंभ में ही मिल जाएगी। अतः उनके लिए मात्र फिल्में नहीं थी, बल्कि प्रसिद्धि कि रथ से बंधे गरुड़ थे, जो उन्हें आकाश की अकल्पनीय ऊंचाइयों तक लिए गए। यह एक तरह का 'अगम्यागमन' था। जहां कभी कोई नहीं पहुंचता, वहीं पहुंच जाना। निश्चय ही यह एक अप्रौढ़ उम्र के लिए 'ईशरत्व' के मिथ्या भ्रम की निर्मिति के लिए पर्याप्त थी। निश्चय ही इस मिथ्या प्रतीति की संरचना करने में, उस समय की बदलती पत्रकारिता की भी बहुत महत्वपूर्ण भूमिका इसलिए थी कि तब दैनिक समाचार-पत्रों के पृष्ठों पर फिल्मों पर चर्चा के लिए जगह बनना शुरू ही हुई थी। समांतर फिल्मों के आगमन ने इस माध्यम को बौद्धिक-छवि देना शुरू कर दिया था।

बहरहाल, यह भी एक विडंबना कही जाना चाहिए कि जिस तरह शोहरत उनके जीवन में धड़धडाती हुई आई; ठीक उसी तरह स्त्रियां भी उनके जीवन में धड़धड़ाती हुई आईं - फिर, उसी धड़धड़ाहट के साथ बाहर निकल भी गईं। उनके जीवन की इस विडंबना को पर्याप्त कलात्मक कौशल के साथ व्यक्त करता है, फिल्म 'सफर' का एक दृश्य, जिसमें अपने कमरे में वह कैंसरग्रस्त पात्र जो चित्रकार भी है अपने द्वारा बनाकर ईजल पर छोड़ दिए गए तैलरंग के पोर्ट्रेट के सामने बैठा है।

नीम अंधेरे से भरे उस कमरे में केवल खिड़की से एकमात्र सोर्स की तरह डियूज्ड रौशनी आ रही है। ईजल पर पोर्ट्रेट 'अगेंस्ट लाइट' रखा हुआ है, नतीजन वहां कैनवास पर अंधेरे के अलावा कुछ भी नहीं दिखायी देता। तभी धड़धड़ाकर आती ट्रेन की आवाज आती है और चूंकि कमरा रेलवे क्रॉसिंग के पास है- नतीजन धड़धड़ाकर आती ट्रेन की आवाज और कमरे की बाऊंस्ड रोशनी धीरे-धीरे पल-प्रतिपल बढ़ती है और ईजल पर अंधेरे में रखा हुआ, उसकी प्रेमिका का पोर्ट्रेट उभरकर रौशन होता है तथा कुछ क्षणों के बाद ही धड़धड़ाती आवाज के साथ ट्रेन गुजरने लगती है और गुजरती धड़धड़ाहट के साथ रोशनी भी और पोर्ट्रेट की प्रेमिका का चेहरा फिर अंधेरे में डूब जाता है। ट्रेन की आवाज का छोर शहनाई में मिक्स हो जाता है और दृश्य में उसकी प्रेमिका का ब्याह हो रहा है।

दरअसल, राजेश खन्ना के जीवन में पहले अंजू महेंद्रू आई, फिर मुमताज और शर्मिला और इसी बीच डिंपल कापड़िया। वह भी जितनी धड़धड़ाती आई थीं, उतनी ही धड़धड़ाती हुई उनके जीवन से बाहर भी निकल गई। इसके बाद राजेश के बारे में गॉसिप कालमों में खबर आने लगी 'काका डॉयलाग भूल जाते हैं'। 'काका सेट पर देर से पहुंचे और वे धुत्त थे।' वास्तव में वे शिखर से नीचे उतर आए थे और जमीन पर उतरने के बाद उन्होंने पाया कि वह अब

तक कई-कई किस्मों के अतिक्रमण से भर चुकी है। वे यह जान गए थे कि वे भूमिहीन हो रहे हैं। उनके भूमिहीन होते जाने में न तो फिल्म उद्योग की कोई चालाकी थी, ना ही किसी तरह का कोई कुचक्र या कुटिलता की कोई कुचमात। यह चिलचिलाती धूप के बीच अचानक सियाह रात्रि का अगमन था।

दरअसल, यह भीतर से खौलते-खदबदाते समाज के अंतःविस्फोट की पूर्व पीठिका की तैयारी का वक्त था। इस वक्त में 'इग्नोरेंस' अपराध बन रही थी। इसलिए, सामाजिक-कोप को छोटी-छोटी हँसियों, तसल्लियों के नीचे छिपाना संभव नहीं रह गया था। भलापन अक्षम्य लगने लगा था। चौतरफा एक ऐसी प्रश्नाकुलता थी, जो गिरेबान पकड़कर पूछना चाहती थी कि ऐसा क्यों है? कालेधन की एक समानांतर अर्थ-व्यवस्था पनप चुकी थी, जिसके चलते नायक-खलनायक में बदल रहे थे। तभी एक 'क्रिएटिव क्रिमनल' सामने आया। उसके चेहरे को देखकर लगता था, जैसे हँसियों को उसने सदा के लिए अपने भीतर बहुत गहरे दफन कर दिया है। नैतिक-अनैतिकता के महामिक्सर ने सब कुछ को फेंटकर एकमेक कर दिया था इसलिए, उसकी जबान नहीं, हाथ ही उत्तर देते थे और प्रश्न भी वे ही पूछते थे। यह एंगुअस विल्सन के लिए कविता में इस्तेमाल किए जाने वाले विशेषण 'ऐग्री यंगमैन' से नाथ दिया गया। निश्चय ही इसने उस छोटी-छोटी हँसियों और नकली गुस्से से काम चलाने वाले 'कॉमनर' की विदाई की घोषणा कर दी।

बहरहाल, उन तमाम मामूली जीवन जीने वाले पात्रों को जीवंत करते हुए उसे 'एपिकल' बनाने वाले राजेश खन्ना हाशिए पर कर दिए गए। अलबत्ता, वे बहुत जल्दी 'कॉमिकल' हो गए। क्योंकि, एक वक्त बाद तमाम महानताओं को 'मैनरिज्म' निगलकर उन्हें हास्यप्रद बना देता है। बहरहाल, राजेश खन्ना अपनी उसी प्रतिभा और मोहकता के बावजूद खाली हाथ थे। इसमें भी एक विडंबना यह है कि ईश्वर जब आपसे हाथ खाली करवाता है तो आपको अपनी नियति नसीब और ईश्वर से लड़ने के बजाए पहले स्वयं से लड़ना शुरू करना चाहिए। दिलीप कुमार ने खुद के खिलाफ लड़ाई लड़ी और वे ट्रेजेडी किंग को परास्त करके फिर से मैदान में आ गए थे लेकिन प्रसिद्धि के पहाड़ से उतरकर मैदान में मैदान मारना राजेश खन्ना के बूते से बाहर की हकीकत थी। अमिताभ के लंबे हाथों से जब सब छीना जा रहा था तो उन्होंने शायद अपनी पारिवारिक पृष्ठभूमि की गहरी समझ और दार्शनिकता के सहारे अपेक्षाकृत बहुत धैर्य से उसका सामना किया और वे धीरे-धीरे फिर से अपनी तरह के एक नए शिखर पर पहुंच गए लेकिन, शिखरच्युत राजेश खन्ना से यह नहीं हो पाया। वस्तुतः शिखर का जो अकेलापन था, उसी के हाथ में हाथ डाले वे नीचे उतरे और उस अकेलेपन को उन्होंने अपने से विलग नहीं किया।

शायद उस अकेलेपन के पीछे ही कोई अप्रकट-सी आत्म प्रताड़ना भी छुपी हुई थी। शायद उसी ने राजेश खन्ना को हताहत करना शुरू कर दिया था, जिससे निबटने के लिए वे अपने अंधेरे बंद कमरे में कैद होकर शराब को अपना संबल बनाने लगे। शायद इस उम्मीद में कि एक दिन वे गुजरे हुए मुकाम फिर से लौट आएं। यह सच जानते हुए भी कि वे मुकाम फिर नहीं आते। कदाचित् यह भी नियति और प्रारब्ध का कोई अबूझ खेल था कि उनकी वापसी नहीं हो पाई।

अमिताभ की तरह वे भी राजनीति में गए भी, लेकिन राजनीति के लिए वे अदने से नायक

थे, जिसे उसने दल को दलदल में धंसने की घड़ी में इस्तेमाल किया और आदतन वह ऐसे उपयोग के बाद तुरंत उसे अनुपयोगी की तरह एक ओर रख देती है। उन्हें भी रख दिया। दर्शकों ने जो सत्ता और सिंहासन दिया था, वे उसे ही कहां संभाल पाए? कहना न होगा कि इसके लिए जिस 'आत्म' की ऊर्जा की आवश्यकता होती है- वह उनका बर्बाद दांपत्य कभी का समाप्त कर चुका था। उनके पास अपनी पुरानी प्रसिद्धि और प्रतिभा को सहेजे रखने में कारगर युक्ति भी नहीं थी। और विडंबना तो यह कि उन्होंने अपने असली जीवन में उन पात्रों की सहज दार्शनिकता को भी उपकरण की तरह इस्तेमाल नहीं किया।

कुल मिलाकर राजेश खन्ना एक दारुण पटकथा के ऐसे नायक थे, जिसमें 'वामन' से 'विराट' होने के बाद के ध्वंस का पन्ना-पन्ना अवसाद से भरा हुआ है और फिल्म 'सफर' के संवाद की तरह की सच्चाई कि 'अंतिम पड़ाव पर अंधेरा ही अंधेरा है।' बहरहाल उस अंधेरे ओर अवसाद के कुहासे में से अभी भी सत्तर-की पीढ़ी आज अपने जीवन के उतरार्द्ध में भी एक भोले और जीवन को उसकी सहजता में जीने की जद्दो-जहद में मुस्कराते और आंखें झपकाते अभिनेता को याद करते हुए अपनी आंखों के कोरों में गीलापन बरामद कर रही होगी। निश्चय ही 'अमर प्रेम' की सात्विकता में डूबे पात्रों से 'इश्क के कमीने' हो जाने तक की हकीकतों के निकट पहुंच चुके समय में, राजेश खन्ना की एक फिल्म की प्रश्नाकुल पंक्ति याद आ रही है, जिसमें पूछा जाता है कि 'सावन जो आग लगाए उसे कौन बुझाए?' उदास करने वाली बात यही है कि इस सावन में जो आग लगी, वह लपट बनकर निष्कपट हँसियों और छोटे-छोटे सुखों के भीतर ही जीवन का अभीष्ट खोज लेने पात्रों को मूर्त करने वाले महानायक की कैंसरग्रस्त काया को धू-धू कर के फूंककर राख में बदल चुकी है। लेकिन, वे पात्र जो राजेश खन्ना के अभिनय से जन्म लेकर हमारे जीवन में शामिल हो गए थे-वे हमारी सामाजिक जीवन की स्मृति के भीतर से झांकते हुए कभी हमारे एकाकी क्षणों में सहसा बोल पडेंगे- 'बाबू मोशाय, जिंदगी लंबी नहीं बड़ी होना चाहिए।' 'सफर' फिल्म में एक संवाद था, 'जानता हूं, जीवन के अंतिम पड़ाव में बहुत अंधेरा होगा।' हो सकता है, इस संवाद के सच ने कभी राजेश खन्ना को अपने एकांत में डराया भी हो। लेकिन, नियति एक दिन उन्हें कैंसरग्रस्त करके एक ऐसे ही अथाह अंधेरे में ले आई, जिसके आखिरी छोर पर चिता की जलती लकडियों की रोशनी थी। शायद, यही वह आखिरी लोकेशन था और यहीं अंतिम और अटल रोशनियां, जिसमें आंख मूंदकर चिरनिद्रा का अंतिम अभिनय करना होता है।

(लेखक सुप्रसिद्ध कथाकार और मीडिया विश्लेषक हैं)

अभिनय की संकरी गली के सरताज भारत भूषण

प्रताप सिंह

हिंदुस्तानी सिनेमा के रूपहले चेहरे को कई नायकों-महानायकों ने अपनी मायावी-उपस्थिति से चमकाया है। भारत भूषण ने इस मायावी-लोक में अपनी मानवीय-उपस्थिति को ही ज्यादा दर्ज कराया है। पचास और साठ के दशक में हल्की-फुल्की 'एंट्री' के बाद उनका जादू चल निकला था, पर नायक के सिंहासन पर उनका ही सिक्का ज्यादा चला जिनके खेवनहार, उस दौर में-गायक और संगीतकार थे। नायिकाएं भी जिनकी गायिकाएं (भी) हुआ करती थीं। खनकदार, लरजती आवाज की मालकिन ये नायिकाएं राजे-महब्बत की पोशीदगी में भी माहिर, हुआ करती थीं।

सौभाग्य से भारत भूषण को भी सुरैया, निम्मी, मधुबाला और मीना कुमारी जैसी चर्चित अभिनेत्रियां हासिल हुईं जिनका साथ और रख्शिंदगी (चमक/आभा) उनकी अदाकारी में सोने में सुहागा साबित हुए। 1952 से 1965 तक एक संपूर्ण सजीले नायक का स्वर्णकाल उनका भी रहा। बैजू बावरा', 'मिर्जा गालिब', 'बरसात की रात' से 'आनंदमठ', 'आदि शंकराचार्य' और 'तकदीर' तक की लंबी पारी में उन्होंने कई यादगार भूमिकाएं निभाई। उन्होंने जो खोया-पाया वही उनके फ्लैश-बैक के अंतराल को दर्शाता है। (बकौल गालिब कहें तो- नाकामी-ए-निगाह बर्के नजारा सोज/तू वो नहीं कि तुझको तमाशा करे कोई।')

अभिनय की संकरी गली में भारत भूषण की रेंज के चंद्रशेखर और प्रदीप कुमार भी देर तक छाए रहे पर भारत भूषण जैसा रौशन जमीर, जिब्रानी आंखें और लताफते मिजाज (स्वभाव की कोमलता) उनके नसीब में नहीं था। 'मिर्जा गालिब' और 'बैजू बावरा' की मानीखेज अदाकारी 'माजरा-ए-दिल' पर टिकी हुई थी। खासकर 'मिर्जा गालिब' का किरदार, तो उनकी रूह के करीब था। उनकी करुणा-अभिव्यक्ति ओर आंखों में व्याप्त खालीपन दोनों ने मिलकर उस दौर के सबसे बड़े शायर की मुकम्मिल छवि को दर्शा दिया था। इस छवि में खिन्नता, बेचैनी, उपेक्षा, शिथिलता ओर सबसे ऊपर इफ्लास (गरीबी) के पैबंद इम्तिजाज थे। भारत भूषण ने गोश-ए-तनहाई के मारे इस शायर, की गोयाई (वाक् शक्ति) को भी जज्ब किया था। तिस पर गुलरूखसार सुरैया के कोकिल कंठ ने गालिब की जिन पांच गजलों को गुलाम मोहम्मद और गुलाम हैदर की सोहबत में अपने मखमली स्वर से बेशबहा (बेशकीमती) किया था। वही भारत भूषण के किरदार को गालिब के रगोरेशा (स्वभाव, प्रकृति) की रकम में बदलने के लिए काफी था। परदे पर ये सारे चमत्कार, उनकी भी धाक बन गए। चंद फिल्मों का यह वली अहद (राजकुमार) बाद में बड़े सितारों की डूबती कतार में बैठ गया जिसकी राह में कोई गीताबाली या मधुबाला सबदे गुल (फूलों की टोकरी) लेकर, खड़ी नजर नहीं आई।

दरअसल भारत भूषण परदे के करुण-हृदय कवि और अपने दौर के चहेते कलाकार थे। उन्हें नायिकाओं के दिल में बसने का हुनर हासिल था पर उन्हें आखिर दौर तक पहुंचते-पहुंचते अपनी सादगी और मासूमियत की मिसाल बनने के अलावा कुछ भी हासिल न हुआ। रोमांटिक छवि वाले चंद्रशेखर और प्रदीप कुमार से कुछ भिन्न-छवि वाले भारत भूषण मासूम छवि के ही हीरो कहलाए। वे भावुक-चरित्रों को निभाने में बेहतर नजर आते थे इसका कारण था उनमें ऐसे किरदारों को जी-पाने की ललक थी। वैसी ही संवेदनशीलता की सहज-प्रस्तुति की मिठास या ऐसे किरदारों को बार-बार निभाने की चाहत एक कमजोरी भी बन चुकी थी और उनके नायकत्व की पहचान भी वही थी।

उनका संवाद-कौशल भी शायराना था जबकि प्रदीप कुमार और चंद्रशेखर को यह उतना नसीब न था। प्रदीप कुमार अपने खूबसूरत चेहरे के बावजूद उर्दू, सीखकर बनावटी शायराना-अंदाज कमा रहे थे। भारत भूषण के साथ काम कर चुकी नायिकाओं को यह बंगाली (प्रदीप-बाबू)) हर सूरत में बंगाली ही नजर आते थे। 'भीगी रात', 'जहां आरा' जैसी फिल्मों की नायिकाएं, भारत भूषण के बाद उन्हें अदाकारी में टक्कर दे रही थी जबकि यह उन नायिकाओं का 'उत्तर-काल' था। चंद्रशेखर की तरह भारत भूषण 'स्ट्रीट सिंगर' भी नहीं हो सकते थे और न ही परदे के चालू-गायक। उन्हें 'बरसात की रात' ओर 'बैजू-बावरा' की गायिकी को अपना बनाकर पेश करने की माहिरी हासिल हो चुकी थी। पर एक बात तीनों में समान थी। तीनों को मोहम्मद रफी जैसे सुर-सम्राट की आवाज मुहय्या थी। यह इनका नसीब था। फिर भी नायिकाएं 'शाना-ब-शाना' आगे निकल जाती थी। निम्मी, मीना कुमारी, मधुबाला से लेकर माला सिन्हा तक अपने लिबास, लुभावनी छवि, कमसिन अदाओं से परे भी, कई बार गायिकी की पर्देदारी की लाजबाब पेशकश के रहते उन्हें पीछे छोड़ जाती थीं। उस दौर में ज्यादातर नहीं तो, कुछ नायिकाएं-गायिकाएं भी-होती ही थीं। उनके रहते तो संगीत-प्रधान या पारिवारिक फिल्मों के भोले-भाले, मासूम दिखते 'दर्द भरे नाले' दोहराने वाले नायकों को भी चार-चांद लग जाते थे। सुरैया इसकी अन्यतम मिसाल बन चुकी थी। भारत भूषण का नसीब चमकाने में 'मिर्जा गालिब' जैसी रूहानियत, बेकारारी, वीरानगी के अलावा सुरैया जैसी खनकदार आवाज की लरज भी काम आई थी। अलबत्ता, मायूसी और खालीपन से लबरेज मासूम चेहरे से गालिब जैसी ही रूहानियत टपकती थी। भारत भूषण का इस सदी के महान शायर के किरदार के तौर पर चयन सोहराब मोदी की फितरत नहीं थी। 'मिर्जा गालिब' की प्रतिमूर्ति नजर आते भारत भूषण ने सुरैया के जलवे के बावजूद अपनी कारीगीरी से इसे साबित भी किया था पर यह सोहबत का भी असर था।

पचास के दशक की फिल्मों की शोहरत का एक राज था। संगीत और सुर की बुलंदी मासूमियत से भीगे मुखड़ों को भी फायदा पहुंचाती थी। चवन्नी-छाप ही नहीं, बाकी दर्शकों को भी ऐसे ख्यालों में मुस्कुराते रहते हीरो/हीरोइन की अदाएं पसंद आती थीं।

वास्तव में उस दौर की श्याम-श्वेत फिल्मों के असल खेवनहार 'गायक' और 'संगीतकार' ही थे जो परदे के नायक-नायिकाओं की प्रसिद्धि को हर बार नई टेक प्रदान करते थे। इसलिए सारी 'वाहवाही' उन्हें ही मिलती पर दर्शक गुणग्राही होते थे और असलियत भी जानते थे। दर्शक यह बात खूब जानते थे कि (उस दौर में) गुलाम मोहम्मद, नौशाद या रोशन के सुरों व धुनों तथा बेगम अख्तर, नूरजहां, सुरैया की पुरनूर महकती-लरजती आवाज के बिना कौन

अपनी कामयाबी के झंडे गाड़ सकता था फिर भी भारत भूषण अपवाद थे।

भारत भूषण 'सिल्वर जुबली मार्का हीरो' या 'शो-पीस' नहीं थे। कुछ बड़े बैनर की और कुछेक बड़ी फिल्में जरूर उन्हें हासिल हुई थी। प्रदीप कुमार और चंद्रशेखर जैसा आकर्षण और हाव-भाव भी उनमें नहीं था। अपनी एक ही भावभूमि, बनाए रखने के कारण हीरो के बजाय एक आदर्श पुरुष ज्यादा नजर आते थे। यही वजह थी कि महबूब खान जैसे पारखी-निर्देशक ने पहली नजर में, बड़ी सिफारिश के बाद भी, उन्हें अपनी फिल्म 'अली बाबा और चालीस चोर' की कास्टिंग में शामिल नहीं किया था फिर भी उनका भविष्य उज्जवल था।

भारत भूषण मेरठ के गुप्ता परिवार से थे। उनके पिता वकील थे। फिल्मों में प्रवेश पाने से पहले तक भारत भूषण कलकत्ता में थे। कलकत्ता से 1942 में काम की तलाश में वे बंबई आए थे और निर्माता-निर्देशक महबूब खान के कलकत्ता के किसी खास दोस्त की सिफारिशी चिट्ठी लेकर ज्योति स्टूडियो पहुंच गए थे। 'अली बाबा और चालीस चोर' फिल्म की 'कास्टिंग' पूरी हो चुकी थी। बल्कि उस फिल्म की शूटिंग ज्योति स्टूडियो में शुरू हो चुकी थी। ऐसे में महबूब ने उस सिफारिशी-लेटर को कोई महत्व नहीं दिया। लिहाजा महबूब-मंडली में उन्हें कोई खास मौका नसीब नहीं, हुआ। उन्हीं दिनों पं. रामेश्वर शर्मा 'भक्त कबीर' फिल्म के निर्माण की अंतिम रूपरेखा बना चुके थे।

उधर महबूब की चौखट से निराश होकर भारत भूषण घर लौटने की सोच ही रहे थे कि किसी ने ज्योति स्टूडियो में उनकी हालत देखकर पं. रामेश्वर शर्मा से मिल लेने की उन्हें नेक-सलाह दी। 'भक्त कबीर' की भूमिका हासिल करने की तमन्ना लिए भारत भूषण चौपाटी पर पं. रामेश्वर शर्मा से मिले। भूमिका मिलने की आस लगाए बैठे भारत भूषण रामेश्वर शर्मा को भा गए बल्कि भक्ति-भाव से संपन्न इस सीधे-साधे चेहरे वाले युवक से खासा प्रभावित भी हुए। उनकी इस नई फिल्म में केवल काशी नरेश की भूमिका ही शेष बची थी जिसके लिए कलाकार उन्हें चाहिए था। इस पात्र के वास्ते एक सुंदर चेहरे का ढूंढ़ा जा रहा था।

पं. रामेश्वर शर्मा ने इस नौजवान की जिब्रान जैसी आंखों में कुछ देख लिया। 'भक्त कबीर' में 60 रुपये माहवार पर काशी नरेश की भूमिका भी उन्हें दे दी गई। उन्हीं दिनों की एक घटना से उनकी किस्मत चमक गई। फिल्म में भक्त कबीर की भूमिका प्रसिद्ध शास्त्रीय गायक पंडित ओंकारनाथ ठाकुर निभा रहे थे और निर्देशक महोदय उनसे कबीर के दोहे भी गवाना चाहते थे। मान-सम्मान ओर बड़ी प्रतिष्ठा वाले पंडित ओंकारनाथ ठाकुर को निर्देशक की यह जिद रास न आई और बात इतनी बिगड़ गई कि गुस्से में वे कबीर के चेहरे पर चस्पा नकली दाढ़ी और विग नोंचकर, वहीं फेंक, स्टूडियो से चले गए। पं. रामेश्वर शर्मा ने इस घटना के दिन ही ऐलान कर दिया- 'भारत भूषण अब तुम काशी नरेश नहीं, भक्त कबीर की मुख्य भूमिका करोगे।' इस तरह काशी नरेश के चरित्र अभिनेता वाले किरदार के बजाय भारत भूषण मुख्य भूमिका तक पहुंच गए और इस फिल्म के हीरो बन गए। मेहताब को इस फिल्म की हीरोइन पहले ही तय किया जा चुका था। बस यही भारत भूषण की पहली फिल्म बन गई। इसके बाद उन्हें सजीले-शर्मीले-हँसमुख हीरो के रूप में भी मान्यता मिलती चली गई। सौ से ज्यादा फिल्मों में उन्होंने नायक की भूमिका की लेकिन ख्याति उन्हें साधु-संत, कवि व शायर की भूमिकाओं से ही ज्यादा मिली। 'सोहराब मोदी' से लेकर 'विजय भट्ट' और 'बिमल राय जैसे चोटी के निर्देशकों तथा 'मेहताब' से लेकर 'मधुबाला' ओर 'नूतन' जैसी चर्चित अभिनेत्रियों

के साथ उन्होंने काम किया।

1952 से 1965 तक का समय प्रमुख अभिनेता भारत भूषण का स्वर्णकाल कहलाता है। सोहराब मोदी की फिल्म 'मिर्जा गालिब' में इस सदी के अव्वल शायर असदुल्ला खां की भूमिका के लिए उन्हें सर्वश्रेष्ठ अभिनेता का अवार्ड भी मिला और राष्ट्रपति पदक से भी इस फिल्म को नवाजा गया। भारत भूषण ने परदे पर जिस गालिब को अपनी रूह से जिंदा किया था वह गुलजार के असदुल्ला खां से ज्यादा गमगीन मोमिन और संजीदा नजर आता है जबकि गुलजार की पेशकश में गालिब (नसीर) गंभीर, गमगीन पर खुद से हमेशा नाराज रहने वाला शायर ज्यादा नजर आता है। इनके अलावा दिल्ली के रंगमंच अभिनेता अभिताभ श्रीवास्तव भी मिर्जा गालिब को जीवंत प्रस्तुत कर चुके हैं पर सोहराब मोदी भारत भूषण के अपने चयन में सर्वाधिक खरे हैं। गालिब के दौर के हालात सिनेमा के परदे पर उतारने में भी उनका कोई सानी नहीं है। सुरैया की गाई गजलों व निम्मी की यादगार भूमिका ने भी 'मिर्जा गालिब' फिल्म को एक अलग शोहरत बख्शी थी।

'बैजू बाबरा' और 'मिर्जा गालिब' के अलावा 'बसंत बहार', 'फागुन' और 'सोहनी महीवाल' में भी भारत भूषण को चमकने और नई जोड़ियां बनाने का भरपूर मौका मिला। परंतु वह अपनी अगली फिल्मों के चयन के मामले में चौकस नहीं थे। भारत भूषण बिमल राय की फिल्म 'मां' में जरूर काम कर रहे थे और अपनी पिछली फिल्मों 'सिराजुदौला', 'आनंद मठ' तथा 'अंगुलिमाल' के नायक की प्राण-प्रतिष्ठा को बचाने में लगे हुए थे। उन किरदारों को भारत भूषण भूलते नहीं थे, जो अंततः उनके नायक को चरित्र-भूमिकाओं की ओर धकेल रहे थे। इस खतरे से परिचित होते हुए भी वह अपनी भूमिकाएं दोहराने लगे थे और प्रौढ़ भी नजर आने लगे थे। राजश्री प्रोडक्शन की फिल्म 'तकदीर' तक पहुंचते-पहुंचते उन्होंने पिता का रोल करना स्वीकार कर लिया था। बाद में 1984 में जी.वी. अय्यर ने जब संस्कृत भाषा में 'आदि शंकराचार्य' का निर्माण किया तो उन्होंने शंकराचार्य के पिता की भूमिका में मृत्यु से साक्षात्कार के भावों को एक नई ऊंचाई प्रदान की।

उनकी भाव-भंगिमाएं और बाजार-भाव सदाबहार हीरो का कभी नहीं रहा न ही भारत भूषण ने इसकी चिंता की। यश-अपयश भी उनकी राह में नहीं आए। नसीब का जो मिल गया था, वही उनके लिए बड़ी बात थी। उस दौर की प्रमुख अभिनेत्रियों मेहताब, निगार सुल्ताना, निम्मी, सुरैया, मधुबाला, मीनाकुमारी, श्यामा, नलिनी जयवंत, गीताबाली, सुचित्रा सेन और नूतन, वैजयंती माला, सरीखी प्रतिभा संपन्न तथा नखरीली हठीली, खूबसूरत नायिकाओं/हीरोइनों के भारत भूषण भी नायक बने। इसके अलावा सौभाग्य से, उनकी फिल्मों में भी सुमधुर गीतों के बोलों व सुरों की गंगा निरंतर बहती रही। भारत भूषण इस कारण भी एक दशक तक परदे पर छाए रहे। 'रसिया-नायक' की पदवी भी उन्हें कुछ फिल्मों की ऋतुमयी या शृंगारिक-अठखेलियों के मनभावन दृश्यों के रहते मिलती रही पर यह दौर टिकाऊ न रह सका।

उनकी तीन और फिल्में 'संगीत सम्राट तानसेन', 'विद्यापति' और 'चैतन्य महाप्रभु' भी चर्चित हुईं। इनमें 'चैतन्य महाप्रभु' को फिल्मफेयर अवार्ड मिला। इससे पहले सन 1952 में विजय भट्ट ने 'बैजू बावरा' फिल्म में भारत भूषण को बैजू की भूमिका से नवाजा और इस पात्र को अमर कर दिया। इस फिल्म में दृश्यावलियों, संगीत-सुरों का भी उतना ही योगदान था जितना कि नायक-नायिका की जोड़ी का। मीना कुमारी और भारत भूषण की यह जोड़ी

फिर कभी 'बैजू बावरा' के मन भावन रूप-दृश्य और कमनीय-श्रृंगारिक-छवियों से होड़ी न ले सकी। फिल्म 'दानापानी' में भी मीना कुमारी उनकी नायिका बनी।

सभ्य और सुसंस्कृत नायक भारत भूषण 1960 में पी.एल. संतोषी की फिल्म 'बरसात की रात' में पूरी तौर पर हीरो नजर आने लगा। वह भी उस सीन में-जब मधुबाला के आगोश में वह अपनी शहदीली-मुस्कान की छवि में नजर आया लेकिन 'आनंदमठ' और 'कवि कालिदास' जैसी अहम फिल्मों के प्रमुख पात्र उनकी गढ़ी गई दिल फेंक युवक वाली नई छवि पर हावी होते रहे।

भारत भूषण को यदि गीताबाली के साथ 'सुहागरात' मधुबाला के साथ 'बरसात की रात', 'गेट वे ऑफ इंडिया', 'कल हमारा है' नूतन के साथ, 'शबाब' और 'चांदी की दीवार' वीणा राय के साथ, 'मीनार' सुचित्रा सेन के साथ, 'चंपाकली' चांद उस्मानी के साथ, जहां आरा, 'अमानत' माला सिन्हा के साथ की गई भूमिकाएं न मिली होतीं तो उनका मुकद्दर और नायकत्व और पहले ही गुरु-गंभीर भूमिका को में रचे-बसे रहने से, संकट में डाल सकता था, जैसा कि भविष्य में उनके साथ किस्मत ने यही खेल किया। भारत भूषण इन फिल्मों के अलावा 'लड़की', 'नया कानून', 'प्यार का मौसम' और 'खेल' मुकद्दर का', जैसी फिल्मों में भी अपनी बाजी संभाले रखने में जुटे रहे। ये सभी लोकप्रिय फिल्में थीं पर उन्हें अपनी कोरी सादगी और थोड़ी नीमकश-आंखों से बात कहने की कला के नाते ही जाना गया। इन फिल्मों में उनकी जोड़ीदार अभिनेत्रियों की श्रृंगार-रस में दर्शक ज्यादा डूबते-उतरते दिखाई दिए। इसलिए भी कि-उन्होंने अपने बारे में 'प्यार की पीगों' के किस्से नहीं गढ़ने दिए जबकि पूरे दौर में एक से एक सुंदर अभिनेत्री का उन्हें साथ और संग मिला। उनकी अभिनय कला का परचम बस लहराता रहा पर अभिनयता उनकी शैली का स्थायी-भाव नहीं बदला। इकसार-अभिनय की इस संकरी गली से वह कभी बाहर नहीं निकल सके।

'अंगुलिमाल' जैसी फिल्म में भी एक पसीजा, हुआ डाकू ही परदे पर दिखाई दिया। उनमें दुर्दांत-भाव, हिंसा या भयावहता तो नाम-मात्र को नजर आए। हमारे फिल्म जगत में ऐसे अपवाद और भी हैं उनमें एक हैं-राजकुमार। अगर राजकुमार को भिखारी का रोल करना पड़ता तो वहां भी वह शाही-फकीर ही नजर आते। भारत भूषण की शाश्वत छवि के साथ भी ऐसा ही कुछ रहा। विपरीत स्थितियों वाली भूमिका प्रतिनायक की छवि अथवा खलनायिकी वाले चरित्र भी उनका स्थायी-भाव नहीं बदल सके इसका उन्हें खामियाजा भी भुगतना पड़ा। भारत भूषण ने फिल्म-जीवन के उतार के दिनों में इस कड़वी सच्चाई को स्वीकार भी कर लिया। उन्होंने अपने फिल्म-जीवन को नई टेक देने के लिए 'दूज का चांद' फिल्म भी बनाई। जब फिल्म चली नहीं तो वह आलीशान बांग्ला छोड़ आर्थिक झमेलों के कारण बंबई की चाल में ही बाकी की जिंदगी बसर करने को मजबूर हो गए। एक लंबी चुप्पी के बाद छोटे परदे (दूरदर्शन) पर वह पहली बार 'पूर्णिमा' सीरियल में देखे गए और 'विक्रम और बेताल' में भी। अंतिम सीरियल 'गुप्ताजी' तक आते-आते भारत भूषण चरित्र अभिनेता ए.के. हंगल की हालत में पहुंच गए थे और फिर छोटी-छोटी ग्रामीण जीवन की छवियों ओर धारावाहिकों की गलियों का आसरा ही उस 'बैजू बावरे' की जिंदगी की नैया को पार लगाने के लिए शेष बचा था।

(लेखक प्रख्यात सिनेमा समीक्षक हैं)

जन्म शताब्दी वर्ष पर विशेष

'जन कलाकार' बलराज

अजय कुमार शर्मा

यह सुखद संयोग है कि हिंदी सिनेमा के सौ साल (3 मई 1913 को पहली फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' का प्रदर्शन) और इसी के एक बेजोड़ अभिनेता बलराज साहनी (जन्मः 1 मई 1913, रावलपिंडी) का जन्म शताब्दी वर्ष भी इसी साल मनाया जा रहा है।

बलराज साहनी ने अपने जीवंत अभिनय से जो भी भूमिकाएं की उन्हें यादगार बना दिया। 'धरती के लाल' का गरीब किसान, 'दो बीघा जमीन' का हाथ से रिक्शा खींचने वाला मजदूर, 'हम लोग' का मुखर बेरोजगार युवा, 'हलचल' का उदार जेलर, 'काबुलीवाला' का पठान या फिर अपनी अंतिम फिल्म 'गरम हवा' का मुस्लिम व्यापारी जो विभाजन की त्रासदी झेल रहा है आदि किरदारों को जब याद करते हैं तो हमें बलराज नहीं बल्कि वे किरदार ही सामने खड़े दिखाई देते हैं। बलराज ने अपने को इन किरदारों में इस तरह ढाला कि वह गायब हो गए और दर्शकों को उनके किरदार ही याद रहे।

'दो बीघा जमीन' की कलकत्ता में हुई शूटिंग के दौरान कई बार भीड़ ने उन्हें असली रिक्शाचालक समझकर ही व्यवहार किया। यह उनके स्वाभाविक हुलिए और बोल चाल की वजह से ही हुआ, जिसके लिए उन्होंने स्वयं ही कड़ी मेहनत की थी। बंबई के जोगेश्वरी इलाके में उत्तर प्रदेश और बिहार के भैंस पालने वाले भैया लोगों की बस्ती में उन्होंने उनके खान-पान, पहनावे बोलचाल का गहराई से अध्ययन किया। सिर पर गमछा बांधने का विचार उन्हें यहीं से आया।

बलराज साहनी का फिल्मों में आना पूर्व नियोजित नहीं था। वह काफी सोच-समझकर ही फिल्मों से जुड़े थे और इसका कारण बने चेतन आनंद जो गवर्मेंट कालेज, लाहौर में उनके साथ पढ़े थे और उनसे दो साल जूनियर थे।

बलराज ने 1934 में अपनी पढ़ाई पूरी करके कुछ दिन रावलपिंडी में अपने पिता का कपड़ों का व्यापार संभाला। उनका मन इसमें लग नहीं रहा था। इस बीच 6 दिसंबर 1936 को उनकी शादी दमयंती (बलराज के मित्र जसवंत राय की छोटी बहन) से हुई। कुछ दिनों बाद ही उन्हें साथ ले लाहौर आ गए और यह यहां से 'मंडे मार्निंग' नामक एक साप्ताहिक अंग्रेजी समाचार पत्र निकाला। दो-तीन अंक निकालते ही तबीयत खराब होने के कारण इसे बंद कर दोनों पति-पत्नी कलकत्ता चले गए सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' के पास, जो उनके सहपाठी के बड़े भाई थे। यहां कुछ दिन लेखन कार्य करने के बाद 'अज्ञेय' की सिफारिश पर उन्हें शांतिनिकेतन में हिंदी अध्यापक की नौकरी मिल गई। यहां हिंदी विभाग के अध्यक्ष आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी थे। यह 1937 के जाड़ों की बात थी।

लगभग दो साल यहां बिताने के बाद वे गांधीजी के वर्धा स्थित सेवाग्राम जा पहुंचे 'नई-तालीम' पत्रिका के सहायक-संपादक बनकर। यहां एक साल ही गुजरा था कि वे गांधीजी से अनुमति लेकर बी.बी.सी. लंदन में उद्घोषक बनकर इंग्लैंड चले गए। वे वहां चार साल तक रहे। यह द्वितीय विश्व युद्ध का समय था।

1944 की गर्मियों में साहनी दंपति इंग्लैड से वापस लौटे। उनके साथ कुछ ही महीनों की उनकी बेटी शबनम थी। अपने बड़े बेटे परिक्षित को वे इंग्लैंड जाने से पहले दादा-दादी के पास रावलपिंडी छोड़ गए थे। इंग्लैंड से बलराज दंपति पूरी तरह बदलकर आए थे। अब वे एक पक्के मार्क्सवादी थे।

इंग्लैंड से वापसी में वे कुछ दिन बंबई में रुके। एक दिन बलराज की मुलाकात अचानक चेतन आनंद से हो गई जिनके साथ पढ़ते हुए लाहौर में उन्होंने कई नाटकों में साथ-साथ काम किया था। चेतन से बातचीत के दौरान उन्हें जानकर खुशी हुई कि अब भारत में भी सभ्य समाज के लोग फिल्मों को उतनी बुरी नजर से नहीं देख रहे हैं। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इन माध्यमों के प्रति लोगों का नजरिया बदला है। उन्हीं से उन्हें पता चला कि कृष्ण चंदर, उपेंद्रनाथ 'अश्क', सआदत हसन मंटो, भगवती चरण वर्मा, जोश मलीहावादी, अमृतलाल नागर, प. नरेंद्र शर्मा जैसे चोटी के लेखक बंबई में रहकर ही फिल्मों के लिए कहानियां और गीत लिखकर हजारों रुपये कमा रहे हैं।

इंग्लैंड जाने से पहले बलराज साहनी की भी गिनती हिंदी के युवा कहानीकारों में होने लगी थी। उनकी कहानियां 'विशाल-भारत' 'हंस' और अन्य पत्रिकाओं में नियमित रूप से छपती रहीं थी। बंबई में चेतन आनंद और उर्दू लेखक कृष्ण चंदर (ये भी लाहौर में एफ.सी. कॉलेज में पढ़े थे) से हुई मुलाकातों से बलराज ने इतना तो जरूर सोचा कि अगर कहीं और कुछ न हुआ तो दूसरे साथी लेखकों की तरह फिल्मों के लिए लिखकर तो रोजी-रोटी कमाई ही जा सकती है। अभिनय की बात अभी तक उनके दिमाग में नहीं आई थी।

इस बीच काफी समय के बाद उन्होंने एक कहानी लिखकर 'हंस' पत्रिका को भेजी लेकिन वह अस्वीकृत हो गई। इससे बलराज के स्वाभिमान को गहरी चोट लगी। तभी चेतन आनंद ने उन्हें और उनकी पत्नी दमयंती को फिल्म 'नीचा नगर' में जिसका वह निर्देशन कर रहे थे के मुख्य पात्रों का रोल करने, का प्रस्ताव रखा। अस्वीकृत कहानी से चोट खाए बलराज ने चेतन का यह प्रस्ताव तुरंत स्वीकार कर लिया। इस तरह एक अस्वीकृत कहानी ने बलराज का फिल्मों में अभिनय करने का रास्ता खोल दिया। सितम्बर 1944 में बलराज, दयभंती और दोनों बच्चों के साथ बंबई, चेतन आनंद के घर जा पहुंचे...।

आर्थिक मुश्किलों के चलते 'नीचा नगर' फिल्म की शूटिंग आरंभ नहीं हो पाई। चेतन, बलराज और दमयंती भी दूसरी फिल्मों में काम ढूंढ़ने लगे। तभी उनका परिचय भारतीय जन नाट्य संघ ('इप्टा') में ख्वाजा अहमद अब्बास व अन्य प्रगतिशील नाट्य प्रेमियों से हुआ और वे पत्नी सहित शीघ्र ही इसका अहम हिस्सा बन गए और ताउम्र बने रहे।

बलराज और उनकी पत्नी को कुछ फिल्मों जैसे 'इंसाफ', 'दूर चलें', 'गुड़िया', 'हलचल' में छोटे-मोटे रोल मिले। 'इप्टा' द्वारा बनाई गई एकमात्र फिल्म 'धरती के लाल' में दोनों ने मुख्य पात्रों की भूमिकाएं निभाई। इसी फिल्म की शूटिंग के दौरान दमयंती को पेट की बीमारी ने ऐसा घेरा कि 29 अप्रैल 1947 को वे अचानक चल बसीं। इस समय उनकी आयु मात्र 28 वर्ष थी और कुछ दिन पहले ही पृथ्वीराज कपूर ने उन्हें पृथ्वी थियेटर्स की मुख्य अभिनेत्री का कांट्रेक्ट दिया था। जिंदगी

ढर्रे पर लौट ही रही थी कि इस घटना ने बलराज को हिलाकर रख दिया। इस बीच भारत विभाजन और सांप्रदायिक दंगों ने उन्हें भावनात्मक रूप से गहरी चोट पहुंचाई। वे अपने दोनों बच्चों के साथ वापस श्रीनगर आ गए।

इस हताशा की स्थिति में प्रसिद्ध लेखक अमृतलाल नागर आगे आए और उन्होंने अपनी लिखी फिल्म 'गुंजन' में मुख्य पात्र का रोल दिलवाया। उनकी हीरोइन थी नलिनी जयवंत। अपनी खराब मनोस्थिति के चलते बलराज फिल्म में सहज अभिनय नहीं कर पाए और फिल्म फ्लॉप हो गई।

मार्च 1949 में उन्होंने संतोष से दूसरा विवाह किया। संतोष उनकी फुफेरी बहन थी। यह उनका भी दूसरा विवाह था। उनका पहला विवाह प्रसिद्ध लेखक 'अज्ञेय' से हुआ था। दरअसल यह लड़कपन का प्यार था जिसके बारे में बलराज ने दमयंती से विवाह करते हुए उनके भाई जसवंत राय को भी बताया था। उस समय इसे कच्ची उम्र का 'जुनून' कहकर टाल दिया गया था। शादी के कुछ समय बाद ही उन्हें कम्युनिस्ट पार्टी के एक जुलूस में भाग लेते हुए गिरफ्तार कर लिया गया। वे छह माह जेल में रहे। इस बीच 'हलचल' फिल्म की शूटिंग के समय जिसमें वे एक जेलर की भूमिका निभा रहे थे, के लिए समय-समय पर पैरोल पर छुड़ाए गए।

आर्थिक मुश्किलों के इस दौर में उन्होंने चेतन आनंद के बैनर 'नवकेतन फिल्मस्' के लिए 'बाजी' फिल्म की पटकथा और संवाद लिखे। गुरुदत्त द्वारा निर्देशित यह पहली फिल्म थी। देव आनंद इसमें हीरो थे। इस बीच जिया सरहदी की फिल्म 'हम लोग' जिसमें बलराज ने एक बेरोजगार युवक का रोल किया था, हिट रही। उनके अभिनय को जनता ने बेहद पसंद किया। यह 1951 की बात है। इसके बाद उन्हें विमल राय की फिल्म 'दो बीघा जमीन' में गरीब किसान शंभु महतो का रोल मिला। इस पात्र को वास्तविक बनाने के लिए उन्होंने बहुत मेहनत की और इसका परिणाम चमत्कृत करने वाला रहा। 1953 में प्रदर्शित हुई इस फिल्म से उन्हें अंतरराष्ट्रीय ख्याति मिली। देश ही नहीं, विदेशों के कई बड़े पुरस्कार इस फिल्म को मिले। इस फिल्म के साथ ही बलराज का संघर्ष खत्म हुआ। आने वाले 19 वर्षों में उन्होंने 120 से ज्यादा फिल्मों में काम किया, जबकि संघर्ष के पिछले दस सालों में उन्होंने मुश्किल से दस फिल्मों में भी काम नहीं किया था।

'दो बीघा जमीन' के बाद आई उनकी कुछ महत्वपूर्ण फिल्में थी-- 'सीमा'(1954), 'गरमकोट'(1955), 'कठपुतली'(1957), 'परदेशी'(1957), 'भाभी'(1957), 'लालबत्ती'(1957), 'सोने की चिड़िया'(1957), 'लाजवंती'(1958), 'हीरा-मोती'(1959), 'छोटी बहन'(1959), 'अनुराधा'(1960), 'भाभी की चूड़ियाँ(1961), 'काबुलीवाला'(1961), 'अनपढ़'(1962), 'हकीकत'(1964), 'वक्त'(1965), 'पिंजरे का पंछी'(1966), 'हमराज'(1967), 'संघर्ष'(1968), 'दो रास्ते'(1969), 'पवित्र पापी'(1970) एवं 'गरम हवा'(1973)।

'गरम हवा' उनकी अंतिम महत्वपूर्ण फिल्म थी, उनकी बेहतरीन अदाकारी का एक और यादगार नमूना। एम. एस. सथ्यू की यह फिल्म भारत-पाक विभाजन की त्रासदी पर आधारित थी। आगरा की पृष्ठभूमि पर बनी इस फिल्म की कहानी के अनुसार उनके ज्यादातर रिश्तेदार पाकिस्तान चले गए हैं और वह, वहां जाएं न जाएं की स्थिति में घिरे हुए हैं। इस बीच उनकी बेटी हाथ की नस काटकर जान दे देती है। वह अपने लिए चुने गए दूल्हे के पाकिस्तान जाने और वहां शादी करने का समाचार सुन कर यह कदम उठाती है। बलराज ने अपनी संवेदना से इस दृश्य को अमर कर दिया। उन्होंने अपने जीवन में विभाजन की त्रासदी तो देखी ही थी, कुछ दिन पहले (5 मार्च 1972) ही उनकी बेटी शबनम की भी असफल विवाह के चलते मृत्यु हुई थी। इस दृश्य में मानों उन्होंने

अपनी वास्तविक जिंदगी का ही कोई हिस्सा खोया था।

फिल्म की डबिंग खत्म करते ही कुछ दिनों बाद 13 अप्रैल 1973 को उनकी मृत्यु हो गई थी। यह फिल्म 1974 में प्रदर्शित हुई। इसे वर्ष का राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा दिए जाने वाला राष्ट्रीय नर्गिस दत्त पुरस्कार दिया गया। कहानी और संवाद के लिए इस्मत चुगताई और कैफी आजमी भी पुरस्कृत हुए थे। इस वर्ष के 'आस्कर' पुरस्कार के लिए इसे भारतीय प्रविष्टि के रूप में भेजा गया था और कॉन फिल्म समारोह में इसे 'गोल्डन पाम पुरस्कार' के लिए नामजद किया गया था। आज बलराज हमारे बीच नहीं है, लेकिन लगभग साठ वर्ष के अपने जीवन में उन्होंने अपने को अधिक व्यापक और विशाल क्षेत्रों में व्यक्त कर पाने के लिए कई कला-माध्यमों को चुना।

बलराज ने केवल अभिनेता ही नहीं बल्कि एक अध्यापक, नाट्य लेखक-निर्देशक, रेडियो उद्घोषक, ट्रेड यूनियन कार्यकर्ता जैसे कई महत्वपूर्ण कार्यों को पूरी ईमानदारी के साथ किया। उनके भीतरी और बाहरी रूप में कोई अलगाव न था। देश और देश की जनता के लिए कुछ बेहतर और अच्छा करने की बेचैनी ने उन्हें लाहौर, शांतिनिकेतन, सेवाग्राम (वर्धा), लंदन, बंबई और न जाने कहां-कहां घुमाया, और इन सभी जगहों से एक कलाकार के रूप में उन्होंने बहुत कुछ पाया। उनकी सहज और स्वाभाविक अभिनेता की पहचान का कारण यह भी था कि वह अपने आसपास के सामाजिक परिवेश से कभी कटे नहीं। अपने जीवन के अंतिम दिनों में सफल और लोकप्रिय अभिनेता होने के बावजूद उन्हें जब भी किसी दंगा-फसाद, प्राकृतिक-प्रकोप, मजदूरों, फौजियों, युवाओं की सहायता के लिए सभा-जुलूस, चंदा प्रदर्शन आदि करने की जरूरत होती तो वह देश के किसी भी कोने में जाने को हमेशा तत्पर रहते।

अपनी मृत्यु के कुछ दिन पहले ही वह महाराष्ट्र के सूखाग्रस्त इलाकों का दौरा करके लौटे थे। भिवंडी में हुए सांप्रदायिक दंगों के समय पहले तो वे भीष्म साहनी, ख्वाजा अहमद अब्बास और आई. एस. जौहर के साथ गए थे और बाद में वहां अकेले ही दो हफ्ते मुस्लिमों की बस्ती में रहे थे।

देश की आम जनता से इस लगाव के चलते ही प्रसिद्ध लेखक और फिल्म निर्देशक ख्वाजा अहमद अब्बास ने उन्हें एक मात्र 'जन कलाकार' का खिताब दिया था जो उन पर ही लिहाज से फिट बैठता था।

'मेरी फिल्मी आत्मकथा' में उन्होंने स्वयं ही इस संबंध में लिखा है कि, 'अभिनेता जनता के सामने जीवन पेश नहीं करता, दूसरों के जीवन की तस्वीर पेश करता है। 'हमलोग' फिल्म में मैंने एक पढ़े-लिखे बेरोजगार नौजवान का पार्ट अदा किया, 'दो बीघा जमीन' में एक दुःखी किसान का, 'औलाद' में एक घरेलू नौकर का, 'सीमा में' एक विद्वान समाज सेवक का, 'टकसाल' में करोड़पति का और 'काबुलीवाला' में एक मुफलिस पठान का। सब रोल एक दूसरे से जुदा थे। अगर मैं किसानों, मजदूरों, पठानों वगैरह का जीवन करीब से जाकर देखता तो कभी यह संभव नहीं हो सकता था कि मैं यह पार्ट अदा कर सकता। अगर उन्हें करीब से देखना उचित था तो उनके जीवन की आर्थिक-सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को जानना और समझना भी मेरा फर्ज था, तभी मैं उनके दिलों की धड़कनों को अपनी आंखों और शब्दों में अभिव्यक्त कर सकता था, वरना बात अधूरी रह जाती।'

ऐसे सच्चे 'जन कलाकार' को नमन्.....।

(लेखक सांस्कृतिक पत्रकार हैं)

बॉलीवुड के व्यंजन में क्रांति की छौंक

सुधीर विद्यार्थी

पिछले दिनों भगत सिंह के जीवन पर बनी फिल्में बुद्धिजीवियों और इतिहासकारों के मध्य भी चर्चा का विषय बनी रहीं। इसलिए कि स्वतंत्रता आंदोलन के उस कालखंड (1925-31) पर फिल्माया गया एक क्रांतिकारी का जिंदगीनामा उसके अभियान और विचारधारा के साथ कितना न्याय कर सका। ऐसा क्यों हुआ कि बॉलीवुड को एकाएक भगत सिंह तेजी से याद आ गए और उन पर एक साथ पांच-पांच फिल्में उतार दी गईं। आश्चर्य यह कि कहानी एक और फिल्में अनेक। सभी फिल्मों की जानकारी का स्रोत भगत सिंह पर उपलब्ध संस्मरण साहित्य और दस्तोवज ही हैं। उल्लेखनीय यह है कि उस आंदोलन का कोई साथी अब जीवित नहीं है। आजाद हिंदुस्तान में चंद्रशेखर आजाद और भगत सिंह के जो साथी बचे भी थे वे बहुत उपेक्षित जिंदगी जीते हुए एक-एक कर मर-खप गए और उनका कोई पुरसां हाल नहीं हुआ।

भगत सिंह भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन के ऐस नायक थे जिनके पास विचार की अकूत पूंजी थी। अपने शुरुआती क्रांतिकारी सफर से लेकर फांसी के फंदे तक लगभग छह वर्ष की अवधि में वे बड़ी क्रांतिकारी घटनाओं यथा सांडर्स-वध और दिल्ली की केंद्रीय असेंबली में बम विस्फोट में शामिल होने के साथ-साथ निरंतर लिखते और बोलते रहे। यदि उनके एक हाथ में पिस्तौल थी तो दूसरे में कलम। अध्ययन उनका बहुत फैला हुआ था। ऐसा उनकी जेल नोट बुक देखने से भी प्रमाणित होता है। उनके पत्र, अदालती बयान और सयम-समय पर लिखे गए उनके निबंधों, टिप्पणियों से भी यह जाहिर होता है कि विचार की दुनिया को खंगालने के लिए उन्होंने अथक परिश्रम किया था। ऊपरी तौर पर देखने पर वे एक राजनीतिक व्यक्ति थे पर उनके भीतर गहन साहित्यिक और सांस्कृतिक समझ विद्यमान थी। उनके पास भारतीय राजनीति और अपने समय को देखने की एक गहरी दृष्टि थी। उन्होंने समाज और राजनीति का कोई विषय नहीं छोड़ा जिस पर कहा और लिखा न हो। चाहे वह भाषा और लिपि का जटिल सवाल हो या फिर सांप्रदायिक की समस्या, धर्म और ईश्वर, इंकलाब का अर्थ, मजदूर और किसानों के हित, सर्वहारा की सत्ता, अछूत का प्रश्न, शोषण पर टिकी पूंजीवादी व्यवस्था से मुक्ति अथवा मार्क्सवादी सिद्धांतों को सामने रखकर समाजवादी समाज के निर्माण का बड़ा उद्देश्य। यदि उनके राजनीतिक गुरु राधामोहन गोकुल थे तो उन्होंने मार्क्स और लेनिन से विचार की ऊर्जा ग्रहण की। उनके प्रेरणास्रोत करतार सिंह सराबा जैसे भारतीय क्रांतिकारी शहीद थे लेकिन दूसरी ओर उन्हें अत्यंत स्फूर्तिवान संग-साथ भगवतीचरण वोहरा, सुखदेव और चंद्रशेखर आजाद जैसे मित्रों और क्रांतिकारी संगठनकर्ताओं का प्राप्त हुआ जो उन्हें बहुत ऊंचाईयों की ओर ले गया। वे साफ कहा करते थे कि क्रांति से उनका अर्थ अंततोगत्वा एक

ऐसी समाज व्यवस्था की स्थापना से था जो हर प्रकार के संकटों से मुक्त होगी और जिसमें सर्वहारा वर्ग का आधिपत्य सर्वमान्य होगा। इसे गहराई से जानना चाहिए कि वे क्रांति को बम या पिस्तौल का संप्रदाय नहीं मानते थे। उनका अभिप्राय अन्याय पर आधारित मौजूदा समाज व्यवस्था में आमूल परिवर्तन था।

तो क्या भगत सिंह पर बनी मौजूदा फिल्में इस क्रांतिकारी नायक की इस तस्वीर को प्रस्तुत करने में कामयाब हो सकी हैं जिस भगत सिंह को हम उसकी विचारयात्रा को जानते-बूझते संपूर्ण भारतीय क्रांतिकारी संग्राम का सर्वाधिक विचारवान क्रांतिकर्मी और प्रवक्ता मान लेते रहे। हम पहले यह भी साफ कर दें कि क्रांति के उस कालखंड में भगत सिंह कोई व्यक्ति नहीं, अपितु अपने क्रांतिकारी दल 'हिंदुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र संघ' का बौद्धिक नेतृत्व करने वाले उसके एक सदस्य ही थे। सारे अभियानों के पीछे पूरी पार्टी की शक्ति और संयुक्त योजनाएं थीं जिन्हें कार्यान्वित करने का दायित्व दल के सेनापति कभी भगत सिंह को सौंपते, तो कभी सुखदेव, राजगुरु, बटुकेश्वर दत्त, भगवानदास माहौर, सदाशिवराव मलकापुरकर या फिर विश्वनाथ वैशम्पायन, शिव वर्मा, जयदेव कपूर, गया प्रसाद, पं. किशोरीलाल, दुर्गा भाभी, सुशीला दीदी, सुखदेव राज, धनवंतरि अथवा विजयकुमार सिन्हा को। किसी भी ऐक्शन के पीछे पार्टी की एक सोची-समझी रणनीति और उसकी क्रियान्वयन पद्धति थी। भगत सिंह वहां अकेले नहीं होते थे। उनके क्रांतिकारी सफरनामे को सिर्फ एक रोमांटिक हीरो के रूप में इन मुंबईया फिल्मों की तरफ पेश करना उस संपूर्ण क्रांतिकारी चेतना का अपमान और नासमझी है जिसके लिए अपने समय में भारतीय क्रांतिकारी दल समर्पित रहा है। साहित्य और इतिहास में दक्षिणपंथी लोगों की घुसपैठ कम नहीं रही है जिसके चलते भगत सिंह जैसे प्रगतिशील क्रांतिकारी नायक को मात्र सांडर्स को मारने, बम फेंकने, इंकलाब जिंदाबाद का नारा बुलंद करते हुए हँसते-हँसते फांसी के फंदे में झूले जाने वाले जोशीले नौजवान के रूप में दिखाया जाता रहा। इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि मौजूदा दौर में राष्ट्रवादी उनकी जुनूनी छवि को देशभक्तिपूर्ण संवाद थमाकर अपने पक्ष में खड़ा करने की घिनौनी कोशिशें करते रहे। कहना न होगा कि भगत सिंह की इसी छवि की ओर हिंदी सिनेमा आकृष्ट हुआ और और उसने उसमें फिल्मी मिर्च-मसाला लगाकर अंततः दर्शकों के सम्मुख परोस दिया। भगत सिंह की बना दी गई रोमांटिक तस्वीर को अपने ढंग से इस्तेमाल करना जैसे बॉलीवुड का लक्ष्य बन गया। यह सही है कि फिल्मों के निर्माता करोड़ों रुपया लगाकर व्यवस्था परिवर्तन के लिए सचेत और समर्पित क्रांतिकारी भगत सिंह को पर्दे पर क्यों प्रस्तुत करना चाहेंगे। उनका उद्देश्य क्रांति नहीं है। उनका काम फिल्में बनाना और उनसे पैसा कमाना है। जाहिर है कि बाजार के इस समय में फिल्म वाले वह सब कुछ बेचना चाहते हैं जो उनके धंधे में गर्माहट ला सके। फिर चाहे वह सेक्स हो या भगत सिंह। भगत सिंह की चेतना का प्रचार-प्रसार फिल्मी दुनिया का मकसद हो भी नहीं सकता। इन फिल्मों को उस नजरिए से देखा भी नहीं जाना चाहिए कि उनमें उस संग्राम को आगे बढ़ाने का उद्देश्य निहित हो सकता है जिसे भगत सिंह अधूरा छोड़ गए थे और जिसे क्रांति-विरोधी शक्तियों के 1947 में सत्ता में आ जाने के चलते हासिल नहीं किया जा सका था। हुआ यह कि 'लगान' ओर 'गदर' जैसी पीरियड फिल्मों की कामयाबी के बाद फिल्म निर्माताओं को लगा कि भगत सिंह भी स्वतंत्रता संग्राम के दौर के ऐसे नायकों में हैं किनकी छवि को भुनाया और बेचा जा सकता है। पर इसके लिए उन्हें 'मसाले'

की तलाश थी। यानी क्रांतिकारी हीरो ऐसा हो जिसकी जिंदगी में प्यार-व्यार भी हो। अब तक प्रदर्शित फिल्मों 'शहीदः 23 मार्च 1931' और 'द लीजेंड ऑफ भगत सिंह' में भगत सिंह की मंगेतर/प्रेमिका को ईजाद कर लिया गया क्योंकि इसके बिना हिंदी सिनेमा की मांग पूरी नहीं होती। वे भूल गए कि 'गांधी' फिल्म भी सफल हुई थी जिसमें कोई प्यार का गाना या दृश्य नहीं थे। भगत सिंह पर धर्मेंद्र की फिल्म में बॉबी दूओल (भगत सिंह) और ऐश्वर्या राय (प्रेमिका) साथ-साथ गाना गाते हैं। कहा जाता है कि ऐश्वर्या राय को इस छोटी-सी भूमिका के लिए 30 लाख रुपये पारिश्रमिक दिया गया। दूसरी फिल्म के निर्माता राजकुमार संतोषी भी अजय देवगन (भगत सिंह) के साथ उनकी मंगेतर को फिल्मी लटके-झटके के साथ 'तुडुक-तुडुक' और 'बल्ले-बल्ले' करा देते हैं। भगत सिंह के जीवन में कोई ऐसा प्रेम-प्रसंग नहीं था, पर शायद इस नाच-गाने के बिना फिल्में पूरी नहीं हो सकती थीं। निर्माता इन दृश्यों को फिल्मों की मांग कहेंगे और यह भी बताएंगे कि यह उनके व्यवसाय की मजबूरी है पर क्या व्यावसायिक मजबूरी के चलते एक क्रांतिकारी शहीद की छवि को जनता और नई पीढ़ी के सम्मुख गलत ढंग से प्रस्तुत करने की छूट किसी को दी जानी चाहिए यह हमारी इतिहास-चेतना की अनुपस्थिति का बड़ा उदाहरण है कि यह फिल्में सिनेमा हॉल में प्रदर्शित हो रही हैं और हम सवाल भी नहीं खड़े कर सकते। 'माउंटवेटनः द लास्ट वायसराय' जैसी फिल्में हमारे इतिहास को विकृत ढंग से प्रस्तुत करती हैं और हम चुप रहते हैं। मुझे याद है कि मनोज कुमार के धारावाहिक 'भारत के शहीद' में भी कई स्थानों पर क्रांतिकारियों की छवि को ध्वस्त किए जाने पर हमारे मध्य बहुत हलचल नहीं हुई थी। यद्यपि बाद को कुछेक सवालों पर उसका प्रसारण बाधित हुआ था। यह सही है फिल्में या धारावाहिक इतिहास नहीं होते और न ही उन्हें देखकर हमें कोई इतिहास संबंधी निष्कर्ष निकालने चाहिए। बावजूद इसके यदि पर्दे पर उतारी गई छवियां इतिहास अथवा उसके नायक के व्यक्तित्व और विचारधारा को इस हद तक नुकसान पहुंचाएं कि लोग उसे लेकर किसी बड़े भ्रम का शिकार होने लगें तो उन सभी को उस पर प्रश्नचिन्ह लगाना चाहिए जो उसकी वास्तविकता से गहराई तक परिचित हैं। आश्चर्य होता है कि भगत सिंह के परिवार के दो सदस्यों ने धर्मेंद्र और संतोषी की फिल्मों में सलाह-मशविरा भी दिया था। कुछ और भगत सिंह के रिश्तेदार जो इन फिल्मों का विरोध कर रहे हैं वे सिर्फ यह दिखाने के लिए ही कि वे भी उस शहीद के रक्त-संबंधी हैं और उनका भी भगत सिंह पर 'अधिकार' है। उनकी ओर से जो आपत्तियां अब तक तक दर्ज की गई हैं उनमें भगत सिंह की विचारधारा को दबाने या छिपाने को लेकर कहीं कोई चिंता नहीं है।

भगत सिंह पर बनी इन फिल्मों से यह तो लाभ होगा कि नई पीढ़ी उस क्रांतिकारी शहीद के नाम से बखूबी परिचित हो सकेगी। पर अच्छा यह होता कि यदि यह फिल्में भगत सिंह को संपूर्ण रूप से जानने-समझने का प्रस्थान बिंदु बन सकतीं। भगत सिंह से परिचित होने के लिए फिल्में नहीं, इतिहास और साहित्य ही माध्यम बनेगा। यह अच्छी बात है कि भगत सिंह के संपूर्ण दस्तावेज और उस आंदोलन की सारी चीजें आज हमारे बीच उपलब्ध हैं। हम उम्मीद करेंगे कि आने वाले समय में भगत सिंह की क्रांतिकारी चेतना को जानने के प्रयास तेज होंगे। यह देखा जाना जरूरी है कि देवदास और भगत सिंह पर बनी फिल्में तो किस तरह बेशर्म तरीके से मिथ को सच व सच को मिथ में तब्दील कर सकती हैं। ऐसा लगने लगा है कि पॉपुलर मीडिया भगत सिंह के चरित्र के साथ न्याय नहीं कर सकता। आखिर क्यों देवदास और भगत सिंह

पर बनी फिल्में मिथ और सच, फिक्शन और फैक्ट में कोई अंतर नहीं रहने देतीं यह जानते हुए भी कि वे इतिहास के एक जरूरी कालखंड को पर्दे पर उतारने जा रहे हैं। उन्हें हर चीज को कमोडिटी (उत्पाद) में बदल देने में महारत हासिल है। 'लीजेंड ऑफ भगत सिंह' में भगत सिंह से यदि अपने व्यावसायिक हितों के चलते भांगड़ा करवाया गया है तो कौन कह सकता है कि भविष्य में यदि गांधी पर कोई फिल्म बनती है तो उसमें गांधी को नहीं नचवाया जाएगा।

'शहीदः 23 मार्च 1931' में भगत सिंह वैचारिक चेतना से लैस अपनी असली रूप में कहीं दिखाई नहीं देकर एक रूमानी, उन्मादी और कई जगह बदहवास युवक से दिखाई पड़ते हैं। इस फिल्म में इतिहास की अक्षम्य चूकें हैं। क्या फिल्म निर्माता इतना भी शोध नहीं करते कि वे सही ऐतिहासिक तथ्यों को दर्शकों तक पहुंचा सकें। फिल्म में लाला लाजपतराय को गदर पार्टी का नेता बताना पूर्णतया गलत है। क्रांतिकारी संग्राम की घटनाएं भी बहुत क्रमबद्ध नहीं हैं। पूरी फिल्म में सिर्फ भगत सिंह ही हर क्षण केंद्रीय नायक बने रहते हैं। उनके नजदीकी साथियों की कोई हिस्सेदारी नजर नहीं आती। सुखदेव और राजगुरू का कद भी किसी तरह नहीं उभरता। बॉबी देओल के फिल्मी लटके-झटके उसे भगत सिंह के नजदीक नहीं पहुंचने देते। चंद्रशेखर आजाद की भूमिका में सन्नी देओल भी मसल-मैन ही बने रहे जो किसी तरह आजाद के चरित्र के अनुरूप नहीं है। इस फिल्म में भगत सिंह के विचार पक्ष के साथ बड़ा अन्याय किया गया है। उन्हें एक आस्तिक और एक हिंदू राष्ट्रवादी बनाकर दिखाने के पीछे क्या कोई षड्यंत्र तो नहीं है। यह उनके धर्मनिरपेक्ष और नास्तिक चिंतन के सर्वथा विपरीत है। भगत सिंह जब एक जगह देशभक्ति का गीत गाते हैं तो पीछे भारत माता की तस्वीर दिखाई गई है जिसमें केसरिया ध्वज भी है। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ इसी चित्र को अपने कार्यक्रमों में रखता और देश भर में प्रचारित करता है। यह सब अखंड हिंदू राष्ट्र की फासीवादी कल्पना पर आध ाारित है। ऐसा करके भगत सिंह के विचारों की हत्या की गई है जिस पर कड़ी आपत्ति की जानी चाहिए। देखकर कितना अजीब लगता है कि एक नास्तिक क्रांतिकारी जिसकी पुनर्जन्म के प्रति कोई आस्था नहीं है उसे फिल्म में अपनी मां से यह संवाद करते हुए प्रदर्शित किया जाए कि मां उसे दुःखी नहीं होना चाहिए। मां सवाल करती है कि अगले जन्म में वह उसे पहचानेगी कैसे। इस पर भगत सिंह बने बॉबी जवाब देते हैं कि गर्दन पर फांसी के फंदे के निशान से। यहां और भी दृश्य है जब जेल अधिकारी फांसी से पहले भगत सिंह से कहते हैं कि वह भगवान को स्मरण कर ले। भगत सिंह सुनकर कहते हैं कि भगवान को याद करना तो बाहरी आचार है, उसका वास तो हम सबके भीतर है। क्या इस फिल्म के निर्माता भगत सिंह के उस आलेख को विस्मृत कर बैठे जिसे उस क्रांतिकारी चिंतक ने अंतिम दिनों में जेल के भीतर लिबिद्ध किया था-'मैं नास्तिक क्यों हूं'। यह सर्वत्र उलब्ध है और इससे भगत सिंह की विचार की दुनिया पर गहराई से रोशनी पड़ती है। होना यह चाहिए था कि भगत सिंह के लिखे-बोले को ही नहीं, बल्कि उससे पूर्व से लेकर 1931 में लाहौर की फांसी के समय तक के क्रांतिकारी संग्राम के दस्तावेजों की मदद से भारतीय क्रांतिकारियों की उस चिंतनधारा को जानने-समझने का प्रयास किया जाता जिसके चलते उन क्रांतिवीरों ने अपनी लड़ाई का लक्ष्य स्वतंत्रता से बढ़कर समाजवाद के अपने बड़े उद्देश्य को समर्पित कर दिया था। भगत सिंह के दल का गांधीवाद के बरक्स सर्वथा अलग क्रांतिकारी मार्ग था जिसमें आजादी के लिए विदेशी हुकूमत से किसी लुंज-पुंज समझौते की कोई गुंजाइश नहीं थी। उनका लक्ष्य मार्क्सवादी सिद्धांतों

के आधार पर शोषणरहित समाजवादी समाज का निर्माण था। इसके लिए वे सर्वहारा की सत्ता कायम करना चाहते थे। उन्हें मजदूरों और किसानों की शक्ति पर भरपूर भरोसा था। यदि ये फिल्में इस भगत सिंह को पर्दे पर दिखातीं तो क्रांतिकारी संग्राम के प्रति वे न्याय कर पातीं। सवाल इतिहास को गलत तरीके से प्रस्तुत करने का है और इसलिए फिल्म के नाम पर ऐसी गलतियों ओर षड्यंत्रों को नजरंदाज नहीं किया जा सकता। क्या यह मान लिया जाना चाहिए कि मुख्य धारा का हिंदी सिनेमा अंततः सत्ता वर्ग की संस्कृति और विचारधारा का पोषक होता है। कहीं ऐसा तो नहीं कि पिछले दिनों जनता के मध्य देश भर में भगत सिंह को तेजी से याद किए जाने की कवायदों के चलते उसकी विचार चेतना के जरिए मौजूदा शासन व्यवस्था के लिए बड़ी चुनौती सामने आने का खतरा दिखाई पड़ रहा हो। इस स्थिति में भगत सिंह के खलिस चिंतन-रूप को बिगाड़-मिटाकर आम लोगों के समक्ष एक राष्ट्रवादी, विचारविहीन और समाजवादी लक्ष्य से परे एक भगत सिंहीय छवि गढ़ने की साजिश चलाई जा रही हो। सांप्रदायिक ओर अंधराष्ट्रवादी घालमेल से लबरेज ये फिल्में भगत सिंह को क्रांतिकारी के बजाय एक 'सुपरमैन' की तरह नई पीढी को दिखाने की कोशिशें करती लगती हैं जबकि इस क्रांतिकारी का बड़ा लक्ष्य एक धर्मनिरपेक्ष, वर्गविहीन, जाति मुक्त और शोषणरहित समाज की संरचना था जिसमें सर्वहरा की सत्ता हो। वह सत्ता परिवर्तन का पक्षधर तो कतई नहीं था। उसके सपने में व्यवस्था के बदलाव का संपूर्ण लेखा-जोखा था।

संतोषी की फिल्म 'द लीजेंड ऑफ भगत सिंह' कमोवेश भगत सिंह की असली छवि के थोड़ी निकट पहुंचती है जिस पर संतोष किया जा सकता है। यहां समाजवादी अवधारणाओं पर बहस है जिसके माध्यम से क्रांतिकारी लक्ष्य को जानने-समझने में दर्शकों को कुछ मदद मिल सकती है। दृश्य में मार्क्स और लेनिन के चित्र आशय को और भी स्पष्ट करते हैं। इसमें काकोरी की शहादतों के बाद फीरोजशाह कोटला के खंडहरों में क्रांतिकारियों की बैठक का भी नजारा है जिसमें दल के नाम के साथ 'समाजवादी' शब्द का समावेश करके एक बड़ी और दूरगामी लड़ाई की योजना को आकार देने की क्रांतिकारियों की कोशिशों की छवियों को विस्मृत नहीं किया गया है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि यह फिल्म भगत सिंह के ही इर्द-गिर्द न घूमती रहकर उनके साथी कामरेडों के कुछेक अक्स भी सामने लाती है जो प्रशंसनीय है। अच्छा होता कि भगत सिंह पर बनी ये फिल्में अपने कालखंड के इतिहास की उस वैचारिक जद्दोजहद का भी थोड़ा-बहुत प्रस्तुतीकरण करतीं जहां कांग्रेस के लुंज पुंज विचार और उनकी आधी-अधूरी आजादी के लक्ष्य से उनका कड़ा टकराव था। 1925 से कुछ समय पूर्व बना 'हिंदुस्तान प्रजातंत्र संघ' जिसने 1928 तक आते-आते अनेक क्रांतिकारी कार्यक्रम में समाजवाद को समाहित कर लिया था, और तब तक इस दल ने मार्क्स और लेनिन के सिद्धांतों के प्रति अपनी पूर्ण आस्था व्यक्त कर ली थी यह किसी से छिपा नहीं है। हिंदी सिनेमा भगत सिंह और उनके साथियों की इस विचार संपदा की रक्षा नहीं कर पाया, यह कहना किसी तरह से गलत नहीं होगा। आधे-अधूरे भगत सिंह को पर्दे पर दिखाने या विचारधारा को एक तरफ रखकर नख-शिख-दंत विहीन भगत सिंह का प्रदर्शन अंततः इतिहास के प्रति न्याय नहीं है। यह इतिहास के प्रति वैसा ही षड्यंत्र और धोखा है जैसा एक समय पं. जवाहरलाल नेहरू के प्रधानमंत्रित्व काल में भारत सरकार की ओर से स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास लेखन के लिए डॉ. रमेशचन्द्र मजूमदार को हटाकर डॉ. ताराचंद्र को लाकर किया गया ओर अपने पक्ष में मनमर्जी से छद्म अतीत की

इबारतें दर्ज कराई गईं, जिसमें क्रांतिकारी संग्राम को कमतर करने की नापाक कोशिशें साफ दिखाई पड़ती हैं। यदि ये हिंदी फिल्मकार सांप्रदायिकता या अछूत के सवाल पर ही नहीं, समाजवाद और नास्तिकता के मसले पर भगत सिंह के प्रश्नों और तर्कों से थोड़ा भी रूबरू हो गए होते तो फिल्मों की ऐसी छीछालेदर न होती। भगत सिंह तब पूरे कदम के साथ वहां तनकर खड़े होते और दर्शक उनके लक्ष्यों को जानकर लाभान्वित हो सकते थे। तब वे अनावश्यक ही पुनर्जन्म के बवंडर में भगत सिंह जैसे धर्मनिरपेक्ष चिंतक को ढकेलने की गलतियां न करते। मैं पहले ही कह चुका हूं कि फिल्में इतिहास नहीं होतीं और न ही उन्हें किसी इतिहास का आइना मानने की निरर्थक कवायदें करनी चाहिए, पर यह भी उतना ही है कि उन्हें इतिहास को विकृत करने और उसके मनमाने प्रस्तुतीकरण का भी कोई अधिकार नहीं मिल जाना चाहिए। भगत सिंह को गुजरे अभी अधिक समय नहीं बीता, और लंबी सजा पाए उनके संगी-साथी क्रांतिकारी तो आजाद हिंदुस्तान में अब तक जिंदा बचे हुए थे। उनके रहते फिल्मकार इस काम को ज्यादा बेहतर ढंग से सच के निकट पहुंचकर अंजाम दे सकते थे जिसे नहीं किया गया। आखिर क्या जरूरत थी भगत सिंह पर एक साथ पांच-पांच फिल्मों की। कोई एक साफ-सुथरी ऐतिहासिक तथ्यों को ठीक-ठाक छानबीन करके बनी फिल्म ही दर्शकों को उस कालखंड से परिचित कराने के लिए पर्याप्त थी जिसके नतीजे देखने के लिए हम लालायित होते।

याद आता है कि बहुत पहले मनोज कुमार की 'शहीद' फिल्म आई जो कुछेक ऐतिहासिक घटनाओं की भूलों के चलते भी दर्शकों को ज्यादा बांध पाई थी। उसमें बम परीक्षण में शहीद हुए भगवतीचरण वोहरा की लाश को रावी नदी में जल प्रवाह करना दिखाया गया था जो सच नहीं था। असलियत यह थी कि उनकी मृत देह को वहीं गड्ढा खोदकर दफना दिया गया। रावी की छांड में उतना पानी नहीं था कि उसे बहाया जा सकता। बाद को मुखबिरी के आधार पर पुलिस ने भगवतीचरण की अस्थियां खुदवाकर मुकदमे में भी पेश कीं। फिल्मकार से ऐसा इसलिए हुआ कि यशपाल ने निजी स्वार्थवश अपनी संस्मरण कृति 'सिंहावलोकन में पूरी घटना को तोड़-मरोड़कर इसी ढंग से पेश किया है जिससे भविष्य के लेखकों और फिल्मकार से इस तरह की भूलें होती चली गई। यदि क्रांतिकारियों पर लिखा गया दूसरा साहित्य भी देख-जांच लिया जाता तो इस तरह की चीजों से बचा जा सकता था। पर हमारे यहां फिल्मकार ही नहीं, इतिहास को दर्ज करने वाले भी घटनाओं की गहराई में उतरने की कोशिशें नहीं करते। सब नकल करते हैं और वे अपने-अपने पूर्वाग्रहों से भी मुक्त नहीं हो पाते। इतिहास लेखन के लिए जिस निष्पक्षता और साहस की आवश्यकता होती है उसे प्रायः हम अनुपस्थित पाते हैं। क्रांतिकारी आंदोलन की गुप्त कार्यवाहियों के चलते संस्मरण लेखकों ने भी अपनी-अपनी तरह घटनाओं का प्रस्तुतीकरण करके स्थितियों को बहुत हद तक जटिल बनाया है। इसके लिए हम किसे दोष दें। संघ परिवार के लेखक यह जानने की कोशिश क्यों करेंगे कि भगत सिंह की जेल नोट बुक में सिर्फ मार्क्स और ऐंगल्स नहीं, वहां रूसों, देकार्त, स्पिनोजा, मार्क ट्वेन, दोस्तोयवस्की और अरस्तू की कृतियों से गुजरते हुए भगत सिंह ने अनेक विचारों और जीवन-पद्धति का निर्धारण किया था। भगत सिंह पर फिल्में बनाते हुए निर्माता अपनी दृष्टि को वहां तक फैलाकर ले जा सकते थे कि आजाद भारत में भगत सिंह जैसे नौजवान आज भी प्रताड़ित किए जा रहे हैं और ऐसा स्वतंत्र देश में शुरुआती समय से लेकर अब तक निरंतर

होता चला आ रहा है। यह पूंजीवादी सत्ता और व्यवस्था का चरित्र है कि वह आज के भगत सिंह को अपने लिए खतरा ही नहीं मानता बल्कि उन्हें दंड भी देता है। भगत सिंह की विरासत आज भी जिंदा है पर वह दमन के लिए अभिशप्त है। शंकर शैलेंद्र (गीतकार शैलेंद्र) ने 1948 में ही अपनी प्रसिद्ध कविता में इसीलिए दर्ज कर दिया था

'भगत सिंह इस बार न लेना काया भारतवासी की
देशभक्ति के लिए आज भी सजा मिलेगी फांसी की
यदि जनता की बात करोगे तुम गद्दार कहाओगे,
बंब-संब की छोड़ो भाषण दिया कि पकड़े जाओगे
न्याय अदालत की मत पूछो सीधे मुक्ती पाओगे
कांग्रेस का हुक्म जरूरत क्या वारंट तलाशी की। भगत सिंह इस बार....

भगत सिंह का रास्ता संसदवाद की तरफ नहीं जाता। वह एक विद्रोही नायक है जिसके सपने में उस समाज की संरचना का आकार-प्रकार है जहां जाति-धर्म का बोलवाला नहीं होगा, जो पूंजी के खौफनाक खेल से मुक्त होती, जिसमें शोषण नहीं रहेगा और सत्ता सर्वहारा मजदूर-किसानों के हाथों की शक्ति बनेगी। आओ, इतिहास से लेकर फिल्मों, नाटकों और जमीन पर उसी भगत सिंह को उतारने की कोशिशों में हम सब बेधड़क होकर शामिल हों। संसदमुखी राजनीतिक दल, पेशेवर फिल्मकार और बिके हुए इतिहास लेखक इस काम को अंजाम नहीं दे सकते। हमें उनसे सावधान ही नहीं रहना है बल्कि उनके कुचक्रों का पर्दाफाश आगे बढ़कर करने का साहस दिखाना होगा। भगत सिंह पर बनी फिल्में जनता के साथ धोखा है। क्या कुछेक फिल्मकारों की इस बात पर हम भरोसा करें कि उनकी चित्रावली से भगत सिंह के वे दृश्य काट दिए गए जिनमें उनके भाषणों में मार्क्स का उल्लेख किया गया है। तो क्या फिल्म सेंसर बोर्ड पर सत्ता का शिकंजा है या वह संघ परिवार के चिंतन-मनन का प्रतिनिधित्व करता है। अतीत को तोड़ने-मरोड़ने की यह कोशिशें राजनीतिक या आर्थिक लाभ के लिए होती हैं तब फिर यह मसला और अधिक गंभीर बन जाता है जिसके लिए किसी को माफ नहीं किया जा सकता। मुझे स्मरण है कि इन फिल्मों को भगत सिंह के भाई कुलतार सिंह के साथ देखने के बाद सहारनपुर में आयोजित एक समारोह में मेरे व्याख्यान से पूर्व एक नौजवान ने मुझसे खड़े होकर कहा- 'आप असली भगत सिंह को जरूर सामने रखिए ताकि हम उनकी क्रांतिकारी छवि से परिचित हो सकें नहीं तो आज के युवक पूछने पर कहेंगे कि भगत सिंह का असली नाम अजय देवगन था।' मैं उस नौजवान का आभारी हूं कि इतिहास और अपने समय पर आने वाले खतरे की वह ठीक-ठाक शिनाख्त कर पा रहा था। छात्र - से लग रहे उस युवक का नाम मुझे याद नहीं रहा पर उसका चेहरा मेरी आंखों के सामने आज भी घूम जाता है। उसके तेज और पनीले दृगों को मैं कभी नहीं भूल पाऊंगा।

(लेखक क्रांतिकारियों के जीवन पर लेखन के लिए विख्यात हैं)

सामाजिक राजनीतिक यथार्थ और सिनेमा

रामशरण जोशी

अक्सर हम संचार माध्यमों को निरपेक्ष परिघटना के रूप में देखते हैं। यह मानकर चलते हैं कि लोकमाध्यमों से लेकर इलेक्ट्रोनिक माध्यम तक के संचार माध्यम कालनिरपेक्ष, समाजनिरपेक्ष होते हैं। वे अपने समय की सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक-राजनीतिक-टेक्नोलॉजी प्रक्रियाओं के प्रभावों से अछूते रहते हैं। इन बहुआयामी प्रक्रियाओं के प्रभावजगत से संचार माध्यमों का कोई सरोकार नहीं होता है। सिनेमा को भी इसी परिप्रेक्ष्य में देखा जाता है।

यह एक भ्रामक सोच है। प्रायः भाववादी, आदर्शवादी और संरचनात्मकवादी विचारक ऐसा मानकर चलते हैं कि संचार माध्यम जिसमें निःसंदेह सिनेमा भी शामिल है, भौतिक यथार्थों से स्वतंत्र हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि संचार माध्यम और भौतिक संरचनात्मक परिवर्तन दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व है। पर ऐसा नहीं है। इतिहास के अनुभव इस बात की तस्दीक करेंगे कि सिनेमा समेत संचार के शेष सभी माध्यम स्थिति सापेक्ष होते हैं, तत्कालीन और समकालीन घटनाओं का उन पर कम अधिक प्रभाव पड़ता है बल्कि समकालीन सापेक्षता ही संचार माध्यमों का चरित्र, प्रभावशीलता और प्रासंगिकता निर्धारित करती आई है। इस दृष्टि से भारतीय सिनेमा भी इस सच का अपवाद नहीं है। साफ शब्दों में समझें तो सिनेमा तथा अन्य सभी माध्यमों का स्वतंत्र कार्य-अस्तित्व रहने के बावजूद ये सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था के 'बाई प्रोडक्ट' ही कहे जाएंगे। किसी भी राष्ट्र-राज्य की 'राजनीतिक-आर्थिक व्यवस्था' (पॉलीटिकल इकोनॉमी) का प्रत्यक्ष व परोक्ष तथा सघन व गहन प्रभाव इन माध्यमों पर पड़ता आया है और ये प्रभाव माध्यमों द्वारा संप्रेषित अंतर्वस्तुओं के माध्यम से प्रतिबिंबित या अभिव्यक्त होता है।

भारतीय सिनेमा की यात्रा देश के औपनिवेशिक काल से शुरू होती है। राजनीतिक दृष्टि से यह समय साम्राज्यवादी-औपनिवेशिक शासनकाल का था। भारत अंग्रेजों का परतंत्र था लेकिन इसके साथ ही एक दूसरा सामाजिक व राजनीतिक यथार्थ भी था जिसे मैं ध्यान में रखना जरूरी समझता हूं। जहां एक तरफ विदेशी शासनम्व्यवस्था थी वहीं दूसरी तरफ भारत में सामंतवादी व्यवस्था भी थी। ये दोनों समानांतर व्यवस्थाएं भारतीय जनमानस को गहरे तक जकड़े हुए थी। सामंती व्यवस्था राज्यसत्ता या शासनव्यवस्था के रूप में ही जीवित नहीं थी बल्कि सामंतवादी मूल्यों के रूप में भी इसकी एक सांस्कृतिक सत्ता भारतीय समाज में गतिशील थी। इन त्रिकोणीय व्यवस्थाओं से भारतीय समाज की मानस निर्मिति हुई थी। इस पृष्ठभूमि में सिनेमा जैसे औद्योगिक और पूंजीवादी काल के संचार माध्यम का आगमन भारत के लिए एक महान ऐतिहासिक घटना से कम नहीं था; लोक माध्यम और प्रिंट माध्यम के बाद सिनेमा माध्यम के जन्म ने भारतीय समाज के समक्ष अभिव्यक्ति के नए विकल्प को प्रस्तुत कर दिया था। बीसवीं सदी के प्रथम चरण में दादा साहब फाल्के द्वारा निर्मित मूक फिल्म 'हरिश्चंद्र' ने जहां नई संचार क्रांति की थी वहीं सामंती और औपनिवेशिक भारत

के आंतरिक जगत को बाह्य रूप से प्रस्फुटित होने का अवसर भी दिया था। क्या वजह है कि फाल्के साहब ने अपनी पहली फिल्म की कथावस्तु के रूप में एक मिथकीय आख्यान को चुना? हरिश्चंद्र-तारामती की कहानी पूर्णतः धार्मिक थी और भारतीय मिथकीय मन से गहरे तक जुड़ी हुई थी। हमें यहां यह भी समझ लेना होगा कि भारत एक तरफ गहरे तक कृषियुगीन समाज था, कृषियुगीन समाज मूलतः भावनात्मक होता है और मिथकीय आख्यानों में समाया हुआ होता है। विदेशी शासनव्यवस्था ने तत्कालीन भारत को केवल सतह तक प्रभावित किया था लेकिन भारतीय समाज का अंर्तजगत कमोबेस भावनाप्रधान व मिथकीय ही रहा। यह अकारण नहीं है कि बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में धार्मिक फिल्मों का निर्माण अधिक होता है। हिंदी में ही नहीं, दक्षिण की भाषाओं और बांग्ला में भी धार्मिक फिल्में अधिक बनी। यहां तक कि सवाक फिल्मों में भी धार्मिक फिल्मों का निर्माण अधिक हुआ था।

देश की पहली बोलती फिल्म या सवाक फिल्म 'आलम आरा' का निर्माण 1931 में हुआ था। यह भी अकारण नहीं है कि कृषिप्रधान और औपनिवेशिक समाज मूलतः पौराणिकता और रूमानियत में जीते हैं। जब पौराणिकता और रूमानियत का प्रभाव अधिक होता है तब समाज ऐसे आख्यानों में रमना पसंद करता है जो कि उसे आलोचनात्मक चेतना से दूर रखकर एक ऐसी मायानगरी में ले जाए जहां वह अपने जीवन की समकालीन पीड़ाओं, दुःखों, त्रासदियों आदि से मुक्ति (पलभर के लिए ही सही) पा सके और एक छद्म आध्यात्मिकता का आनंद लूट सके। इस मजे के लिए वह समकालीन कटु यथार्थों से वह पलायन करता है और धार्मिक, पौराणिक, चमत्कारिक, इश्क मिजाजी जैसी फिल्मों में शरण लेता है। आजादी प्राप्ति के काल तक हरिश्चंद्र के अलावा भगवान राम, भक्त प्रह्लाद, भक्त हनुमान, भरत मिलाप, दशहरा, रावण वध, बालि वध, लव-कुश, कृष्ण-सुदामा, राधा-कृष्ण, कंस वध, द्रौपदी चीरहरण, कृष्ण लीलाएं, सती सावित्री, सती अनुसूइया जैसे विषयों को लेकर दर्जनों धार्मिक फिल्मों का निर्माण हुआ। इसी के साथ-साथ रूमानियत के सिनेमा का बाजार भी चमका। इस कड़ी में 'आलम आरा', 'अलिफ लैला', 'अरब का सौदागर', 'लैला मजनूं', 'अली बाबा चालीस चोर', 'बगदाद का चोर', 'बगदाद की राजकुमारी', 'सोहनी माहीवाल', 'हीर रांझा', 'भोला-मारू' जैसी प्रेम कथाओं को लेकर सैकड़ों फिल्में बनाई गईं और इनमें कई हिट भी हुईं। जब कोई व्यक्ति या समाज या कौम या देश दासत्व का शिकार होता है या पराधीन होता है तब उसका आंतरिक प्रतिरोध नकारात्मक ढंग से भी अभिव्यक्त होता है। यह नकारात्मक अभिव्यक्ति पौराणिक नायक-नायिकाओं, प्रेमी-प्रेमिकाओं, पौराणिक युद्धों के माध्यम से व्यक्त होती है। गुलाम प्रजा इन पौराणिक तथा रोमानी पात्रों के माध्यम से अपने आक्रोश और शौर्य को वाणी देने की कोशिश करती है। इस धारा के सिनेमा निर्माताओं, निर्देशकों, पटकथा लेखकों और संगीतकारों ने सामंती व औपनिवेशिक भारत की इस मनोसंरचना का जमकर फायदा उठाया लेकिन इसके साथ ही परोक्ष रूप से भारतीयों को एक सांस्कृतिक सूत्र में पिरोने का प्रयास भी किया।

यह वह काल था जब महात्मा गांधी राष्ट्रीय मंच पर स्थापित हो चुके थे। स्वतंत्रता आंदोलन तेज होने लगा था। अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस राष्ट्र की आवाज बनने जा रही थी। इसी काल में जालियांवाला बाग कांड हुआ, सिविल नाफरमानी आंदोलन चला, चौरा-चौरी हिंसा हुई, भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरू की शहादत हुई, जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचंद्र बोस, मोहम्मद अली जिन्ना, मौलाना आजाद जैसे नेता समाज के विभिन्न वर्गों के नायक के रूप में उभरे। इसी दौर में 'प्रगतिशील लेखक संघ', 'इप्टा' जैसे सांस्कृतिक प्रगतिशील आंदोलन अस्तित्व में आए। यहां यह भी समझ लेना

प्रासंगिक रहेगा कि 1917 में रूस की क्रांति ने भी जहां भारतीय राजनीतिज्ञों को प्रभावित किया वहीं संस्कृतिकर्मी और बौद्धिकों की जमात भी अक्टूबर क्रांति से अछूती नहीं रह सकी। कला, संस्कृति, साहित्यिक, नाटक, सिनेमा जैसे माध्यमों पर इस ऐतिहासिक क्रांति की छाप साफ तौर पर देखी जा सकती है। सवाक भारतीय सिनेमा में नए सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक मुद्दे उठने लगे। इन मुद्दों को आधार बनाकर अनेक गैर-पौराणिक व रोमानी फिल्मों का निर्माण किया गया।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि समाज बदलने लगता है तो संचार माध्यम भी उससे अछूते नहीं रहते हैं। देश में आंदोलन संस्कृति फूटने लगी भारतीयों में स्व-अस्मिता का भाव जाग्रत होने लगा और राष्ट्र राज्य के निर्माण की चेतना अंकुरित होने लगी। सिनेमा कर्मियों ने अपने-अपने ढ़ंग से उभरती हुई प्रवृतियों और विमर्शों को पकड़ने की कोशिश की। यह अकारण नहीं था कि महबूब खां ने 'औरत' बाद में 'मदर इंडिया' के नाम से बनी फिल्मों में कृषि समाज की महाजनी अर्थव्यवस्था और तदजनित अंतर्विरोधों को प्रस्तुत किया। इसके साथ ही भारतीय कृषि समाज में औरत की क्या हैसियत है, इसे भी सामने रखा। यह कहना होगा कि जहां पौराणिक भारतीय नारियों ('सीता', 'सावित्री', 'तारावती', 'दुर्गा' आदि) की फिल्मों में भरमार थी वहीं महबूब खां ने भारतीय स्त्री की यथार्थवादी स्थिति को चित्रित किया। किसान समस्या से संबंधित कई और भी फिल्में बनीं। उदाहरण के लिए उत्तर औपनिवेशिक भारत में बिमल रॉय ने बहुत ही सशक्त फिल्म 'दो बीघा जमीन' का निर्माण कर देश के संक्रमणकालीन द्वंद्वों को उजागर किया। 1953 में बनी ये फिल्म देश के बदलते राजनीतिक-आर्थिक दौर को सामने रखती है और बतलाती है कि औद्योगिकीकरण कृषियुगीन भारत से किस प्रकार की कीमत वसूल करेगा; भूमि का विलगन; सीमांत किसानों का खेतों से बेदखल होना, गांवों से पलायन; विस्थापन व भूमिहीनता तथा शहरी सर्वहारा में किसान का तब्दील होना; पारंपरिक भू स्वामी या जमींदार और शहरी पूंजीपति का जन्म लेता गठबंधन जैसी प्रवृत्तियां नेहरूयुगीन समाजवाद की विसंगतियों को उघाड़ती हैं। यहां यह याद दिलाना मौजूं रहेगा कि पांचवें दशक में ही आदिवासी अंचलों में (बस्तर, भिलाई, दुर्ग, छोटा नागपुर, राँची आदि) औद्योगिक सभ्यता ने अपनी घुसपैठ की लंबी यात्रा की शुरुआत की थी। यह वह दौर भी जब मानव और मशीन के बीच प्रतिस्पर्धा तेज होने लगी थी, मशीन मानव को प्रतिस्थापित करने पर तुली हुई थी। इसका खूबसूरत फिल्मांकन बी.आर.चोपड़ा की फिल्म, 'नया दौर' में देखा जा सकता है। इसी प्रकार राजकपूर द्वारा अभिनीत 'जागते रहो' में भी गांवों से गमन और शहर में ग्रामीण हिंदुस्तानी का हाशियाकरण व हताशाकरण सामने आता है।

इसी संक्रमणकालीन भारत के अंतर्विरोधों को ख्वाजा अहमद अब्बास ने अपने फिल्म 'शहर और सपना' में भी प्रभावशाली ढ़ंग से सामने रखा है। वामपंथी अब्बास बतलाते हैं कि एक महानगर का निर्माण किस प्रकार मानवीय मूल्यों के दम पर किया जाता है। महानगर की संस्कृति किस तरह से संवेदनाशून्य होती है और किस प्रकार के नारकीय जीवन को जन्म देती है। स्वाधीन भारत के तेजी से होते शहरीकरण और महानगरीकरण की विद्रूपताएं 'श्री 420', 'बूट पॉलिस', 'जागते रहो', 'फिर सुबह होगी' जैसी फिल्मों में देखने को मिलती है। इन्हीं विद्रूपताओं का मेगा संस्करण बीस पच्चीस साल बाद बनी फिल्मों ('सत्या', 'कंपनी', 'सरकार', 'हथियार', 'त्रिशूल', 'अग्निपथ' आदि) में देखने को मिलता है। भारत नेहरूयुगीन समाजवाद या मिश्रित अर्थव्यवस्था से छलांग लगाकर भूमंडलीकृत राजनीतिक अर्थव्यवस्था में पहुंच जाता है। एक नया विमर्श सिनेमा में जन्मा लेता है जो कि हाइटेक फिल्मों ('कृष', 'रा-वन', 'कोई मिल गया', 'अवतार', '2050', 'माई नेम इज खान',

'न्यूयार्क', 'गजनी' आदि) में प्रतिबिंबित होता है। इन फिल्मों से इस बात की संकेत मिलते हैं कि भारत तेजी से बदल रहा है और उपभोक्तावाद के युग में प्रवेश कर चुका है। भारत के भूमंडलीकृत दौर में बनी फिल्मों में उपभोक्तावाद का चरम विस्फोट, मानवीय संवेदनाओं और संबंधों का कमोडिटीकरण, गुरु मूल्यों और संस्थाओं का विखंडन, नायक का प्रतिनायक, प्रतिनायक का नायक में रूपांतरण, लंपटी शक्तियों का ग्लैमरीकरण, हिंसा व सेक्स की वर्चस्वता जैसी घटनाएं आक्रमकता के साथ स्थापित हुई हैं। अब यदि भारतीय राजनीतिक व आर्थिक परिदृश्य की फिल्म बनाई जाए तो वह इससे भिन्न नहीं होगी। उदाहरण के लिए विगत दो दशकों में सबसे अधिक महाघोटालों ने इस राष्ट्र-राज्य को पूरी तरह से हिलाकर रख दिया है। इसी दौर में अपराध पृष्ठभूमि के निर्वाचित प्रतिनिधि विधायिका में पहुंचे, इनका प्रतिशत 30 तक हुआ। इतना ही नहीं, 'आया राम गया राम' के नवीनतम संस्करण सामने आए। करोड़पतियों की तादाद संसद और विधानसभा में कई गुणा बढ़ी। इस कुरूप यथार्थ का चित्रण 'राजनीति', 'सरकार', 'गंगाजल', 'अपहरण', 'सत्याग्रह', 'नायक' जैसी फिल्मों में शिद्धत के साथ दिखाई देता है।

गौरतलब यह भी है कि भारतीय सिनेमा समाज के परिवर्तनशील यथार्थ के साथ कदमताल मिलाकर चलता रहा है। पांचवें दशक तक जहां भारतीय स्त्री को निरीह, अबला, पतिता, कुलटा, डायन, छिनाल जैसे अपमानजनक संबोधनों से जड़ा जाता था, वहीं कालांतर में स्त्री के अस्तित्व, और अस्मिता को भी पुरजोर तरीके से स्थापित किया गया। याद कीजिए स्वाधीनता के आरंभिक वर्षों में बनी 'पतिता', 'धूल का फूल', 'साधना', 'एक ही रास्ता', 'धर्मपुत्र' जैसी फिल्मों को जिसमें अर्द्धसामंती व अर्द्ध औपनिवेशिक भारत की स्त्री की कशमकश, शुचिता, पुरुष प्रधान समाज की वर्चस्ववादी व्यवस्था जैसे पहलुओं का चित्रांकन किया गया था लेकिन बाद के दशकों में बनी फिल्मों में भारतीय स्त्री का नया रूप सामने आता है। इस दृष्टि से 'अर्थ', 'अस्तित्व', 'क्या कहना', 'मातृभूमि', 'बैडिंट क्वीन', 'मंडी', 'दामिनी', 'पिंजर', 'चक्र', 'मम्मो', 'जुबैदा', 'चांदनी बार', 'गॉड मदर', 'गजगामिनी', 'भूमिका', 'लज्जा' जैसी फिल्में उल्लेखनीय हैं। इन फिल्मों में उत्तर नेहरूकालीन तथा इंदिरा-राजीवकालीन भारत की स्त्री का एक नया रूप उभरता हुआ मिलता है जो कि अस्तित्व व अस्मिता बोध, प्रतिरोध और विद्रोह से रूपायित हुआ है। 21वीं सदी की भारतीय स्त्री सामंती संस्कारों, सोच और पुरुष की वर्चस्व सत्ता को सीधे ललकारती है। वह एक नए विमर्श को जन्म देती है जिसमें स्त्री पुरुष की समानता व स्वतंत्रता की उत्कंठा छितराई हुई है।

प्रश्न यहां स्त्री-पुरुष की समानता का नहीं है बल्कि मुद्दा यह है कि सिनेमा बदलते भारत के द्वंद्वों और प्रवृत्तियों को किस प्रकार अपनी भाषा के माध्यम से अभिव्यिक्ति देता है क्योंकि एक नया सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ भारतीय फलक पर उभर रहा था। एक तरफ गांधीवाद और समाजवाद की विचारधाराएं अपनी जौहर दिखा रही थी तो दूसरी ओर हिंदू-मुस्लिम संबंध नई करवटें ले रहे थे; जहां भारत को दो सौ वर्ष की पराधीनता से आजादी दिलाने का आंदोलन जारी था वहीं इस विभाजन की भी तैयारियां चल रही थी; भारतीय समाज के आंतरिक उपनिवेश (दलित व आदिवासी) के सुप्त अंतर्विरोध धीरे-धीरे चमकने लगे थे; स्वदेशी और पश्चिमी जीवन दृष्टियों के बीच टकराहटें उभरती जा रही थीं इन तमाम प्रकार के अंतर्विरोधों को सैलूलाइड पर उतारना भारतीय सिनेकर्मियों के लिए एक बड़ी चुनौती थी; लेकिन इससे भारतीय सिनेमा ने पलायन नहीं किया बल्कि अपनी तत्कालीन प्रतिभा और सिनेमा तकनीकी क्षमता के साथ इसका सामना किया।

जैसे-जैसे आंदोलन तेज होता गया वैसे-वैसे विभिन्न राष्ट्रीय धाराओं को लेकर फिल्में बनती

गई। उदाहरण के लिए स्वतंत्रता की पूर्व संध्या पर 'शहीद' जैसी फिल्म बनी। इसी प्रकार अस्पृश्यता की समस्या को लेकर 'अछूत कन्या', 'सुजाता', 'नीचा नगर' जैसी फिल्में भी बनती हैं। इसके साथ ही संस्था के रूप में पतनशील सामंतवाद को लेकर भी कई फिल्में बनी जिनमें प्रमुख थी गुरूदत्त की 'साहब, बीबी और गुलाम'। श्रमिक वर्ग की समस्याओं को लेकर भी फिल्में बनाई गईं। श्रमिक वर्ग के संघर्ष को 'समाज को बदल डालो', 'नया जमाना', 'पैगाम', 'सत्यकाम', 'नमक हराम', 'काला सोना' जैसी फिल्मों में देखा जा सकता है। श्रमिक आंदोलन से संबंधित फिल्मों में गांधीवादी विचारधारा और मार्क्सवादी विचारधारा की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। आगे चलकर भी स्वातंत्र्योत्तर भारत में इसी प्रकार की कई फिल्में बनी जो कि किसी न किसी रूप में अपनी वैचारिक प्रतिबद्धताओं को दर्शाती हैं। इन फिल्मों में 'दो आंखें बारह हाथ', 'सत्यकाम', 'जागृति', 'अंकुर', 'निशांत', 'आक्रोश', 'मृगया', 'दामुल', 'अल्बर्ट पिंटों को गुस्सा क्यों आता है', 'मोहन जोशी हाजिर हो', 'द्रोहकाल' जैसी सैलूलाइड कृतियों को शामिल किया जा सकता है।

भारत महाविभाजन की त्रासदी से गुजरा। अथाह कोशिशों के बावजूद स्वाधीनता आंदोलन का नेतृत्व हिंदू-मुस्लिम संबंधों को एक समान कौम की शक्ल देने में ऐतिहासिक रूप से नाकाम रहा है। हिंदी सिनेमा ने इस त्रासदी को भी समझने की कोशिश की, कुछ गंभीर फिल्में बनीं जिनमें 'गरम हवा', 'तमस', 'ट्रेन टू लाहौर', 'धर्म पुत्र', 'पिंजर' आदि फिल्मों को याद किया जा सकता है। हालांकि आजाद भारत में हिंदू-मुस्लिम संबंधों के अलावा विभाजन से उत्पन्न दक्षिण एशिया के महास्थापन पर भी दर्जनों बॉलीवुड फिल्में बन चुकी हैं। इन फिल्मों में विभाजन का सतही ट्रीटमेंट है फिर भी बॉक्स ऑफिस पर हिट फिल्मों में 'वक्त', 'छलिया' जैसी फिल्मों को याद किया जा सकता है। हिंदू-मुस्लिम संबंधों पर दर्जनों फिल्में बन चुकी हैं जिनमें मुगलकालीन पृष्ठभूमि पर बनी ऐतिहासिक फिल्में भी शामिल हैं। इन फिल्मों में जहां सिनेमाई ऐतिहासिकता दिखाई देती है वहीं सतही स्तर पर या रोमांटिक तर्ज में हिंदू-मुस्लिम संबंधों को भी परोसा गया है। इस तरह की फिल्में हैं- 'तानसेन', 'मुगले आजम', 'शाहजहां', 'हुमायूं', 'जोधा अकबर', 'गोलकुंडा, का कैदी', 'लालकिला', 'उमरावजान', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'मेरे महबूब', 'चौदहवीं का चांद', 'बाजार', 'बरसात की एक रात', 'धर्मपुत्र', 'आसमान महल', 'दस्तक', 'नसीम', 'बहू बेगम', 'अमर अकबर एंथोनी', 'सरफरोश', 'फिजा', 'पाकीजा', 'वीरजारा' आदि। यहां यह उल्लेखनीय है कि स्वाधीन भारत में उस मुस्लिम वर्ग का फिल्मांकन किया गया जो कि सामंती पृष्ठभूमि से था, अल्पसंख्यक वर्ग के निचले तबकों की उपस्थिति बहुत कम दिखाई गई। वैसे पिछले कुछ वर्षों से बंबईया फिल्मों में विभिन्न प्रकार के अपराधों में संलिप्त निम्न मुस्लिम वर्ग को जरूर चित्रित किया जा रहा है जो कि गैर नवाबी मुस्लिम समाज की आधी-अधूरी या विकृत तस्वीर पेश करता है। अधिसंख्य मुस्लिम समाज तेजी से बदल रहा है। मुस्लिम समाज का नवउदित मध्य वर्ग व निम्न मध्य वर्ग भी भारतीय राष्ट्र राज्य में अपना गरिमापूर्ण स्थान पाने और राष्ट्र निर्माण में अपना सक्रिय योगदान देने की दृष्टि से वैसी ही भूमिका निभा रहे हैं जिस प्रकार बहुसंख्यक समाज के वर्ग निभाते हैं। हिंदी सिनेमा को अल्पसंख्यक वर्गों के प्रति नई दृष्टि और संवेदनशीलता से काम लेने की जरूरत है।

विगत ढ़ाई-तीन दशकों में नए विमर्श सामने आए हैं। सिनेमा ने इनकी अनदेखी नहीं की है, यह सच है। उदाहरण के लिए 'मुन्ना भाई एमबीबीएस', 'लगे रहो मुन्ना भाई', 'हे राम', 'थ्री इडियट', 'तारे जमीं पर', 'पा', 'खामोशी', 'ब्लैक', 'माचिस', 'स्वदेश' 'आ अब लौट चलें', 'रांझणा', 'मद्रास कैफे', 'पीपली लाइव', 'ट्रेफिक सिग्नल', 'रंग दे बसंती', 'वेडनसडे', 'पान सिंह तोमर', 'हजारों

ख्वाहिशें ऐसी', 'गैंग ऑफ वासेपुर' जैसी फिल्मों में हिंदी सिनेकर्मियों ने 21वीं सदी के परिप्रेक्ष्य में गतिशील भारत की अधुनातन प्रवृत्तियों का फिल्मांकन किया है।

आज भारत भूमंडलीकरण के तीसरे चरण की दहलीज पर खड़ा हुआ है। एक प्रकार का अदृश्य साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद दक्षिण एशिया को घेरे हुए है। विश्व में एकल ध्रुवीय शक्ति तंत्र की सत्ता फैली हुई है। सभ्यताओं के टकराव और संघर्ष के नए क्षेत्र निर्मित होते जा रहे हैं। सुदूर संचालित साम्राज्यवादी शक्तियां नए मानव संबंधों को जन्म दे रही हैं जो कि पूरी तौर पर अनुकूलित और एकरूपी बनने के संकटों के साये में पल रहे हैं। राष्ट्रों की संप्रभुता विखंडित हो चुकी है और कारपोरेट राज्यी परंपरागत राज्य को प्रतिस्थापित करने पर कटिबद्ध है। जाहिर है कि इस तरह की स्थितियां समाज में कल्पनातीत परिस्थितियों को जन्मा देगी। एक नया राजनीतिक-आर्थिक विमर्श मानव सभ्य ता को ललकारने के लिए तैयार खड़ा है। जब आज भारतीय सिनेमा की एक सदी मनाई जा रही है तब सिनेकर्मियों और चिंतकों के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती यह है कि वे हाइटेक सिनेमा के माध्यम से भविष्य के मानव का संत्रास किस प्रकार पढ़ते हैं?

(लेखक वरिष्ठ पत्रकार और समाजशास्त्री हैं)

फिक्रे फिरकापरस्ती उर्फ दंगे का शोक-गीत

प्रेम भारद्वाज

आनंद पटवर्धन की डाक्यूमेंट्री फिल्म 'राम के नाम' में एक मुस्लिम व्यक्ति कहता है, 'हमें हर सांस के साथ यह खौफ बना रहता है कि कहीं वह आखिरी न साबित हो जाए।' यह खौफ विभाजन के बाद भारत में रह रहे मुसलमानों के एक बड़े तबके का स्थायी भाव है लेकिन यह अभिव्यक्त बहुत कम ही होता है, खासकर हिंदी सिनेमा में। हिंदी सिनेमा में यथार्थ से टकराने और उन्हें ईमानदारी से दिखाने का साहस कम रहा है। सांप्रदायिकता एक बेहद नाजुक और संवेदनशील मुद्दा है जो सियासत को कटघरे में खड़ा करता है, इसलिए फिल्मकारों ने इससे बचकर गुजरना ही बेहतर माना। फिर हिंदी सिनेमा का मूल चरित्र भी यथार्थवादी नहीं है। लिहाजा यहां टिपिकल मुस्लिम पात्र गढ़े गए- दाढ़ी, टोपी और चारखाने की लुंगी या पठानी पहनावे वाले। वह कभी हिंदू बनेगा या मुसलमान बनेगा' गीत तो कभी 'यारी है ईमान मेरा यार मेरी जिंदगी' गाकर दोस्ताना पैगाम देता है। वह कभी 'दीवार' का करीम चाचा बनता है तो कभी 'शोले' का रहीम चाचा जो गांव की हिफाजत के लिए बेटे की मौत को शहादत में बदल देता है। एम.एस. सथ्यू की 'गरम हवा' और गोविंद निहलानी की 'तमस' (टेलीफिल्म) में जरूर विभाजन और सांप्रदायिकता को दिखाने में ईमानदारी बरती गई है। इसके अलावा अधिकतर फिल्मों में मुस्लिम जन को गुडी-गुडी दिखाया गया है। 90 के दशक में एक निर्णायक मोड़ जरूर आया, जब 1992 के बाबरी मस्जिद विध्वंस और गुजरात दंगों के बाद फिल्म बनाने का फैशन सा चल पड़ा। इस सिलसिले में कुछ बेतहरीन फिल्में भी आईं खासकर राकेश शर्मा की 'फाइनल सल्यूशन' जो है तो डाक्यूमेंट्री मगर फीचर फिल्म से ज्यादा प्रभाव छोड़ती है।

आनंद पटवर्धन की 'श्राम के नाम' में जहां आडवाणी की रथ-यात्रा से उपजे उन्माद को दिखाया गया है, वहीं 'फाइनल सल्यूशन' में गुजरात दंगे को एक बच्चे के नजरिए से देखने की कोशिश है। जिसके मां-बाप को उसके सामने ही दंगे में हलाक कर दिया जाता है। बच्चा मानसिक रूप से असंतुलित हो जाता है।

बाबरी मस्जिद और गुजरात की घटना की तरह 9/11 के बाद हिंदी में आतंकवाद पर मुस्लिमों को केंद्र में रखकर फिल्में बनने लगीं। पहले 'न्यूयार्क' फिर 'कुर्बान' फिर 'माई नेम इज खान'। इन तीनों फिल्मों का विषय है- आतंकवाद। पृष्ठभूमि में है दुनिया का दारोगा कहा जाने वाला अमेरिका। गुलजार की फिल्म 'माचिस' में ओमपुरी ने एक सवाल किया था, 'क्या आतंकवादी खेतों में उगते हैं।' उस सवाल के जवाब के तौर पर ही जैसे आतंकवादी पृष्ठभूमि पर फिल्में बनने का सिलसिला शुरू हुआ, जो अब तक जारी है। बेशक आतंकवादी खेतों में नहीं उगते लेकिन वे गरीबी की कोख से भी नहीं जन्मते, इसे बॉलीवुड ने साबित किया है।

फिल्मों में आतंकवादी का चेहरा बदला है। अब वह ट्रेडिशनल इस्लामी दाढ़ी में नहीं दिखता। 'कुर्बान' के यंग स्मार्ट सैफ अली खान की तरह अल्ट्रा मॉड हो गया है। विषय के रूप में बॉलीवुड के खेत में आतंकवाद की फसल लहलहा रही है। फसल काटने के लिए फिल्मकारों में होड़ सी मच गई है। दुःखद यह है कि एक गंभीर मसाला ब्रांड बन गया है। उस ब्रांड पर 'मेड इन इंडिया' लिखा जा रहा है और उसे अमेरिकी पृष्ठभूमि की चाशनी में डुबोया जा रहा है।

9/11 के बाद आतंकवाद पर बनी दो दर्जन हॉलीवुड की फिल्में सफल रही हैं। बॉलीवुड में भी यह संख्या बहुत कम नहीं है। अधिकतर फिल्मों में अमेरिका है, अमेरिकी लोगों की दहशत है। यहीं एक सवाल खड़ा होता है कि क्या इराक और अफगानिस्तान में अमेरिकी जुल्मों पर इतनी बड़ी तादाद में फिल्में बन रही हैं। क्यों सहानुभूति अमेरिका से ही है। उस इराक और अफगानिस्तान से नहीं जो अमेरिकी जुल्म-ओ-सितम का शिकार हुआ है। ये चंद सवाल सोचने-समझने वालों को विचलित करते हैं लेकिन ये बातें मुनाफे की गणित पर चलने वाले बॉलीवुड के फिल्मकारों के भीतर किसी किस्म की कोई जुंबिश पैदा नहीं करतीं। वे विचलित होंगे, ऐसी उम्मीद भी उनसे नहीं की जानी चाहिए। फार्मूलेबाजी के चक्कर में ही आतंकवाद पर अच्छी और सार्थक फिल्में अब तक नहीं बनी हैं। आतंकवादियों की विचार-प्रक्रिया, कार्यप्रणाली और आंतरिक प्रशासन पर रोशनी डालने वाली कोई फिल्म यहां नहीं बनी, न ही किसी ने उनके आर्थिक संसाधनों या वैचारिक द्वंद्व पर फोकस किया है।

'न्यूयार्क' या 'कुर्बान' देखकर सहज ही यह विचार आता है कि आतंक माने क्या। आतंक का एक ही पहलू दिखता है कि मुसलमानों ने जिहाद के नाम पर हथियार उठा लिए और वे हिंसा की राह पर चल पड़े। वे हथियार उठाते क्यों हैं? क्या जिन्हें हम आतंकवादी कहते हैं वे बड़े आतंकवादी के गर्भ से पैदा नहीं होते, जो सत्ता का कोई भी रूप या नाम हो सकता है- अमेरिका, ब्रिटेन, रूस या भारत ही क्यों नहीं जिस आतंक की कोख से मुसलमान आतंकवादी जन्म ले रहे हैं, उस पर फिल्में शिद्दत और तल्खी से क्यों नहीं फोकस करती हैं अमेरिका-ब्रिटेन में नस्लीय दंगे होते हैं, बॉलीवुड में उनपर फिल्में नहीं बनीं। आतंकवादी गतिविधियों, छत्तीसगढ़-झारखंड में नक्सली आंदोलन से हमारा जीवन प्रभावित हो रहा है। यह एक अहम मसला भी है लेकिन हमारे बॉलीवुड के फिल्मकारों को अमेरिका ही दिखता है, स्विटजरलैंड और मॉरीशस की हसीन वादियां ही नजर आती हैं। क्या यही अच्छा होता कि 'कुर्बान' के एहसान और अवंतिका भारत में होते! इससे शायद आतंकवाद को हम भारतीय नजरिए से देख-समझ पाते लेकिन सारा खेल व्यावसायिक सफलता और मुनाफे का है।

यह एक अजीब विडंबना है कि जितने साल हमारी राजनीतिक आजादी को हुए, उतने ही बरस सांप्रदायिक यंत्रणा को भी। आजादी की खुशी और सांप्रदायिकता के खंजरनुमा विभाजन की चुभन हमें एक साथ मिली। दोनों के रंग बीतते वक्त के साथ बदलते गए। एक आशंकाओं में घिर कर सवालों की सूली पर टंगा तो दूसरे का रंग साल-दर-साल गहरा होता गया। आज हम यह कहने की स्थिति में हैं कि आजादी के झंडे में बेमानीपन का रंग चढ़ गया है लेकिन दूसरी ओर सांप्रदायिकता का जहर चुपचाप हमारी रगों और देश समाज की धमनियों में पूरी रवानगी के साथ दौड़ता रहता है। राजनीति के दबाववश जब कभी भी नसें फटती हैं तो दंगों की शक्ल में लहू घरों, गलियों और सड़कों पर बहता है, जिसे मुआवजे या जांच आयोग की छांव से ढंकने की नाकाम कोशिश होती है। हम जख्मों का इलाज करने के बजाए उसे

छिपाना जानते हैं। इससे जख्म नासूर में तब्दील होता जाता है। दो साल पहले प्रदर्शित फिल्म 'फिराक' उस जख्म को, जिसका नाम सांप्रदायिकता है, दिखाने की एक कोशिश है। नंदिता दास निर्देशित इस फिल्म की शुरुआत ही कब्रिस्तान से होती है जहां लाशों को दफनाया जा रहा है। लाशें दफन जरूर होती हैं, लेकिन घृणा के भाव पूरी त्वरा के साथ बाहर निकलते हैं। लाशों की भीड़ में एक हिंदू लाश आ जाती है। मुसलमान उस हिंदू लाश को देखकर भावुक हो जाता है, उसकी आंखों में नफरत का जैसे ज्वार-भाटा आ जाता है। इसे नफरत और विषाक्त माहौल की पराकाष्ठा कहा जाएगा कि आदमी लाशों में भी हिंदू-मुसलमान देखता है और उससे मोह या नफरत करता है। 'फिराक' 24 घंटे के दौरान घटी घटनाओं और पांच अलग-अलग कहानियों का कोलाज है। गुजरात दंगे पर बनी इस फिल्म के बारे में नंदिता दास का दावा है कि यह हजारों सच्ची कहानियों पर आधारित है। मुंबई बम-ब्लास्ट के बाद गुजरात दंगा फिल्मकारों का नया प्रिय विषय बन गया है। 'फिराक', 'परजानिया', 'फाइनल सल्यूशन' (डाक्यूमेंट्री) और 'काई पो चे' गुजरात दंगों पर बनी कुछ बेहतरीन फिल्में है। सवाल उठता है कि जब इस विषय पर पहले से ही अच्छी फिल्में थीं तो नंदिता ने एक और फिल्म 'फिराक' क्यों बनाई? नंदिता 'फिराक' को न फीचर, न डाक्यूमेंट्री और न ही स्टेज का क्राफ्ट दे पाईं। अगर इन तीनों का फ्यूजन हो तो अलग बात है। नंदिता की अपनी सीमा हो सकती है और जोखिम उठाने की हद भी। बावजूद इसके उन्होंने फिल्म में कई मार्मिक पहलुओं और सवालों को उठाया है। ये सवाल, सवालों की शक्ल में नहीं, टीस के रूप में हैं।

दर्द का कतरा संवेदना की धरती पर मिटकर सवाल का वट-वृक्ष कैसे बनता है, यह इस फिल्म को देखकर समझा जा सकता है। कोई भी मसला महज व्यक्तिगत या भावनात्मक नहीं होता। उसके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संदर्भ भी होते हैं। उसे इन संदर्भों से विलगाकर देखना समुचित दृष्टिकोण नहीं। फिराक के बारे में नंदिता दास ने स्पष्टीकरणनुमा यह बयान दिया, 'मैंने फिराक' में राजनीतिक कारणों की खोज नहीं की है। अलबत्ता मानवीय पहलुओं को उभारने की कोशिश की है।' यह नंदिता की दृष्टि और हिम्मत की हदबंदी है। सांप्रदायिकता एक राजनीतिक समस्या है। दंगों की वजहों की जड़ें व्यक्ति या समाज से ज्यादा राजनीति से जुड़ी हुई हैं। चोट वहीं करनी होगी। टकराना उसी से होगा लेकिन राजनीतिक सवालों से टकराने के कुछ खतरे भी हुआ करते हैं। लगता है उस जोखिम को उठाना नंदिता ने मुनासिब नहीं समझा। प्रेम व्यक्तिगत होता है, दंगा सामूहिक। दंगा सड़कों पर या गलियों में बेशक घटित होता है लेकिन इसकी पूरी पटकथा सियासी गलियारों में सियासतदां लिखते हैं, पूरी तरह से 'घोस्ट राइटिंग' का मामला होता है। लिखने वाले का नाम छिपाया जाता है।

जो भी हो पर 'फिराक' ऐसी भी फिल्म नहीं है कि उसे पूरी तरह खारिज कर दिया जाए, जैसा कि कर दिया गया। 'ब्लैक फ्राइडे' जैसे सांप्रदायिक विषय पर बेहतरीन फिल्म बनाने वाले अनुराग कश्यप अफसोस जताते हैं, 'यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि 'फिराक' जैसी फिल्म मैंने खाली सिनेमा हॉल में देखी।' अनुराग की चिंता अपनी जगह जायज है मगर नए जमाने का सच और उसका मन-मिजाज भी बदला है। अब फिल्म मतलब मनोरंजन, 'फुल्ली इंज्वाय' और मस्ती है। उनकी भी 'देव डी' इसलिए चली कि उसमें युवाओं के लिए 'मस्ती-मजाक' की मसालानुमा चीजें थीं। 'फिराक' में न थ्रिल, न रोमांच। यहां तक कि दंगों पर आधारित फिल्म होने के बावजूद उसमें हिंसक दृश्य नहीं के बराबर हैं- बल्कि हैं ही नहीं। हिंसा भी लोगों का मनोरंजन करती

है- बॉलीवुड में लंबे समय तक फिल्में हिंसा की बदौलत सफलता की सीढ़ियां तय करती रही हैं। यानी मसाले के नाम पर 'फिराक' में कुछ नहीं है। सिर्फ संवेदना है- वह भी बिना सियासत में लिपटी अब तक इस दौर में जब संवेदनशीलता ही लुप्तीकरण की ओर है तो उसके दर्शक कहां मिलेंगे। कोई क्यों बनेगा संवेदना का खरीददार? दरसअल, संवेदना भी सौदा करने की चीज बन गई है। नंदिता कलाकार हैं। शीर्ष कलाकार की बेटी हैं। कला उनके खून में है लेकिन संवेदना का सौदा करने की कला वे नहीं सीख पाईं, नहीं बन पाईं संवेदना की सौदागर।

'फिराक' पांच कथाओं का कोलाज है। एक गुजराती परिवार है, जिसमें परेश रावल हैं, उनकी पत्नी दीप्ति नवल हैं। दीप्ति नवल ने एक ऐसी बेचैन औरत (आरती) का किरदार निभाया है जो कट्टरवादियों के बीच उदारवादी-संवेदनशील है। यही उसका अपराध बन जाता है। दंगे का दर्द उसके भीतर किसी नहर की भांति प्रवाहित होता रहता है। एक नामालूम दंगा पीड़ित औरत अक्सर सामने आकर गुहार लगाती है, 'दरवाजा खोलो, मुझे बचा लो... वे काट डालेंगे मेरे को।' दीप्ति को लगता है वह उस औरत की मदद नहीं कर पाई। जरूर दंगाइयों ने उसे मार डाला होगा। वह प्रायश्चित की आग में जलती अपने जिस्म को जलाती है। उसके हाथ में कई फफोले उभर आए हैं। यहां ठहरकर चीजों को सूक्ष्म ढंग से समझने की जरूरत है। अजनबी औरत की करुण पुकार किसी एक की न होकर तमाम दंगाग्रस्त इलाकों में मदद के लिए छटपटाते लोगों की है। आम आदमी उस पुकार को सुनकर भी अनसुनी कर देता है। न खिड़की खोलता है, न दरवाजा। अपने बंद घरों में खुद को महफूज समझता है, दुनिया जलती है तो जले। उसको क्या? दुनिया भर के लोगों की मदद का उसने ठेका थोड़े ही न ले रखा है। यह नए जमाने के सुविधाभोगी लोगों की सोच है, जिसका तेजी से विस्तार हो रहा है। दीप्ति के जिस्म पर उभरे फफोले असल में व्यवस्था और इंसानियत के जिस्म के फफोले हैं। दीप्ति एक दंगा पीड़ित बच्चे को घर ले आती है, मदद के लिए। वह अपने कट्टरवादी हिंदू परिवार के कोप से बचाने की खातिर उसका नाम मोहसिन से बदलकर मोहन कर देती है। मोहसिन दंगे में अपने परिवार को खो चुका है। बच्चा मासूमियत भरे अंदाज में दंगे की क्रूरता बयान करता है, 'उन्होंने औरत के कपड़े खोले, मर्दों के नहीं फिर उन्हें मार डाला'। जिस बचपन की नींव इस भयावहता में पड़ रही हो उसके हौलनाक भविष्य का सिर्फ अंदाजा ही लगाया जा सकता है। बच्चा जहर भरे माहौल में खुद को जिंदा बचाने का तरीका सीख जाता है। वह रसोई में दीप्ति के सामने मोहसिन है, बाहर मोहन। एक बार हिंदू उपद्रवियों के बीच घिर जाने पर वह अपना नाम 'मोहन' बताकर खुद की जान बचा पाने में कामयाब हो जाता है। कोई सिखाता नहीं लेकिन बच्चा जान गया है कि जीने के लिए झूठ जरूरी है जो बातें स्कूल नहीं सिखा पाते, हालात सीखा देते हैं। आठ-दस साल का बच्चा हिंदू-मुसलमान के खेल को समझ गया है। ये वे हालात हैं जो एक बच्चे से उसकी मासूमियत नोंच लेते हैं। बच्चा ज्यादा दिनों तक दीप्ति के यहां टिक नहीं पाता है। एक दिन मोहसिन दीप्ति को उसके पति के हाथों पिटते देखता है। उदारवादी चेहरे को कट्टरता के हाथों बुरी तरह पिटते देखकर वह भाग खड़ा होता है, क्योंकि उसे यकीन हो जाता है कि यहां भी वह सुरक्षित नहीं है। फिर से शरणार्थी शिविर लौट जाता है, लाशों और लाश बने चेहरे की भीड़ में अपने लिए पनाह ढूंढ़ता हुआ। यह लाशों के इंसानों से ज्यादा अहम होने और उनके दरमियान मिटते फर्क का संकेत है और असुरक्षित बचपन का भी। फिल्म में एक कहानी मुनीरा की भी है जो दंगे के बाद जब अपने घर लौटती है तो पाती

है कि उसके घर को दंगाइयों ने जला डाला है। वह अपने पति से झगड़ती है। उसका शक पड़ोसी हिंदू सहेली पर जाता है। मुनीर की गोद में एक मासूम शिशु है। वह शिशु को एक पल भी खुद से अलग नहीं करती। कंगारू की तरह छाती से चिपकाए रहती है। भय, असुरक्षा और आशंका की गहरी धुंध। ये चीखें आदमी को कैसे मुर्दा जिस्म में तब्दील कर देती हैं इसकी मिसाल है मुनीरा। समीर के रूप में संजय सूरी और टिस्का चोपड़ा की एक अलग कहानी चलती है। वे प्रेमी युगल हैं। वे अब गुजरात से दिल्ली शिफ्ट होने की सोचते हैं। वे भी दंगे में मारे जाने के भय में हर क्षण सिहर रहे होते हैं।

फिल्म की सबसे महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में नसीरूद्दीन शाह हैं जिन्होंने संगीतकार खान साहब की भूमिका निभाई है। और खूब निभाई है। उनके सहयोगी है- रघुबीर यादव। खान साहब हिंदू इलाके में रहते हैं, शास्त्रीय संगीत सीखते हैं। वे नहीं समझ पाते फिरकापरस्ती के फंडे को। उनका सहयोगी रघुबीर यादव एक आम मुसलमान है जो आशंकित रहता है एक खतरे से। वह उन्हें आगाह करता है, 'खान साहब, यह टाइम केवल सुनते रहने का ही नहीं है, जागिए, आपका एक भी शागिर्द मुसलमान नहीं है।' संगीत की रूहानी दुनिया में डूबे रहने वाले खान साहब दुनियावी तल्खियों और खतरनाक सांचे में ढलते वक्त से बेखबर रहते हैं। संगीत की खालिस दुनिया में बाकी व्यर्थ चीजों के लिए जगह बचती ही कहां है? उनकी अलहदा सोच के चलते जो प्रगतिशीलता के दायरे में है, आम मुसलमान बिरादरी से उन्हें 'अलग' समझता है। हिंदू होने के वजह से दंगे के माहौल से दूरी बनाने लगता है। हिंदू को शक की नजरों से देखता है। मुसलमान है बेगाना। यह बानगी है कि इंसानियत की राह पर चलने वाला शख्स किस तरह अलग-थलग कर दिया जाता है। खान साहब को पहला झटका तब लगता है जब शहर से गुजरते हुए वे पाते हैं कि 'वली दकनी की मजार' अपनी जगह नहीं है। उन्हें घर पहुंचकर पता चलता है कि उस मजार को दंगाइयों ने नष्ट कर दिया। दर्द और लाचारी शब्दों के रूप में ढलती है, 'सात सुरों में इतनी काबिलियत कहां जो ऐसी नफरत का सामना कर सकें।' यह लाचारी संगीत की नहीं उस आदमी की भी है जो दंगों में हर खून के कतरे को अपनी जिस्म का लहू मानकर कराह उठता है। 'फिराक' में कोई गाना नहीं है। जहां धर्म की हत्यारी लपटों में जिंदा लोगों को भस्म किया जाता हो, मनुष्यता की जगह जहां कब्र में हो। वहां गीत-संगीत के लिए जगह ही कहां बचती है। दर्दनाक चीखें, करुण पुकार, रूहों को चीरती सिसकियां एक ऐसा नाद रचती हैं जिससे शोक-गीत का जन्म होता है। 'फिराक' भी दंगे का एक शोक-गीत है जो शब्दों के बजाए भावों में व्यक्त हुआ है।

अब बात हिंदी फिल्मों में फिरकापरस्ती या सांप्रदायिकता की। इसमें कोई दो राय नहीं कि भारत-पाक विभाजन और सांप्रदायिक दंगे हमारे समाज के ऐसे जलते सच हैं जिनकी तपिश कम-ज्यादा तो होती रहती है, लेकिन कभी खत्म नहीं होती। कभी न खत्म होने वाली जख्मी हकीकत है यह। फिर ऐसा क्यों हुआ कि आजादी के बाद विभाजन के बाद भी विभाजन या सांप्रदायिकता पर ऐसी कोई उल्लेखनीय फिल्म नहीं बनी, जिसे लीजेंड का दर्जा दिया जाए। इस बेहद तल्ख सच्चाई से सिनेमा दूर रहा। समाज में लगातार सांप्रदायिक दंगों का सिलसिला जारी रहा, लेकिन हमारी हिंदी फिल्में हसीन वादियों में मोहब्बत के तराने दिखाती रहीं। यहां एक ऐसे एंग्रीमैन नायक का उदय हुआ जो अकेले दर्जनों लोगों को ढिसुम-ढिसुम कर ठिकाने लगा देता था। हकीकत में ऐसा नायक कहीं था नहीं। कायर होता समाज फिल्मी हीरो के इस

दुस्साहस को देखकर गदगद था। वर्ष 1941 में वी. शांताराम की 'पड़ोसी' फिल्म आई थी जिसमें सांप्रदायिकता पहली बार अपने प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त हुई थी। फिर 1953 में फिल्मिस्तान की 'नास्तिक' आई जिसे आई.एस. जौहर ने बनाया था। फिल्म में विभाजन की नृशंसता देखकर नायक अजित नास्तिक हो जाता है। इसके बाद लंबा अंतराल। सांप्रदायिकता विरोधी फिल्म 1963 में 'धर्मपुत्र' प्रदर्शित हुई। इसके एक दृश्य में मनमोहन कृष्ण नायक शशि कपूर से कहते हैं, 'धर्म के नाम पर खून-खराबा और मार-काट इसलिए होती है कि धर्म को मानने वाले ऐसे लोग पैदा हो गए हैं जैसा कि तू है। तूने धर्म को दहकती हुई भट्टी बना दिया है।... तू वो है जो मजहबों की सूरत बिगाड़ देता है... आज तू हमारे बेटे के रूप में सामने आया है, तुझे मैं अपने हाथ से गोली मारता हूं।'

सांप्रदायिक उन्माद से विनष्ट जीवन को केंद्र में रखकर बनी एम.एस. सथ्यू की 'गर्म हवा' एक बेहतरीन फिल्म थी। यह 1973 में प्रदर्शित हुई। आगरा के एक मुस्लिम परिवार के छोटे से संसार के इर्द-गिर्द घूमती यह फिल्म एक बड़ी घटना के मानवीय पक्ष को उजागर करने का प्रयास करती है। यह फिल्म हिंसा का चित्रण किए बिना ही हिंसा को अपना विषय बनाती है। एक जाति विशेष के व्यक्तिगत आक्रोश को विश्वसनीय और शिद्दत के साथ अभिव्यक्त करने में सथ्यू सफल रहे। बलराज साहनी की इस अंतिम फिल्म के विषय में कहा गया, 'गर्म हवा' का त्रासद कथ्य इतिहास की अमानवीय घटनाओं के विरुद्ध मानवीय गरिमा का अनोखा दस्तावेज है।' इसके ढाई दशक के बाद माणिरत्नम की 'बांबे' आई जो 'मुंबई बम ब्लास्ट' से प्रेरित थी। फिल्म में दो अलग धर्मों के प्रेमी युगल के बीच धर्म किस तरह तनता है यह फिल्म देखकर पता चलता है। यही वह प्रस्थान बिंदु था जिसके बाद कई फिल्में बननी शुरू हो गईं जिसका विषय विभाजन या सांप्रदायिकता था। सईद अख्तर मिर्जा की 'नसीम', महेश भट्ट की बतौर निर्देशक अंतिम फिल्म 'जख्म', अपनी अतिशयता के लिए चर्चित 'गदर', चंद्रप्रकाश द्विवेदी की 'पिंजर', प्रियंवद की कहानी पर आधारित 'अनवर', अनुराग कश्यप की 'ब्लैक फ्राइडे', राहुल ढोलकिया की 'परजानिया', अपर्णा सेन की 'मिस्टर एंड मिसेज अय्यर', सुभाष घई की 'ब्लैक एंड व्हाइट', आमिर खान अभिनीत 'फना' और नंदिता दास की 'फिराक'। सिमित अमीन की 'चक दे इंडिया' खेल पर केंद्रित फिल्म होने/माने जाने के बावजूद उसके नायक कबीर खान (शाहरुख खान) का दर्द भारतीय समाज में एक मुसलमान होने का दंश है।

कहा तो यहां तक जाता है कि भारत-विभाजन पिछली शताब्दी ही नहीं, पांच हजार सालों के इतिहास की भयावह घटना है। किसी कौम ने जानबूझकर अपने देश को दो भागों में बांट दिया हो, इसका कोई और दृष्टांत नहीं मिलता। विभाजन से उपजी सांप्रदायिकता की जहर वाली नदी सूखने के बजाए विभिन्न प्रांतों में बहती रही है। बीच-बीच में वह कभी भागलपुर दंगा, मेरठ दंगा, गुजरात दंगे के रूप में तबाही मचाती रही है।

ऐसा भी नहीं है कि 50 और 60 के दशक में यथार्थपूर्ण फिल्में नहीं बनीं। कई ख्याति प्राप्त फिल्मकार पुरस्कारों और सफलता की धूप तो सेंकते रहे लेकिन सांप्रदायिक विषयों पर फिल्म बनाने से हिचकते रहे। उन्होंने समाज के दूसरे यथार्थ को उठाया। मसलन सामंती शोषण के कारण किसानों के भूमिहीन में बदलकर शहर की ओर भागने की समस्या की गंभीर विवेचना करने वाली विमल राय की 'दो बीघा जमीन', असम के चाय मजदूरों के जीवन संघर्ष को व्यक्त करने वाली ख्वाजा अहमद अब्बास की 'राही', बाल-शोषण पर राजकपूर की 'बूट पालिश',

पूंजीवादी भ्रष्टाचार को बेनकाब करती राजकपूर की ही 'श्री 420', 'और जागते रहो', सामाजिक अन्याय से असंतुलित लड़की की कहानी 'सीमा', मशीन और आदमी के बीच के संघर्ष-गाथा 'नया दौर', वेश्या समस्या को विश्लेषित करने वाली 'साधना', अछूत समस्या पर विमल राय की 'सुजाता', पूंजीवादी के दौर में सामंतवाद पर फोकस करने वाली 'साहब बीवी और गुलाम', डाकू समस्या पर 'गंगा जमुना', जिस देश में गंगा बहती है', 'मुझे जीने दो', 'गोवा मुक्ति' विषय ख्वाजा अहमद अब्बास की 'सात हिंदुस्तानी' उल्लेखनीय फिल्में रही हैं।

दरअसल, विभाजन और सांप्रदायिकता को दिखाने के अपने जोखिम थे। यह जोखिम फिल्मकार उठाना नहीं चाहते थे। बेहद संवेदनशील मामला होता है, धर्म को राजनीति से जोड़कर फिल्में बनाना। तलवार की धार पर चलने सरीखा संतुलन बिगड़ा नहीं कि गिरे धड़ाम से। फिल्म विवादों में फंसी। फिल्म निर्माण में लगे लाखों-करोड़ रुपये के डूबने के गहरे आसार। अनुराग कश्यप की फिल्म 'ब्लैक फ्राइडे' को मिसाल के तौर पर देखा जा सकता है जो काफी जद्दोजहद के बाद प्रदर्शित हो पाई। 'परजानिया' को प्रदर्शित कराने के लिए राहुल ढोलकिया को भी काफी मशक्कत करनी पड़ी। संभवतः यही वजह है कि अधिकतर फिल्मकारों ने शार्टकट रास्ता अख्तियार किया। सांप्रदायिक सद्भाव के नाम पर उन्होंने अभिनेता को चारखाने की तहमद और सिर पर गोल टोपी पहनाकर नमाज पढ़ते दिखाया या हिंदू-मुस्लिम एकता का गीत गाते, तू हिंदू बनेगा न मुसलमान बनेगा, इंसान की औलाद है इनसान बनेगा। सच तो यह है कि सांप्रदायिकता महज सामाजिक मसला न होकर राजनीतिक मसला ज्यादा है। आम जनता दंगा नहीं चाहती। यह वोट का खेल है। सत्ता तक पहुंचने का वह शार्टकट जो दंगों में गिरी लाशों से गुजरता है। सियासत हिंदू-मुसलमान के बीच फांक करती है। उसमें लहू भरती है। क्या इन सवालों से टकराए और इनकी पड़ताल किए बिना सांप्रदायिक या विभाजन पर अविस्मरणीय भला कैसे बन सकती थी।

अब भी इंतजार है एक ऐसी फिल्म का जो विभाजन की पीड़ा, सांप्रदायिकता की असली जड़ों और इनसे जुड़े तमाम सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक पहुलओं पर रोशनी डालते हुए मार्मिकता के लैस से अनूठी तस्वीर पेश करे।

(लेखक चर्चित कथाकार और 'पाखी' के संपादक हैं)

कला सिनेमा में कितना सामाजिक सरोकार

सुधा अरोड़ा

अक्सर रचनाकारों और फिल्म निर्माताओं को ऐसी कहानियां आकर्षित करती रही हैं, जिनके जांबाज नायक नामी हैं और जीवित हैं। शहीदों से लेकर डाकुओं तक के जीवन ने कई फार्मूला फिल्म निर्देशकों से लेकर कला निर्देशकों तक को प्रेरित किया है। जब मैंने सुना कि राजस्थान के छोटे से गांव भटेरी में महिला विकास कार्यक्रम में काम करने वाली 'साथिन' भंवरी देवी के जीवन पर फिल्म का निर्माण हो रहा है, तो मेरे लिए यह आश्चर्य का विषय नहीं था।

जिस तरह के सनसनीखेज विषयों की तलाश में फिल्म निर्माता रहते हैं, वह सब कुछ इस कहानी में नहीं था। एक ग्रामीण सीधी सादी कार्यकर्ता का जुझारु स्वरूप, बाल विवाह प्रथा, यौन शोषण और प्रताड़ना, सामाजिक बहिष्कार, सामूहिक बलात्कार, जातिप्रथा की कुरीतियां, महिला कार्यकर्ताओं का सहयोग, कानूनी दांवपेंच, भ्रष्ट पुलिस व्यवस्था, सवर्ण वोट बैंक, राजनेताओं का हस्तक्षेप, उसके पक्ष और विरोध में हजारों की संख्या में धरना और प्रदर्शन अंततः सच्चाई एवं न्याय को धता बताते हुए सेशन कोर्ट का ऐतिहासिक फैसला और बलात्कारियों की जमानत पर रिहाई। लोकतंत्र में स्त्री की स्थिति पर एक भद्दा मजाक!

किसी भी जीवित व्यक्ति के संघर्ष, प्रताड़ना या जिजीविषा पर फीचर फिल्म बनाना न सिर्फ जोखिम से भरा काम है, जो विवादों को आमंत्रित करता है बल्कि फिल्म निर्माता को एक अतिरिक्त जिम्मेदारी से भी भर देता है ताकि उस फिल्म के चरित्र को दर्शकों की पूरी सहानुभूति और संवेदना मिल सके। फूलन देवी पर बनी फिल्म 'बैंडिट क्वीन' सारे विवादों और व्यावसायिकता के बावजूद एक संवेदनशील फिल्म थी, जिसने एक डकैत औरत के प्रति दर्शकों में भरपूर सहानुभूति अर्जित की। यह फिल्म की ही कूवत थी कि न सिर्फ उस पर चल रहे कुछ मुकदमों को वापस लिया गया, उसे चुनाव लड़ने की अनुमति भी दी गई। फूलन देवी के चुनाव जीतकर विधायक बनने में शेखर कपूर की फिल्म का बहुत बड़ा योगदान था।

तुलना की कोई गुंजाइश न होते हुए भी राजस्थान के भटेरी गांव की भंवरी देवी को अगर फूलन के चरित्र के समानांतर रखकर देखें तो भंवरी फूलन के चरित्र का आदर्शवादी संस्करण है, फूलन के सभी नकारात्मक पक्ष यहां अनुपस्थित हैं। फूलन ने कानून को अपनी बंदूक की नोक पर रखा और राजनेता बन बैठी (भारतीय राजनीति के शुद्ध अपराधीकरण का संदेश बहुत स्पष्ट है) भंवरी ने न्यायालय का दरवाजा खटखटाया तो कोर्ट के कटघरे से वह न सिर्फ अपमानित होकर लौटी और उसका सामाजिक बहिष्कार किया गया बल्कि बलात्कारियों को भारतीय संस्कृति का हवाला देकर बाइज्जत बरी किया गया और सात हजार की भीड़ के बीच फूलमालाओं से स्टेज पर उन्हें सम्मानित किया गया। बैंडिट क्वीन फूलन ने फिल्म की ऑस्कर में एंट्री रुकवाकर निर्माता निर्देशक से बीसेक

लाख वसूल कर लिए, भंवरी देवी को आज 25 सितंबर 2002 तक 'बवंडर' के फिल्म निर्माता की ओर से एक फूटी कौड़ी नहीं मिली है। हां, मिला है सिर्फ शगुन का एक सौ एक रुपया जो फिल्म बनने से पहले या फौरन बाद उससे राखी बंधवाकर फोटो खिंचवाते हुए फिल्म के निर्माता निर्देशक ने उसकी हथेली पर रख दिया था और जिस फोटो को बाद में फिल्म को प्रोमोट करने के लिए, पब्लिसिटी के तहत, प्रचारित किया गया।

21 नवंबर 2001 को 'बवंडर' फिल्म रिलीज हुई थी, उसके साथ ही फिल्म निर्देशक श्री जगमोहन मूंदड़ा के कई साक्षात्कार अखबारों में आए थे कि भंवरी देवी को उन्होंने तीन हजार पाउंड दिए हैं और वह उसे जमीन लेकर दे रहे हैं जिसके लिए वे ढ़ाई हजार डॉलर और उसे देंगे। यह जानना संभवतः अविश्वसनीय हो कि भंवरी को अब तक फिल्म निर्देशक ने अपनी ओर से एक डॉलर भी नहीं दिया है। यहां तक कि लंदन में फिल्म की स्क्रीनिंग के बाद लंदन वीमेंस ग्रूप ने भंवरी देवी के नाम जो तीन हजार पाउंड का चेक दिया था, वह भी फिल्म के निर्माता निर्देशक ने अपने एक मुंबईवासी मित्र के साथ भंवरी के नाम जयपुर के एक बैंक में संयुक्त खाते में डलवा दिया जिसकी पास बुक और चेक बुक भी उनके ही पास है और उनके अनुसार 'यह खाता मेरी देख-रेख में खोला गया है' और उनके बिना वह उसमें से पैसा नहीं निकाल सकती। अब वह मित्र उस राशि पर कुंडली मारे बैठे हैं। मैंने जयपुर जाने से पहले उन्हें फोन कर अपना परिचय दिया और भंवरी के खाते की बात की तो वह बिगड़कर बोले, 'मैं दीवाली के बाद जयपुर जाऊंगा, उससे बोलो तब मेरे पास आए। मैं उसके बाप का नौकर नहीं हूं और आप पत्रकार लोग तो मुझे फोन करो मत। मैंने जगमोहन से बात की है, वह कहता है, मैं किसी सुधा को नहीं जानता।'

'मैं अपनी जड़ों में लौटना चाहता हूं। आय बिलांग टु राजस्थान और मैं चाहता हूं कि कुछ मीनिंगफुल सिनेमा बनाऊं। मैंने बहुत फिल्में बनाईं, बहुत पैसा भी कमाया पर अब मैं पैसे के लिए नहीं, अपने मन के संतोष के लिए काम करना चाहता हूं। मैं बहुत बड़ा रिस्क ले रहा हूं। हो सकता है, फिल्म बिल्कुल न चले और मेरा सारा पैसा पानी में जाए पर मैं चाहता हूं कि मेरी फिल्म के बाद भंवरी को जनता का न्याय मिले।' जगमोहन मूंधड़ा के इस निहायत ईमानदार कंफेशन से लेकर 'मैं किसी सुधा को नहीं जानता' तक का नीचे की ओर जाता हुआ ग्राफ काफी तकलीफदेह अनुभव रहा, जिसने मुझे यही सीख दी कि सिनेमा चाहे वह फार्मूलाबद्ध कमर्शियल सिनेमा हो या कम बजट वाला समानांतर सिनेमा, है वह अंततः खालिस व्यवसाय ही, जिसमें झूठ, बेईमानी, तिकड़म, दोमुंहापन- सभी पैसा या नाम तक पहुंचने की सीढ़ियां मात्र हैं।

यह जनवरी 1999 की घटना है। जगमोहन मूंदड़ा जयपुर के सेशन कोर्ट से भंवरी केस की सुनवाई के सारे कागजात निकलवाकर लौटे थे। कोर्ट की मूल सुनवाई की प्रतिलिपियां। इसके अतिरिक्त उन्होंने सभी हिंदी, अंग्रेजी और प्रादेशिक अखबारों से कतरनें भी इकट्ठी की थीं। भंवरी के बारे में मैं भी कई बार अखबारों में लिख चुकी थी, विशेष रूप से जब नवम्बर 1995 में भंवरी के खिलाफ फैसला आया और उसके बाद वह बीजिंग सम्मेलन में भी गई तो 18 जनवरी को विपक्ष के लोग उसे बदनाम करने में कुछ ज्यादा ही सक्रिय हो गए। फैसला उनके पक्ष में था इसलिए स्थानीय विधायक भी गूजरों का वोटबैंक खड़ा करने के लिए कमर कस कर तैयार हो गए। सात हजार लोगों की रैली जयपुर में निकाली गई जिसमें जी भरकर भंवरी के नाम और महिला कार्यकर्ताओं के नाम फूहड़ गालियों का इस्तेमाल किया गया। भंवरी के बारे में कविता श्रीवास्तव की रिपोर्ट्स प्रमिला ताई (प्रमिला दंडवते) के यहां आती थीं। सभी महिला संगठनों ने एकजुट होकर 'महिला

अत्याचार विरोधी कृति समिति' के बैनर तले आजाद मैदान में जुलूस निकाला... लेकिन नतीजा... कुछ नहीं। निखिल वागले ने भी इस फैसले के बारे में सख्ती से लिखा तो उन पर जज जगपाल सिंह ने मानहानि का मुकदमा दायर कर दिया। चार साल निखिल वागले मुकदमे की तारीखों पर जयपुर अदालत पहुंचते रहे। आखिर बिना सुनवाई हुए मुकदमा रद्द कर दिया गया।

भंवरी से मेरी पहली मुलाकात मुंबई के बिरला क्रीड़ा केंद्र में हुई थी, जहां राजस्थानी महिला मंडल के एक कार्यक्रम में किरन बेदी उसे सम्मानित कर रही थीं। एक बेहद दुबली पतली सांवली सी काया संकोच के साथ कुर्सी पर सिमटी हुई बैठी थी और जब उसे माइक पर कुछ बोलने के लिए कहा गया तो उसने राजस्थानी भाषा में 'साथिन' का एक आह्वान गीत अपनी स्थानीय बोली में बेहद खूबसूरती से गाकर सुना दिया। तब उसके बाल पूरे काले थे। उसके खिलाफ फैसला आने और फिल्म के कारण अपने लोगों के बीच छीछालेदर होने के बाद पिछले सात सालों में उसने कैसा जीवन जिया है, उसके चांदी से सफेद बाल इसकी बखूबी गवाही देते हैं।

धरने, जुलूस और प्रदर्शनों के इस सारे तामझाम में वह औरत हमेशा पृष्ठभूमि में रही, जिसने कभी नहीं चाहा कि वह इस कदर सुर्खियों में छायी रहे, उस पर नाटक और उपन्यास लिखे जाएं, फीचर फिल्म और वृतचित्र बनें। उसने सिर्फ यह चाहा कि उसके साथ जो अन्याय हुआ है, उसके अपराधियों को सजा मिले और वह मीडिया की चकाचौंध से परे एक सामान्य जीवन जी सके। यह अब तक उसके लिए संभव नहीं हो पाया है बल्कि फिल्म बनने के बाद उसके लिए जिंदगी और मुश्किल हो गई है। इसके लिए मैं अपने को भी उतना ही दोषी पाती हूं जितना फिल्म के निर्माता-निर्देशक हैं।

जनवरी 1999 में जब जगमोहन मूंदड़ा ने भंवरी पर फिल्म बनाने का निर्णय लेकर शोध का काम शुरु किया, तब तक भंवरी के केस की फाइल हाईकोर्ट में चार सालों से धूल फांक रही थी। मैंने अपने परिचित शुभचिंतकों के मना करने के बावजूद फिल्म लिखने की हामी भर ली। उन्होंने जगमोहन मूंधडा की 'मानसून' जैसी कुछ सस्ती फॉर्मूला फिल्में देखी थीं, मैंने सिर्फ 'कमला' देखी थी, जो मुझे अच्छी लगी थी। मेरा मानना था कि मैं न लिखूं तो भी फिल्म तो बनेगी ही, लिखनेवालों की कमी नहीं है पर शायद इसे लिखकर मैं भंवरी के साथ ज्यादा न्याय कर पाऊंगी। तब नहीं मालूम था कि मैं कितने बड़े मुगालते में थी। कला फिल्म हो या समानांतर फिल्म, यह माध्यम निर्देशक और निर्माता का है, लेखक का नहीं। लेखक को फिल्म का हिस्सा नहीं बनने दिया जाता!

मार्च, 99 में मैंने फिल्म का संक्षिप्त ड्राफ्ट लिखकर मूंदड़ा को सौंपा। पढ़ने के बाद मुझे जब उस ड्राफ्ट को विस्तार देने को कहा गया तो मुझे लगा कि मेरी लिखी हुई पटकथा को गंभीरता से लिया जा रहा है। जून, 99 में मैं अमेरिका अपनी बेटी के पास गई तो मेरा एक पूरा ब्रीफकेस भंवरी पर खोज की गई रिपोर्टों और लेखों से भरा था। ई-मेल द्वारा मैंने मूंदड़ा से संपर्क बनाए रखा। हर दृश्य के पूरे संवादों के साथ मैंने विस्तृत पटकथा लिखी। इसमें एक साल से ज्यादा समय लग गया। भंवरी की वास्तविक कथा पर बड़ी बारीकी से शोध भी चलता रहा।

फिल्म की पटकथा और संवाद लगभग पूरी होने को थी कि मूंदड़ा ने बताया कि वह एक और लेखक 'हायर' कर रहे हैं। शायद अमेरिकी शब्दावली में लेखक को भी टैक्सी या रिक्शे की तरह हायर किया जाता है। वह लेखक जिन्हें इस साल का नेशनल अवार्ड मिला है और वह मेरी स्क्रिप्ट को इंप्रोवाइज करेंगे। यह मेरे लिए एक धक्का था। इस फिल्म को अपनी नैतिक जिम्मेदारी मानते हुए, अपना पूरा लेखन-पत्रकारिता स्थगित कर, पूरी एकाग्रता से मैं सिर्फ यही एक काम कर रही

थी।

इसके बाद उन्होंने मुझे दो तीन दृश्य लिखने के लिए कहा, जिनसे मेरी सहमति नहीं थी। इसमें एक दृश्य था, महिला कार्यकर्ताओं का भी भंवरी को अपने नाम के लिए इस्तेमाल करना। इस दृश्य पर मेरी उनसे खासी बहस हुई। भंवरी का पूरा केस ही महिला संगठनों के सक्रिय सहयोग पर टिका था और उसमें महिला कार्यकर्ताओं को लेकर कुछ ढीले दृश्य डालने से पूरी फिल्म का फोकस बिगड़ने की संभावना थी। मैं यह भूल रही थी कि हर निर्देशक का अपना एक विजन होता है। अगर उसके पास सही विजन नहीं है तो वह फिल्म के किसी न किसी दृश्य के सूराख से झांकेगा ही। फिर भी फिल्म को लिखने में मैंने अपना बहुत सारा वक्त दिया था, इसलिए मैं चाहती थी कि शूटिंग के दौरान भी जब भी उन्हें कहीं संवाद बदलने हों और कोई दृश्य लिखवाना हो तो मैं फैक्स से उन्हें दृश्य भेज सकती हूं, पर पूरी स्क्रिप्ट हाथ में आ जाने के बाद उन्होंने मुझसे कोई संपर्क नहीं रखा। बाद में पता चला कि संवाद लेखन के लिए उन्होंने किसी और को 'हायर' कर लिया है।

फिल्म को पूरा लिख लेने के बाद मेरे पास एक लंबा चौड़ा सा एग्रीमेंट आया जिसके तहत कई सारे फरमान और प्रतिबंध मुझ पर लागू थे। मैंने हस्ताक्षर करने से मना कर दिया और कह दिया कि फिल्म में मेरा नाम नहीं जाएगा। जगमोहन के बड़े भाई बृजमोहन मूंदड़ा हमारे पुराने परिचित हैं और उन्होंने गोरेगांव फिल्म सिटी में फिल्म के शो से एक हफ्ता पहले मुझे आश्वस्त कर अनुबंध पर हस्ताक्षर करवा लिए।

फिल्म का प्रिव्यू देखते समय हमारे वरिष्ठ पत्रकार मित्र लाजपत राय और आशा पाणेमंगलोर साथ थे। पूरी फिल्म देख चुकने के बाद मैं बहुत निराश थी- खासतौर पर उन्हीं दृश्यों से जो बेहद 'लाउड' थे और फिल्म की संवेदना को हास्यास्पद बना रहे थे- पुलिस स्टेशन में हवलदार का रेडियो के गाने 'घाघरियो घूमर घालै रै' पर लहंगा हाथ में लेकर नाचने का लंबा उबाऊ दृश्य, भंवरी के लिपे पुते सिनेमाई घर में महिला कार्यकर्ताओं के राज मंदिर में सिनेमा देखने और पानीपूरी खाने के फूहड़ वार्तालाप और महिला थाने में महिला पुलिस के साथ असभ्य और अश्लील संवाद.... इन सबसे ज्यादा मुझे परेशान कर रहा था- दो विदेशी पत्रकारों की आंख से देखी हुई भंवरी की कहानी यानी अंतरराष्ट्रीय दर्शकों के लिए एक टेलरमेड फिल्म। क्या यही था- मूंधड़ा का अपनी जड़ों को लौटना? आय वांट टु गेट बैक टु माय रूट्स .... मैं लगभग रोने को थी और मुझे रुआंसा देखकर लाजपतराय हँस रहे थे और मुझे फिल्म लेखन के गुर सिखा रहे थे कि स्क्रिप्ट लिखो, पैसे लो और भूल जाओ, इस तरह इमोशनल होना हो तो सिर्फ कहानियां लिखो जहां अपने किरदारों की डोर तुम्हारे हाथ में रहे। मार्क्सवादी सामाजिक कार्यकर्ता आशा पाणेमंगलोर मुझे धीरज बंधा रही थी- सुधा, आम दर्शक की नजर से देखो तो फिल्म बुरी नहीं है। यह अपना संदेश बाकायदा संप्रेषित करती है, हां, फिल्म के कुछ कमर्शियल दबाव होते हैं, वे यहां भी हैं! मेरी आशाएं और उम्मीदें पूरी तरह ध्वस्त थीं। मैं फिल्म को भंवरी की आंख से देख रही थी और मेरा अपराध बोध मुझे लगातार साल रहा था।

कुछ दिनों के बाद, जब फिल्म रिलीज हुई, मैंने मूंदड़ा से कहा, 'मुझे बतौर पटकथा लेखन जो एक चौथाई बची हुई रकम आप देने वाले थे, वह भंवरी के खाते में डाल दें।' क्या मेरा यह आंशिक दान मुझे अपराध भाव से मुक्त करने के लिए काफी था?

फिल्म विदेशों में रिलीज हो चुकी थी और चर्चित रही थी। फ्रांस के किसी समारोह में नंदिता दास को सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री का अवॉर्ड भी मिल चुका था। विदेश स्थित कई महिला संगठनों ने उन्हें फिल्म शो के लिए आमंत्रित भी किया। जगमोहन मूंदड़ा फिल्म निर्माण और निर्देशन की अपनी

सॉफ्ट पोर्न फिल्ममेकर की इमेज बदलना चाहते थे और वह उसमें सफल रहे थे लेकिन भारत में फिल्म कुछ दिनों सेंसर में फंसी रही।

आखिर 22 अक्टूबर 2001 को जुहू के एक पब में 'बवंडर' का म्यूजिक रिलीज फंक्शन हुआ। विश्वमोहन भट्ट और रेखा अपने खूबसूरत रेशमी लिबासों में तस्वीरें खिंचवा रहे थे। इसके बाद 21 नवंबर को फिल्म का प्रीमियर भी बड़ी धूमधाम से हुआ। सारे अखबार मूंदड़ा और नंदिता दास की प्रेस कांफ्रेंस की तस्वीरों से भरे थे। मैं दोनों ही कार्यक्रमों में नहीं गई। निमंत्रण के खूबसूरत कार्ड की कलात्मकता और नफीस हैंड मेड पेपर मुझे मुंह चिढ़ा रहा था। विश्वमोहन भट्ट का पुरअसर संगीत 'केसरिया बालमा, पधारो म्हारे देस', रीता गांगुली, दीप्ति नवल और नंदिता दास के चरित्रों के अनुकूल उनके अपने स्वर में गायकी भी मुझे सुकून पहुंचाने में नाकाम रही।

मैंने ही 'बैंडिट क्वीन' फिल्म की कलात्मकता की तारीफ में कसीदे पढ़े थे, महिला संगठनों को उनके प्रोटेस्ट पर लताड़ा था और कहा था कि यह फिल्म उस कटे हुए हाथों वाली कलात्मक मूर्ति की तरह है जिसे आर्ट गैलरी में रख दें तो वह कला का उत्कृष्ट नमूना लगती है और खुली नालियों में थूकने वाली जनता के बीच चौराहे पर रख दें तो उसे कपड़ों से ढंकने का मन होता है।... अब मेरी कला को सराहने वाली इंद्रिय को फालिज क्यों मार गया था? क्या इसलिए कि भंवरी मेरे लिए हाड़ मांस की जीती जागती, लड़ती औरत थी, जिसे मैं जानती थी और जिसका संघर्ष मेरे मन के बहुत करीब था और फूलन मेरे लिए तृतीय पुरुष थी, एक विषय थी जिस पर बनी हुई फिल्म को मैं तटस्थ होकर देख सकती थी।

निर्देशक मूंदड़ा ने बताया कि उसे विदेश के कई महिला संगठनों ने भंवरी के साथ टॉक देने और फिल्म की स्क्रीनिंग के लिए आमंत्रित किया है। उन्होंने कहा- 'मैंने तो भंवरी को कहा, तू मेरे साथ चल, पूरे यूरोप में घूम आएगी पर उसने मना कर दिया।' मेरे पूछने से पहले ही उन्होंने बताया, 'वह तो आप लोगों से इतना डरती है, कहती है, मैं पैसा लूंगी तो सब कहेंगे, तूने अपने को बेच दिया इसलिए मुझे पैसे मत दो, इनाम देना है तो दे दो इसलिए हमने उसके नाम तीन हजार पाउंड बैंक में डाल दिए।' तीन हजार पाउंड! उसे बैंक में डालने के अलावा और चारा भी क्या था क्योंकि वह एक चेक था जो भंवरी देवी के नाम पर ही दिया गया था, लेकिन अब तक वह बैंक खाते की ही शोभा बढ़ा रहा है क्योंकि मूंदड़ा के मित्र भंवरी से यह भी कह चुके हैं, देख, मैंने तुझे ढ़ाई लाख दिलाए हैं, इसमें से आधा मेरा। मेरी पूछताछ पर मुझे भी फोन पर उन्होंने डपट कर कहा, 'मैंने इतनी मुश्किल से भंवरी को पैसे दिलाए और वह भाव खा रही थी कि मुझे अभी नहीं चाहिए।' जब भंवरी को अपने नाम का चेक ही नहीं मिला-- एक समाजसेवी संस्था के तीन हजार पाउंड तक नहीं तो मेरा मौखिक मेहनताना तो उसे क्या मिलता! मेरी बकाया रकम भी इसी धांधली की भेंट चढ़ गई।

सन् 2002 का आई.आई.टी. भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान का 'डिस्टिंग्विश्ड एल्यूमनस अवॉर्ड' मुंबई के भूतपूर्व छात्र जगमोहन मूंदड़ा को मिला। यह उनके लिए एक उपलब्धि थी। वह बधाई के पात्र हैं कि अंततः वह अपनी सॉफ्टपोर्नो फिल्ममेकर वाली इमेज बदलने में कामयाब रहे। फिल्म मुंबई में पांच हफ्ते चली यानी आर्थिक दृष्टि से निर्माता निर्देशक नुकसान में नहीं रहे। मैं भी नुकसान में नहीं रही। मेरे खाते में भी एक फिल्म लेखन का नाम जुड़ा। नुकसान में रही तो सिर्फ भंवरी जिसकी कहानी के कंधों पर चढ़कर हमें ये उपलब्धियां हासिल हुईं।

(लेखिका प्रख्यात कथाकार एवं स्त्री विमर्शकार हैं)

भगवान बुद्ध पर निर्मित फिल्में और उनका स्वरुप

सुरजीत कुमार सिंह

प्राचीनकाल से ही संसार के अनेक देश के विद्वानों, सत्य की खोज करने वाले जिज्ञासुओं और कलाकारों व चित्रकारों को भगवान बुद्ध का ऐतिहासिक अलौकिक व्यक्तित्व और जीवनवृत्त सदैव आकर्षित करता रहा है। साथ ही तथागत गौतम बुद्ध के उपदेशों के रूप में दिया गया बौद्ध धम्म और उनसे जुड़े पुरातत्व महत्व के ऐतिहासिक स्थल, सारी दुनिया के लिए सदैव आकर्षण व भ्रमण का केंद्र रहे हैं। उन सब पर जैसा जिस किसी व्यक्ति की समझ में आया है, उसने अपने-अपने तरीके से योगदान दिया है। जैसे किसी ने उन पर गंभीर शोध किया है, किसी ने उन पर विद्वतापूर्ण किताबें लिखी हैं, किसी ने उन पर कहानी-कविताएं और उपन्यास लिखे हैं, किसी ने अजंता और एलोरा की महान गुफाओं से प्रेरणा लेकर चित्रकारी की है, किसी ने विश्व शांति के प्रतीक सांची के स्तूप से मूर्तिकला को समझने, समझाने व गढ़ने का प्रयास किया है और जब फिल्मों का चलन आरम्भ हुआ तो फिल्मकारों ने भगवान बुद्ध के अलौकिक व्यक्तित्व और जीवनवृत्त पर वृत्तचित्र बनाने, धारावाहिक बनाने, फिल्म बनाने का कार्य किया है। इसके साथ ही बुद्ध के प्रति फिल्मी जगत का आकर्षण इस कदर बढ़ा कि अब उन पर एनिमेशन तकनीक और कार्टून वाली फिल्में बनाई जाने लगी हैं।

पूरी दुनिया में और भारतीय सिनेमा के इतिहास में भगवान बुद्ध के ऊपर कई फिल्में बनीं हैं। जैसे 1923 में भारत में पहली फिल्म भारतीय सिनेमा के प्रणेता व शिखर पुरुष दादा साहब फाल्के ने 'बुद्धदेव' के नाम से बनाई थी। यह फिल्म तथागत गौतम बुद्ध के जीवन चरित्र के बारे में थी, जो एक मूक फिल्म थी और इसको हिंदी में 'बुद्धदेव' के नाम से और अंग्रेजी में 'लार्ड बुद्धा' के नाम से प्रदर्शित किया गया था। अन्ना सालुंके ने इसमें अभिनय किया था। इसके निर्माता और निर्देशक दादा साहब फाल्के ही थे।

दादा साहब फाल्के के गौतम बुद्ध पर फिल्म बनाने के दो वर्ष बाद सन 1925 में प्रसिद्ध निर्माता-निर्देशक व अभिनेता हिमांशु राय और जर्मन फिल्मकार 'फ्रांज ओस्तेन' ने मिलकर भगवान बुद्ध के जीवन पर 'दी लाइट ऑफ एशिया' नामक महत्वपूर्ण मूक फिल्म अंग्रेजी नाम से निर्देशित की। जिसमें स्क्रीनप्ले का काम निरंजन पाल ने किया था। यह फिल्म सन 1891 में थियोसोफिकल सोसाइटी द्वारा प्रकाशित महान ब्रिटिश कवि 'सर एडविन अर्नोल्ड' की बुद्ध के जीवन पर काव्य में लिखी विश्व प्रसिद्ध कृति 'दी लाइट ऑफ एशिया' के ऊपर आधारित थी। इस फिल्म में गौतम बुद्ध के जीवन की घटनाओं को कुछ जगह रोमांटिक तरीके से दिखाया गया था। कुल 97 मिनट की यह फिल्म 22 अक्टूबर,1925 को पहली बार जर्मनी में प्रदर्शित की गई थी और सारे यूरोप में इसे खूब प्रसिद्धि मिली, इसके बाद यह फिल्म भारत में 'प्रेम संन्यास' के नाम से मूक फिल्म के रूप में प्रदर्शित की गई थी। इस फिल्म के नाम 'प्रेम संन्यास' से अभिप्राय, यह एक ऐसे राजकुमार की कहानी से

है जो सांसारिक दुःखों को दूर करने के लिए संन्यास से प्रेम करने लगता है। इस फिल्म में हिमांशु राय ने राजकुमार सिद्धार्थ गौतम बुद्ध की मुख्य भूमिका निभाई थी और बाकी अन्य अभिनय करने वाले लोगों में सीता देवी, सुनालिनी देवी, मृणालिनी देवी, मधु बोस, सुशील घोष, प्रफुल्ल राय और एकोम्बी विल्हेम टोंगो आदि शामिल थे।

'दी लाइट ऑफ एशिया' नामक महत्वपूर्ण मूक फिल्म बनने के लगभग 27 वर्ष बाद तक भारत या दुनिया के किसी भी देश में गौतम बुद्ध के ऊपर फिल्म निर्माण नहीं हुआ था। काफी लंबे अंतराल के बाद जापान की फिल्म निर्माता कंपनी 'देएई एईगा' ने जापानी फिल्म निर्देशक 'तीनुसुकी किनुगासा' के साथ मिलकर भगवान बुद्ध के जीवन पर 'डेडीकेसन ऑफ दी बुद्धा' नामक फीचर फिल्म का निर्माण किया था, जो 20 मार्च, 1952 को प्रदर्शित की गई और यह फिल्म इतनी मेहनत से बनाई गई थी कि इसे सन 1953 के कान्स फिल्म समारोह के लिए नामांकित किया गया था।

भगवान बुद्ध की 2500 वीं जयंती के पावन अवसर पर भारत सरकार ने बुद्ध पर एक फिल्म बनाने का निर्णय लिया और वर्ष 1957 में महान भारतीय फिल्मकार बिमल राय द्वारा निर्मित 'गौतम दी बुद्धा' नामक वृतचित्र को भारत सरकार ने रिलीज किया। इस डॉक्यूमेंट्री फिल्म के लेखक व निर्देशक राजबंस खन्ना थे। यह फिल्म बहुत ही व्यापक तरीके और शोधपूर्ण ढंग से बनाई गई थी, जिसमें श्वेत-श्याम तस्वीरों के साथ प्राकृतिक वातावरण में फिल्मांकन किया गया था और पुरातात्विक महत्व के बौद्ध स्थल बड़े ही मनोयोग से फिल्माए गए थे, साथ ही प्राचीन अजंता की गुफाएं बहुत ही सजीवता के साथ प्रदर्शित की गई थी। इस पूरी फिल्म में बुद्धकालीन घटनाओं, स्थलों और चित्रों को दिखाने के साथ-साथ उसके इतिहास से संबंधित महत्वपूर्ण जानकारी को बताते हुए गर्वीले ढंग से स्वरबद्ध किया गया था। यह फिल्म सन 1957 के कान्स फिल्म समारोह में सम्मानित की गई थी।

'गौतम दी बुद्धा' के बनने के तीन वर्ष बाद प्रसिद्ध फिल्मकार विजय भट्ट के द्वारा सन 1960 में 'अंगुलिमाल' के नाम से बनी फिल्म भगवान् बुद्ध के जीवन वृत्त पर सीधे तो आधारित नहीं थी लेकिन उनके एक शिष्य अंगुलिमाल पर बनाई गई थी। जो गौतम बुद्ध का शिष्य बनने से पहले लूटपाट करता था और निर्दोष लोगों की हत्या करके उनकी अंगुली काटकर अपने गले में माला पहनता था। इस भयावह घटनाक्रम पर बनी इस फिल्म में जब गौतम बुद्ध जंगल से गुजर रहे होते हैं, तो उनका सामना उस कुख्यात डाकू अंगुलिमाल से होता है, जो बुद्ध के दया व करुणा भरे उपदेश सुनकर उनके पैरों में गिरकर माफी मांगने लगता है और बाद में उनका शिष्य बन जाता है। इस फिल्म के निर्देशक विजय भट्ट थे और संवाद भवानी प्रसाद मिश्रा ने लिखा। डाकू अंगुलिमाल का अभिनय भारत भूषण ने किया था, अन्य लोगों में निम्मी, अनीता गुहा, अचला सचदेवा, विनोद मेहरा, विमला कुमारी और हेलन आदि ने अभिनय किया था। जब सन 1962 में इस फिल्म को सिंहली भाषा में डब करके श्रीलंका में रिलीज किया गया था, तो यह फिल्म वहां सुपरहिट रही थी। दो घंटे चार मिनट की इस फिल्म का एक गाना आज भी सदाबहार है- 'जब दुनिया से प्यार उठे, नफरत की दीवार उठे, मां की ममता पर जिस दिन बेटे की तलवार उठे, धरती की काया कांपने, अंबर जगमग उठे डोल, तब मानव तू मुख से बोल, बुद्धं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि'।

जापान में सन 1961 में जापानी फिल्म निर्माता 'केंजी मिसुमी' ने भगवान बुद्ध के जीवनवृत्त पर 'सका' नामक फिल्म बनाई, जो सन 1963 में अमेरिका में 'बुद्धा' नाम के साथ प्रदर्शित की गई। दक्षिणी कोरिया में सन 1964 में निर्माता-निर्देशक 'इल्हो जोंग' ने 'सोकगामोनि' के नाम से भगवान् बुद्ध के ऊपर फिल्म बनाई। यह फिल्म महायान बौद्ध संप्रदाय के ग्रंथों के आधार पर

ऐतिहासिक रूप से बनाई गई थी। इस फिल्म का नाम 'सोकगामोनि' शब्द से अभिप्राय शाक्यमुनि बुद्ध से है।

भारत में सन 1966 में फिल्म निर्माता एफ.सी.मेहरा ने 'आम्रपाली' के नाम से फिल्म बनाई। यह फिल्म गौतम बुद्ध के जीवन पर सीधे आधारित तो नहीं थी, पर उनकी एक शिष्या वैशाली की नगरवधू देवी आम्रपाली के जीवन पर फिल्माई गई थी। इस फिल्म के निर्देशक 'लेख टंडन' थे और इसमें मुख्य भूमिकाएं प्रसिद्ध अभिनेत्री वैजयंतीमाला, जाने-माने अभिनेता सुनील दत्त, प्रेमनाथ और रणवीर आदि लोग थे। यह फिल्म सुपरहिट रही थी। दो घंटे की इस फिल्म की कहानी ओमकार साहिब ने लिखी थी और संवाद अर्जुनदेव व बलवीर सिंह ने लिखे थे। जाने माने संगीतकार शंकर-जयकिशन ने संगीत दिया था और स्वर सम्राज्ञी लता मंगेशकर ने हृदयस्पर्शी सदाबहार गाने गाए थे।

महान भारतीय फिल्मकार बिमल राय द्वारा वर्ष 1957 में निर्मित 'गौतम दी बुद्धा' नामक वृतचित्र बनाने के बाद दो और फिल्में -'अंगुलिमाल' और 'आम्रपाली' के नाम से बनीं थीं, लेकिन इन दोनों फिल्मों का संबंध तथागत गौतम बुद्ध के जीवन चरित्र से सीधा नहीं था। इसलिए सन 1966 में 'आम्रपाली' फिल्म के सुपरहिट होने के बाद भारत सरकार ने अगले वर्ष 1967 में बिमल राय द्वारा निर्मित 'गौतम दी बुद्धा' नामक वृत्तचित्र को दोबारा पुनः रिलीज कर दिया। इस डॉक्यूमेंट्री फिल्म के लेखक व निर्देशक राजबंस खन्ना थे। काफी लंबे अंतराल के बाद सन 1989 में 'बुद्धा' के नाम से एक छोटी डॉक्यूमेंट्री फिल्म बनाई गई थी, पर यह फिल्म किसी का भी ध्यान अपनी ओर नहीं खींच सकी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत व दुनिया के अन्य देशों में सन साठ व सत्तर के दशक में ही अधिकतर फिल्में व डॉक्यूमेंट्री फिल्म भगवान बुद्ध के जीवन वृत्त पर बनाई गई थी। फिर वर्ष 1993 में प्रसिद्ध इटालियन फिल्म निर्माता-निर्देशक 'बेर्नादो बेर्तोलुच्ची' ने 'लिटिल बुद्धा' के नाम से भगवान बुद्ध के जीवनवृत्त पर एक छोटी फिल्म बनाई थी। यह फिल्म इटली, फ्रांस, ब्रिटेन और अन्य देशों में बहुत ही आकर्षण के साथ देखी गई।

भारतीय फिल्म निर्माता जी.ए.शेषागिरी राव ने सन 1997 में गौतम बुद्ध के जीवन चरित्र को व्यापक रूप से दिखाने के लिए 'बुद्ध' के नाम से एक लंबी धारावाहिक फिल्म बनाई, जो सिनेमा घरों में प्रदर्शित तो नहीं हुई लेकिन वह पाँच भागों में डी.वी.डी. कैसेट के रूप में खूब देखी गई। जिसमें प्रत्येक डी.वी.डी. 180 मिनट की थी और इस धारावाहिक फिल्म के निर्देशक पी.सी.रेड्डी थे. इसके चार साल बाद वर्ष 2001 में फ्रांसीसी फिल्म निर्माता 'मार्टिन मेइस्सोन्निर' ने बुद्ध के ऊपर 'ला विया दी बोउद्धा' नामक फिल्म बनाई, जो भारत में 'लाइफ ऑफ बुद्धा' के नाम से प्रदर्शित हुई। वर्ष 2004 में 'दी लीजेंड ऑफ बुद्धा' के नाम से टू डी एनीमेशन फिल्म बनाई गई। वर्ष 2007 में थाईलैंड के फिल्मकार 'वाल्लापा फिम्तोंग' ने 'फरहा फुत्ताजाओ' के नाम से भगवान बुद्ध के जीवन पर एक टू डी एनीमेशन फिल्म बनाई। वर्ष 2008 में भारत में तेलगू फिल्म निर्माता के.राजशेखर ने बुद्ध के जीवन वृत्त को दिखाने के लिए डी.वी.डी. कैसेट के आकार में 'तथागत बुद्ध' नाम से तेलगू में फिल्म बनाई। वर्ष 2011 में वियतनामी बौद्ध भिक्षु 'तिक न्यात हन' की विश्व प्रसिद्ध पुस्तक 'ओल्ड पाथ व्हाइट क्लाउड्स' को आधार बनाकर फ्रांस के फिल्मकारों ने 'बुद्धा' के नाम से फिल्म का निर्माण किया। वर्ष 2011 में ही जापान के फिल्मकार 'ओसामु तेजुका' ने 'बुद्धा' नाम से एक एनीमेशन फिल्म सिरीज को तैयार किया।

यदि हम हाल-फिलहाल में गौतम बुद्ध पर बनी फिल्मों का अध्ययन करें तो पाते हैं कि इस वर्ष 2013 में कई देशों में भगवान बुद्ध के ऊपर फिल्में बनीं हैं जैसे नेपाल देश में 'बुद्धा' के नाम से एनीमेशन फिल्म 'तुलसी घिमिरे' ने बनाई है। श्रीलंका में भी गौतम बुद्ध के ऊपर 'सिद्धार्थ दी बुद्धा' के नाम से एनीमेशन फिल्म को निर्माता 'समन वीरामन' ने बनाया है। भारत में हाल ही में 08 सितंबर, 2013 से जी.टी.वी. पर जाने-माने उद्योगपति भूपेंद्र कुमार मोदी द्वारा निर्मित 'बुद्ध' नाम से एक धारावाहिक का प्रसारण शुरू किया गया है। इसके निर्देशक धर्मेश हैं और प्रसिद्ध अभिनेता कबीर बेदी, अमित बहल और अभिनेत्री निगार खान आदि अन्य लोग इसमें अभिनय कर रहे हैं। इसके अलावा वर्ष 2014 में भारत के फिल्म निर्माता, निर्देशक, फिल्म लेखक और डॉक्यूमेंट्री बनाने वाले 'पान नलिन' उर्फ नलिन कुमार पांडेय ने भगवान बुद्ध के जीवन चरित्र पर एक विशाल फिल्म 'बुद्धारूदी इन्नर वारियर' के नाम से बनाने की घोषणा की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान् बुद्ध का धीर-गंभीर व शांत व्यक्तित्व हमेशा से दुनिया भर के कलाकारों व फिल्मकारों को आकर्षित करता रहा है। वे अपने-अपने ढंग से तथागत गौतम बुद्ध के जीवनवृत्त को फिल्माने का काम करते रहे हैं। गौतम बुद्ध के प्रति आकर्षण इस हद तक बढ़ा है कि छोटे-छोटे बच्चों के लिए बुद्ध पर पूरी दुनिया में एनीमेशन निर्माण करने वालों ने उन पर एनीमेशन फिल्में, कार्टून फिल्में तक बना डाली हैं क्योंकि भगवान बुद्ध सम्यक संबुद्ध हैं, वह विद्या और आचरण से युक्त हैं, लोगों को अच्छी गति देने वाले सुगत हैं, वह इस लोक का व्यवहार जानने वाले हैं और अज्ञानी लोगों को सन्मार्ग पर लाने वाले हैं। यही कारण है कि बुद्ध का अलौकिक व्यक्तित्व पूरी दुनिया के लिए जिज्ञासा व आकर्षण का सदैव केंद्र बना हुआ है।

सन्दर्भः

1. *Cinema studies: the key concepts*, Susan Hayward. London (New York: Rutledge. 2006.
2. *Filming the gods: religion and Indian cinema*, Rachel Dwyer. London (New York: Rutledge, 2006.
3. *Film history and national cinema*, edited by John Hill & Kevin Rockett, Portland: Four Courts Press, 2005.
4. *Aloysius Pieris, Love Meets Wisdom:A Christian EÛperience of Buddhism*, NY: Orbis Books 1990.
5. *Filming the Gods: Religion and Indian Cinema*, Rachel Dwyer, London: Rutledge, 2006.
6. http://en.wikipedia.org/wiki/Depictions of Gautama.Buddha.in.film 7.
   http://en.wikipedia.org//wiki/Dadasaheb-Phalke.
8. http://en.wikipedia.org/wiki/Amrapali&(film).
9. http://en.wikipedia.org/wiki/Buddha&/TV&series).
10. http://en.wikipedia.org/wiki/Pan&Nalin.

(लेखक म.गां.अं.हि.वि., वर्धा के बौद्ध अध्ययन केंद्र में सहायक प्रोफेसर हैं)

सिनेमा में प्रतिरोध का स्वरूप

किशोर वासवानी

लगभग हिंदी के हर कथा-सिनेमा (FEATURISTIC & CINEMA) की कथावस्तु (PLOT) में, अन्य रसों के साथ-साथ, किसी न किसी रूप में, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और, नायकत्व के वीरोचित भाव को लेकर, अद्‌भुत रसों का समावेश रहता है। इस तरह के कथानकों में विषय-वस्तु के अनुसार उनमें, प्रतिरोध (विरोध/निषेध) बनाम प्रतिशोध (प्रतिकार/बदला-लेने) का भाव रहता है। जहां, प्रतिरोध का सिनेमा मुद्दों को लेकर, मूल्यों पर आधारित विरोध/निषेध जैसी प्रतिक्रिया की बात करता है वहीं, प्रतिशोध का सिनेमा ईर्ष्या, हिंसा, अपनी अन्यायी-शक्ति, अपने आतंकी-एकाधिकार के बल पर, दूसरे को गुलाम बनाने या अपने अंगूठे के नीचे रखने के भावों से परिपूर्ण रहता है। जाहिर है इस प्रकार का सिनेमा शुद्ध व्यावसायिक सिनेमा है, जो अधिकतर अव्यावहारिक और कहीं-कहीं भयानक, वीभत्स और विकृत कल्पनाओं से भरा रहता है।

कई वृत्तचित्र (Documentaries) भी घटनाओं के अनुसार, प्रतिरोध अथवा प्रतिशोध को दर्शाते हैं। ये वृत्तचित्र, शुद्ध व्यावसायिक सिनेमा के विपरीत अधिकतर व्यावहारिक रूप में अपनी बात रखते हैं, बशर्ते कि इन्हें किसी श्रव्य-दृश्य चैनल 'टीआरपी' (TELEVISION RATING POINTS) न बढ़ानी हो। इस तरह के वृत्तचित्र भले ही विकृत कल्पनाओं से भरे हुए न हों, परंतु, अगर इनके निर्माता/निर्देशक किसी खास विचारधारा से प्रभावित हों तो उसका असर वृत्तचित्र की प्रस्तुति पर साफ झलकता दिखाई देता है। इस तरह की प्रस्तुतियां शुद्ध व्यावसायिक न होते हुए भी वैचारिक रूप से तटस्थ नहीं रहतीं। हम यहां सिनेमा की बात करेंगे।

प्रतिरोध का सिनेमा हम यहां, प्रतिशोध के सिनेमा (Cinema of Revenge) की अधिक बात न कर, प्रतिरोध के सिनेमा (Cinema of Resistance) की बात करेंगे जहां, प्रतिशोध का सिनेमा किसी विशेष व्यक्ति, परिवार, या वर्ग पर केंद्रित रहता है, वहीं प्रतिरोध के सिनेमा के स्वर व्यक्ति के स्रोत से निकलकर समाज, देश या अंतरराष्ट्रीय फलक तक पहुंच जाते हैं। भूमंडल की प्रत्येक व्यवस्था के केंद्र में व्यक्ति है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अपने (मानव) परिवार, समाज, देश अथवा अंतरराष्ट्रीय फलक पर, वह अपने व्यवहार से, जहां एक और स्वयं को प्रभावित करता है वहीं वह, मानवेतर (जीव-जंतु, प्रकृति) व्यवस्था को भी अपनी चपेट में लेता है। अतः किसी मुद्दे को लेकर मानवीय-प्रतिरोध को समझना कई सामासिक संदर्भों (composite references) की मांग करता है। परिणाम-स्वरूप, मनोवैज्ञानिक आधार पर मानवीय-प्रतिरोधी व्यवहार एवं उसके स्वरूप को समझना एक जटिल/पेचीदा कार्य है। अतः कई फिल्में प्रतिशोध के सिनेमा की तरह दिखाई देती हैं पर उन प्रतिशोधी चरित्रों के व्यवहार में भी, कई मनोवैज्ञानिक कारणों के फलस्वरूप, मूलरूप से, प्रतिरोधी भाव छिपा रहता है। तीस

के दशक से ही, प्रतिरोधी भाव को भी साथ में लेकर चलने वाला सिनेमा, मसलन; 'अछूत कन्या' (1936, निर्देशक फ्रैंज ऑस्टन), 'दुनिया न माने' (1937, निर्माण-निर्देशक वी. शांताराम), 'अछूत' (1940, निर्देशक सरदार चंदूलाल शाह) आना शुरू हो गया था।

प्रतिरोधी सिनेमा का स्वरूप व्यक्ति से समष्टि की अस्मिता की लड़ाई महबूब खान की फिल्म 'औरत' (1940) के कथानक पर पुनः उन्हीं के द्वारा निर्मित, महाकाव्यात्मक (Epical) फिल्म 'मदर इंडिया' (1957) का प्रतिरोधी मिजाज, सही मायने में हिंदी सिनेमा में प्रतिरोधी आवाज की राह खोल देता है। अन्याय के प्रति विरोध, अपने मानवीय आत्मसम्मान की पूरी ताकत, जुझारूपन, कानून एवं समाज की मर्यादाओं की रक्षा करते हुए प्रतिरोधी तेवर बनाए रखना, इस फिल्म की विशेषता थी।

यह फिल्म, व्यक्ति से समष्टि की अस्मिता की लड़ाई लड़ती है। संभवतः यही कारण था कि यह पहली भारतीय फिल्म थी जो ऑस्कर (1957 के लिए) पुरस्कारों के लिए नामांकन की श्रेणी तक पहुंच पाई। आगे चलकर यह फिल्म, स्त्री-अस्मिता/पहचान की लड़ाई की सशक्त मिसाल बनी, जिसने कई निर्देशकों को प्रेरित किया। फिल्म का कथानक, प्रमुख चरित्र राधा (नरगिस) को केंद्र में रखकर, आरंभ से अंत तक उसी के चारों ओर घूमता है। समाज के धूर्त-अन्यायी लोगों का विरोध करते हुए वह, पूरे गांव के दमित लोगों के संघर्ष का प्रतीक बनकर, नैतिक मूल्यों की रक्षा करते हुए प्रतिरोध का एक आदर्श प्रतीक बन जाती है। नैतिक मूल्यों की रक्षा की लड़ाई में वह अपने लाड़ले बेटे बिरजू (सुनील दत्त) जिसे, सामंती अत्याचार/अन्याय के खिलाफ अपने हाथ में कानून लेकर बंदूक थामकर डाकू बनने पर मजबूर कर दिया, को भी नहीं बख्शती और उसे उस समय गोली मार देती है, जब वह, दुल्हन बनी लाला की बेटी को, लूट के माल के साथ उठाकर भागना चाहता है। बिरजू उस मां को नहीं समझ पाया जो अब मदर इंडिया बन चुकी है, जहां पूरा गांव उसकी अपनी संतान के समान है। मां, बिरजू पर बंदूक ताने हुए है, बिरजू कहता भी है- 'मैं तेरा बेटा हूं, तू मुझे नहीं मार सकती ; पर मां के स्थान पर 'मदर इंडिया' जवाब देती है, वह बेटा दे सकती है, लाज नहीं।'

गांधीजी, जो सिनेमा को एक सामाजिक बुराई समझते थे, उन्होंने भी जब 'अछूत' फिल्म देखी तो उसकी सराहना की। गांधीजी की प्रतिरोधी लड़ाई भी स्वयं के व्यक्ति से आरंभ होती हुई, समष्टि का रूप ले लेती है। हम जानते हैं, उन्होंने गुलामी और अन्याय के खिलाफ प्रतिरोध के रूप में यह लड़ाई अहिंसा के हथियार से लड़ी। गांधीजी के इस जुझारू व्यक्तित्व को पूरी दुनिया ने माना। हम उनके इस चमत्कारिक व्यक्तित्व को लेकर कोई शोधात्मक/प्रभावशाली फिल्म नहीं बना सके, जबकि सर रिचर्ड एटनबरो ने यह कमाल कर दिखाया और उनकी फिल्म 'गांधी'(1982) न केवल वैश्विक स्तर सराही गई पर, आठ ऑस्कर लेकर हमारी सिनेमेटिक समझ/संप्रेषणीय-तकनीक पर कई सवाल उठा गई। इस फिल्म की सबसे बड़ी ताकत थी, समष्टि स्तर पर न्याय दिलवाने के लिए, अन्याय के खिलाफ गांधीजी द्वारा बहुत बड़े जनांदोलन को खड़ा करने में, गांधीजी के प्रतिरोधात्मक-जुझारू व्यक्तित्व को समझना। कहने की आवश्यकता नहीं, कि 'गांधी' में, बैरिस्टर एम.के. गांधी को 'महात्मा गांधी' के व्यक्तित्व में रूपांतरित (Transformed) करने वाले जो सूक्ष्म कारकीय-अवयव (Acting & Ingredients) थे उनका, मनोवैज्ञानिक स्तर पर, बहुत गहराई से निरूपण किया गया है। मजेदार बात यह है कि फिल्म की पटकथा- स्क्रीन-प्ले में, यह आधारभूत मुद्दा गांधीजी की आत्मकथा 'सत्य के

प्रयोग' (नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद, 1957)' से बहुत ही रचनात्मक तरीके से प्रभावित हुआ है-

इसे समझना बहुत जरूरी है : महात्मा गांधी जब 'महात्मा' नहीं, बैरिस्टर एम.के. गांधी थे, 1893 में एक केस के सिलसिले में बैरिस्टर के रूप में, अंग्रेजी पोशाक (कोट, पेंट, टाई) में, दक्षिण अफ्रीका की व्यावसायिक यात्रा पर; फर्स्ट-क्लास के टिकट पर, रेल से प्रथम-श्रेणी के डिब्बे में विधिवत यात्रा कर रहे थे। खूब सर्दी की रात थी, मेरित्सबर्ग नामक छोटे से स्टेशन पर, रेल अधिकारियों के साथ एक यात्री आया, जो गांधीजी से भिन्न वर्ण का (गोरा) था। उसे भी इसी केबिन में यात्रा करनी थी। उन्होंने, गांधीजी को, सिर्फ उस यात्री से भिन्न वर्ण का होने के कारण, उस प्रथम-श्रेणी के डिब्बे से निकलकर आखिरी डिब्बे में जाने का आदेश दिया।

'रेल अफसर 'इधर आओ, तुम्हें आखिरी डिब्बे में जाना है।'

गांधीजी ने कहा- 'मेरे पास पहले दर्जे का टिकट है।'

उसने (अफसर ने) जवाब दिया- 'इसकी कोई बात नहीं है। मैं तुमसे कहता हूं कि तुम्हें आखिरी डिब्बे में जाना है।'

गांधी- 'मैं कहता हूं कि मुझे इस डिब्बे में डरबन से बैठाया गया है और मैं इसी में जाने का इरादा रखता हूं।'

अफसर ने कहा- 'यह नहीं हो सकता। तुम्हें उतरना पड़ेगा, और न उतरे तो सिपाही उतारेगा।'

गांधीजी ने कहा- 'तो फिर सिपाही भले उतारे, मैं खुद तो नहीं उतरूंगा।'

सिपाही आया। उसने मेरा हाथ पकड़ा और मुझे धक्का देकर नीचे उतारा। मेरा सामान उतार लिया। मैंने दूसरे डिब्बे में जाने से इनकार कर दिया। ट्रेन चल दी। मैं वेटिंग रूम में बैठ गया अपना 'हैंड-बैग' साथ में रखा बाकी सामान को हाथ न लगाया। रेलवे वालों ने उसे कहीं रख दिया। सर्दी का मौसम था। दक्षिण अफ्रीका की सर्दी ऊंचाई वाले प्रदेशों में बहुत तेज होती है। मेरित्सबर्ग इसी प्रदेश में था। इससे ठंड खूब लगी। मेरा ओवर-कोट मेरे सामान में था पर मांगने की हिम्मत न हुई। फिर अपमान हो तो? ठंड में मैं कांपता रहा। कमरे में दीया न था। आधी रात के करीब एक यात्री आया। जान पड़ा कि वह कुछ बात करना चाहता है, पर मैं बात करने की मनःस्थिति में नहीं था।

मैंने अपने धर्म का विचार किया : 'या तो मुझे अपने अधिकार के लिए लड़ना चाहिए या लौट जाना चाहिए, नहीं तो जो अपमान हो उन्हें सहकर प्रिटोरिया पहुंचना चाहिए और मुकदमा खतम करके देश लौट जाना चाहिए। मुकदमा अधूरा छोड़कर भागना नामर्दी होगी। मुझे जो कष्ट सहना पड़ा है, सो तो ऊपरी कष्ट है। वह गहराई तक पैठे हुए महारोग का लक्षण है। यह महारोग है 'रंग-द्वेष'। यदि मुझमें इस गहरे रोग को मिटाने की शक्ति हो, तो उस शक्ति का उपयोग मुझे करना ...चाहिए। ऐसा करते हुए स्वयं जो कष्ट सहने पड़े सो सब सहने चाहिए और उनका विरोध रंग-द्वेष को मिटाने की दृष्टि से ही करना चाहिए।'

यह निश्चय करके मैंने दूसरी ट्रेन में, जैसे भी हो, आगे ही जाने का फैसला किया।' कारक/विभक्ति चिह्नों का प्रयोग वैसे ही दिया गया है जैसा कि पुस्तक में है) हम जानते हैं इस घटना ने गांधीजी के मानस पर गहरा असर डाला। इस उद्धरण में जो पंक्तियां रेखांकित की गई हैं अथवा गहराई से दर्शाई गई हैं, वे गांधीजी के उस चिंतन को ध्वनित करती हैं, जिसने

उनके मानस को आमूलचूल रूप से रूपांतरित (Transformation of the Psyche in Toto) कर दिया। इस चिंतन प्रक्रिया में, उनके सामने तीन चीजें उभरकर आईं : 1. इस पूरे प्रकरण में क्या मेरी कोई गलती है? 2. अगर मुझसे गलती हुई है तो मैं उसे मान लूं और परिणाम भुगतने को तैयार रहूं और 3. अगर, मुझसे कोई गलती नहीं हुई है, और सत्य मेरे पक्ष में है तो मुझे, अपने पर अकारण होने वाले अन्याय का पूरी ताकत के साथ अहिंसात्मक तरीके से प्रतिरोध करना चाहिए। इस चिंतन ने उनमें ताउम्र, अन्याय के प्रति अहिंसात्मक तरीके से प्रतिरोध करने का रचनात्मक एवं संतुलित-जज्बा मजबूत किया। जाहिर है यह प्रतिरोध किसी खास राजनीतिक या ऐसी ही एक पक्षीय-वादीय (Partial & Ismatic) विचारधारा से प्रतिबद्ध नहीं थी। गांधीजी की पूरी आत्मकथा इन तथ्यों से भरी हुई है।

सर रिचर्ड एटनबरो ने गांधीजी के इस करिश्माई प्रतिरोधात्मक-जुझारू व्यक्तित्व को समझा और अपनी अमर महाकाव्यात्मक कृति 'गांधी' में खूबसूरती और प्रभावशाली ढंग से उकेरा। बाद में इसी घटना को श्याम बेनेगल ने अपने धारावाहिक 'भारत एक खोज' (1986) में भी प्रस्तुत किया।

भारत की स्वतंत्रता की लड़ाई हेतु, अंग्रेजों के शासन का पुरजोर प्रतिरोध दर्शाने वाली और भी फिल्में बनीं, जिनका नायक भगत सिंह रहा। भगत सिंह के किरदार में मनोज कुमार को लेकर, निर्देशक एस.राम शर्मा ने 'शहीद' (1965) फिल्म बनाई। भगत सिंह में अंग्रेजों के खिलाफ जो एक आग थी, उसका निरूपण काफी असरदार तरीके से इस फिल्म में आया है। 1962 के चीन युद्ध के बाद, 1965 के पाक युद्ध को लेकर, देश के लिए जो मर मिटने का जुनून था, उसे इस फिल्म से और भी बल मिला। वैसे तो 1965 से पहले ही शहीद भगत सिंह के किरदार ने हमारी फिल्म इंडस्ट्री को प्रभावित किया, परंतु 21वीं सदी में भी इस, सदा प्रतिरोधात्मक किरदार ने, नए/समसामयिक राजनीतिक संदर्भों/हमारी भ्रष्टाचारी व्यवस्था को लेकर, बेजोड़ सिनेमाई मुहावरे और प्रतीकात्मक शैली में फिल्म बनाने के लिए प्रेरित किया। 2006 में बनी फिल्म 'रंग दे बसंती' (निर्देशक राकेश मेहरा) इस दिशा में एक बहुत ही सशक्त फिल्म है। भारत के संदर्भों में, 21वीं सदी युवाओं की सदी है। उनमें बहुत कुछ करने का हौसला है। परंतु, हमारे देश, समाज की भ्रष्टाचारी, संकुचित और पिछड़ी-व्यवस्था उनके इस जज्बे को नहीं समझ पा रही है, उन्हें अपनी शक्ति का रचनात्मक उपयोग/प्रयोग करने की दिशा में अवसर नहीं दे पा रही है। परिणामस्वरूप, उनकी शक्ति का विस्फोट, स्वयं उनको ही भस्म कर रहा है। यह बात नहीं है कि वे इस भस्मासुरी मायावी प्रपंच से वाकिफ नहीं हैं, परंतु वे लाचार होकर पड़े रहने और स्वयं को गलत कामों द्वारा बरबाद करने के शाप से अभिशप्त हैं। चूंकि वे इस कुचक्र को भी भली भांति समझते हैं, अतः उन्हें जब भी अपने आक्रोश को व्यक्त करने का मौका मिलता है, बेजान हथेली पर लेकर भगत सिंह के अंदाज में सिर पर कफन-पग्गड़ बांधे, अन्याय का प्रतिरोध करने के लिए निकल पड़ते हैं। 'रंग दे बसंती' ने युवाओं की इस सोच को बहुत ही समझदारी से अभिव्यक्त किया है। न केवल ये युवा, भ्रष्टाचारी नेता का खात्मा भगत सिंह की शैली में करते हैं, परंतु उनमें से एक तो अपनी मान्यताओं की खातिर, भ्रष्टाचारियों का साथ देने वाले अपने बाप को भी नहीं बख्शता, और उसे गोली मार देता है। लड़ते-लड़ते ये युवा, पूरे समाज को, अन्याय के प्रति अपना प्रतिरोध जताने की मानसिकता से भरकर, हँसते-हँसते शहीद हो जाते हैं।

वैसे तो व्यक्ति के जरिए वर्ग में प्रतिरोधी चेतना जगाने की दिशा में, हिंदी के नए/समानांतर सिनेमा की चिंतनधारा का आगाज (1969 'भुवन शोम') करने वाले सिने-शिल्पी मृणाल सेन ने, 1976 में 'मृगया' जैसी कलात्मक फिल्म बनाकर, प्रतिरोधी चेतना के सिनेमा की नींव रखी थी, परंतु नए/समानांतर सिनेमा की वैचारिक बहसों में इसकी धार सीधे, बहुत बड़े वर्ग/समुदाय/समाज या देश के संदर्भों में, उस तरह की बृहत-सोच को दिशा न दे पाई, जो दिशा सर रिचर्ड एटनबरो ने सिनेमाई अंदाज में दी। हां, श्याम बेनेगल की फिल्म 'निशांत' (1975) को छोड़कर, अधिकतर नया सिनेमा गहराई के साथ व्यक्ति-चरित्रों पर केंद्रित रह कर सशक्त ढंग से प्रतिरोधी चेतना की बात कहता रहा, जहां, वर्ग/समुदाय/समाज या देश पर केंद्रित प्रतिरोधी चेतना प्रच्छन्न रूप से दिखाई पड़ती है। जिस पर आगे चलकर विचार होगा।

ढीले पड़ चुके, समानांतर सिनेमा के तेवरों को आंदोलित कर देने वाली वर्ग चेतना के साथ, प्रकाश झा ने 1984 में 'दामुल' देकर, एक नए मुहावरे के साथ, उद्वेलित कर देने वाला वैचारिक सिनेमा रखा। शैवाल की कहानी पर आधारित इस फिल्म में बिहार के गांव जहानाबाद की पृष्ठभूमि है, जिसमें नक्सली आंदोलन को लेकर, सामंतियों/बाहुबलियों के प्रतिरोध में, बंधुआ मजदूर का विद्रोह है। परंतु 2003 में आई प्रकाश झा की फिल्म 'गंगाजल' के अंत में बिहार का पूरा गांव अन्याय के प्रतिरोध में उठ खड़ा होता है। व्यावसायिक फिल्मों की तरह अंत में तमंचों/बंदूकों की गोलियों की ठांय-ठांय न होकर विद्रोही जन सैलाब उमड़ पड़ता है। इसी तरह के प्रतिरोधी स्वर राजकुमार संतोषी की फिल्म 'हल्ला बोल' (2008) में देखने को मिलते हैं। इस फिल्म की विशेषता यह है कि, यह फिल्म जन प्रतिरोधी स्वरों को मजबूती के साथ रखने की दिशा में, अपनी पूर्व विधा 'थिएटर' की ताकत (विशेषकर नुक्कड़-नाटक) और उसकी भूमिका को पूरी शिद्दत और प्रतिबद्धता के साथ रेखांकित करती है। यह कड़वा सत्य है कि आज, सिनेमा का ग्लैमर, थिएटर की मेधा को, अपनी चकाचौंध से पागलपन की हद्द तक अपनी ओर आकर्षित कर रहा है परंतु, फिर भी साधारण जन मानस 'थिएटर' (विशेषकर नुक्कड़-नाटक) से भी प्रभावशाली ढंग से संप्रेषित हो सकता है। 'थिएटर' आज भी सिनेमा के सच्चे कलाकारों की रचनात्मक भूख को शांत करता है। यही कारण है आज भी पृथ्वी थिएटर की या नुक्कड़ नाटक करने वाले मंचों की अपनी अहम भूमिका है। इस प्रकार, व्यक्ति से समष्टि की अस्मिता की लड़ाई को दर्शाने वाली और भी कई फिल्में हमारे सामने हैं।

व्यक्ति या वर्ग अथवा बहुत बड़े समूह द्वारा व्यक्त किया गया प्रतिरोध स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, परंतु व्यक्ति द्वारा अपने स्तर पर अपनी अस्मिता/पहचान को बचाए/बनाए रखने का प्रतिरोध सिनेमा में, कई बार बहुत ही सूक्ष्म रूप में ध्वनित होता है, जहां, दुनिया न माने जैसी फिल्मों में प्रतिरोध मुखरित है, वहीं, बिमल राय की 'देवदास' (1955), और 'सुजाता' (1969) में यह मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक स्तरों पर हमारे सामने आता है। 'देवदास' की चाहे, पार्वती हो या चंद्रमुखी दोनों ने ही अपनी अस्मिता को लेकर, पुरुष मानसिकता पर कटाक्ष करते हुए अपने-अपने प्रतिरोधी स्वरों को, बहुत ही प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया है। 'देवदास' के एक दृश्य-प्रसंग में पार्वती आधी रात को देवदास के कमरे में आ जाती है, और दोनों के विवाह को लेकर, देवदास के परिवार के विरोध के बावजूद, निर्भय होकर उसे खुद को अपनाने के लिए कहती है। देवदास भी पार्वती से प्रेम करता है, परंतु अपने परिवार के विरोध के कारण, वह उनका प्रतिरोध करने की हिम्मत नहीं जुटा पाता बल्कि उल्टे वह पार्वती के इस

व्यवहार से परेशान होकर, खुद भी डरता है और एक तरह से उसे भी डराते हुए कहता है :

देवदास : - 'तुमने ऐसा क्यों किया पार्वती? कल को शर्म से तुम्हारा सर नीचा नहीं होगा?. .... 'मैं भी कैसे मुंह दिखाऊंगा?'

पार्वती : (व्यंग्य के साथ, प्रतिरोध व्यक्त करते हुए)- 'तुम, तुम्हारा क्या है? तुम ठहरे मर्द आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों तुम्हारे कलंक की बात लोग भूल जाएंगे।'

देवदास के ठुकराने के बाद पार्वती अपने तथा अपने-परिवार के स्वाभिमान को लेकर, बाद में देवदास द्वारा पछतावा व्यक्त करने पर भी वह, भले ही उसके प्रति स्नेह भाव रखती हो, पर प्रतिरोध-स्वरूप उसकी जीवन संगिनी नहीं बनती। बाद में देवदास के जीवन में चंद्रमुखी आती है जो उसका आदर भी करती है और उससे प्रेम भी करती है। वह भी एक अवसर पर, देवदास को पूरी पुरुष जाति का प्रतिनिधि-रूप मानते हुए, हिकारत भरे अंदाज में लगभग इस तरह कहती है : 'रूप का मोह जितना पुरुषों में होता है, उतना हम स्त्रियों में नहीं। 'प्रेम करना अलग है, रूप का मोह कुछ और।'..... 'किसी आड़े वक्त में जब हमारी कोई छटपटाहट बाहर निकलती है तो तुम उसे कलंकिनी, कुलक्षिणी....(कहते हो)।' देवदास लज्जित महसूस करता है।

'सुजाता' फिल्म का प्रतिरोध छुआछूत की सामाजिक बुराई को लेकर, जीव विज्ञान के वैज्ञानिक सिद्धांतों के आधार पर व्यक्त हुआ है जिसके अनुसार, मानव शरीर, वैज्ञानिक रूप से भले ही रक्त-वर्गों में बंटा हुआ हो, परजाति, वर्ण आदि के आधार पर मानव शरीर का कोई वर्ग भेद नहीं होता। सुजाता अछूत है, वह सवर्ण परिवार में आश्रय पाकर पल रही है। परिवार की मुखिया छुआछूत को मानती है। पर जब एक घटना में वह गंभीर रूप से बीमार हो जाती है और उसे रक्त की जरूरत पड़ती है तव उसके अपने स्वर्ण-परिवार जनों का रक्त उसके रक्त-वर्ग से मेल नहीं खाता; अगर उसके रक्त-वर्ग से किसी का रक्त मेल खाता है, तो वह है- अछूत सुजाता का रक्त। उसी का रक्त परिवार की मुखिया की जान बचाता है। पूरी फिल्म के सिनेमेटिक तेवर, इस संदेश को पूरी मुखरता के साथ स्थापित करते हैं।

बिमल राय की फिल्म 'बंदिनी' (1963) का प्रतिरोधी स्वर काफी पेचीदा है, जो मनोवैज्ञानिक स्तर पर, बहुत ही सूक्ष्म और बहुत ही कलात्मक तरीके से ध्वनित होता है। फिल्म की सुसंस्कृत नायिका, उस पर थोपी गई विपरीत/ संकटमय, असहनीय परिस्थितियों के कारण और अकारण अपने ('स्व') पर, अपमानित करने वाले दंश की मार से तिलमिलाकर, अपना मानसिक संतुलन खो बैठती है; और अपमानित करने वाली उस औरत को जहर दे देती है जो अब उसके पूर्व प्रेमी की पत्नी है। जब उसे पता चलता है कि उसके प्रेमी ने किन परिस्थितियों में विवाह किया था तो वह सुंदर भावी वैवाहिक जीवन को ठुकराकर पुनः अपने पूर्व प्रेमी के पास चली जाती है। बिमल राय ने गंभीरता से स्त्री की उस प्रतिरोधी वैचारिक शक्ति को रेखांकित किया है, जो अपनी शर्तों पर, बौद्धिक रूप से अर्जित की गई है।

एक ओर, देश को, आपातकालीन अजगर अपनी गिरफ्त में लेने को आतुर था, दूसरी ओर समकालीन सिनेमा सजग होकर आगे बढ़ रहा था, श्याम बेनेगल ने 1973 में 'अंकुर' देकर, अपनी फिल्मों में प्रतिरोधी स्वरों की मुखरितता को मजबूत करने का बिगुल बजा दिया। स्त्री अस्मिता, सामंतियों और सर्वहारा (दलित/मजदूर) के बीच प्रतिरोधी-संघर्ष को यथार्थ के धरातल पर विश्लेषित करने की दिशा में उनकी फिल्मों ने गहन कार्य किया। जहां, अंकुर में

स्त्री अस्मिता, सामंतियों और सर्वहारा (दलित/मजदूर) के बीच प्रतिरोधी-संघर्ष है, वहीं 'निशांत' (1975, आपातकाल का काला वर्ष) में असहाय व्यक्ति पर, सामंतियों द्वारा लादी गई अनाचार/जुल्मों की काली निशा के, मज्लूम और सर्वहारा वर्ग के बीच हुए प्रतिरोधी-संघर्ष में, अंत (निशांत) की गाथा है। उनकी बाद की फिल्मों में भी, विशेषकर, 'मंथन' (1976), 'भूमिका' (1976), 'मंडी' (1983) 'जुबैदा' (2001) आदि में भी इन मुद्दों की गूंज पूरी शिद्दत के साथ सुनाई देती है।

एक तरह से, अत्याचारी, भ्रष्टाचारी व्यवस्था के विरोध में प्रतिरोधी-संघर्ष, नए/समानांतर/समकालीन सिनेमा का एक अघोषित मैनीफेस्टो बन गया। आगे चलकर जिसका निर्वाह गोविंद निहालानी ने, सिनेमाई-कला/रचनात्मकता को साधते हुए प्रभावशाली तरीके से अपनी फिल्मों, 'आक्रोश' (1980), 'अर्ध-सत्य' (1989) आदि या टी.वी.-धारावाहिक 'तमस' में किया। अपने, गुरुतुल्य बिमल राय के मुरीद गुलजार साहब ने अपने सिनेमा, जैसे 'माचिस' (1996), 'हु-तु-तु' (1999) में या प्रेमचंद की कहानियों पर बनी लघु फिल्मों, 'सवा सेर गेहूं', 'कफन' आदि में प्रतिरोधी-संघर्ष को मुखर किया। इस कड़ी में और भी कई फिल्मकार, मसलन; गौतम घोष ('पार', 1984), अरुण कौल ('दीक्षा' 1991), दीपा मेहता ('फायर' 1996), कुमार शाहणी ('तरंग' 1984), मणिकौल और अमोल पालेकर (क्रमशः 'दुविधा' 1973 और 'पहेली' 2005) शेखर कपूर ('बैंडिट क्वीन' 1995), तिग्मांशु धूलिया ('पान सिंह तोमर', 2012, जहां डाकू अपने को, सामाजिक/व्यवस्था के अन्याय को लेकर किए गए प्रतिरोध स्वरूप स्वयं को 'बागी' कहलवाना पसंद करता है), सिने-मास्टर सत्यजित राय की 'शतरंज के खिलाड़ी' (1977) या लघु-फिल्म 'सद्गति' (1981), केतन मेहता का सिनेमा अथवा प्रतिरोधी संघर्ष को अलग ढंग से आश्चर्यजनक तरीके से मुखरित करने वाली, विशेष रूप से उल्लेखित फिल्म, 'ए वेडनसडे' (निर्देशक नीरज पांडे, 2008) आदि हैं; जिन्होंने, अपने-अपने तरीके से हिंदी सिनेमा में प्रतिरोधी-संघर्ष को काफी हद तक मजबूत किया है।

हम जानते हैं, हॉलीवुडी फिल्मों ने हिंदी सिनेमा को बहुत प्रभावित किया है। प्रतिरोधी सिनेमा भी इससे अछूता नहीं रहा। चाहे Jean Renoir निर्देशित 'This Land is Mine' (1943) लघु फिल्म हो, या D- Francis Ford Coppola की 'God Father' (1972/1974/1990) हो, हिंदी सिनेमा को अपने प्रतिरोधी तेवरों से आकर्षित करते रहे। सलीम साहब ने तो 'God Father' को आधुनिक महाभारत कहा। आज, ईरानी-प्रतिरोधी-सिनेमा भी सशक्त रूप से हमारे सामने है।

हमारे पौराणिक आख्यानों में प्रतिरोधी-स्वर भरे पड़े हैं। कहीं, नैतिक मूल्यों का हवाला देकर, एक साधारण जन (धोबी) भी, अपने राजा रामचंद्रजी, जिन्होंने अपनी प्रिय संगिनी सीताजी को (जिसने, मजबूरी में रावण के यहां बिताए गए दुर्दिनों के बाद भी, अपनी शुद्धि के लिए अग्निपरीक्षा दी), अग्निपरीक्षा में खरा उतरने के उपरांत ही, ससम्मान अपना साथ दिया, के इस आचरण को अनैतिक बताकर उसका प्रतिरोध करते हुए, अपनी उस पत्नी का परित्याग कर देता है जो कहीं और रात बिताकर आई थी। उस नागरिक के इस तरह के प्रतिरोध से आहत होकर,अपने बंधुओं के, इस प्रतिरोध का, प्रतिरोध करने पर भी, राजधर्म की दुहाई देकर अपने राजकीय कर्तव्यों/सिद्धांतों की खातिर, प्रतिरोध करते हुए दुःखी मन से, अपनी प्रिय संगिनी सीता का त्याग कर देते हैं। राजकीय-धर्म की खातिर ही, मुगल -ए-आजम

(निर्देशक के आसिफ, 1960) का बादशाह अकबर, प्यार की खातिर उनका प्रतिरोध करने वाले, अपने बेटे सलीम के साथ जंग लड़ते हैं और उसे मौत तक देने को तैयार हो जाते हैं। कृष्ण का पूरा आचरण अनीति का प्रतिरोध करता हुआ 'गीता' जैसा शाश्वत, मनोवैज्ञानिक दस्तावेज हमारे सामने रखता है, जो अर्जुन को भी अपनों से ही लड़ने/प्रतिरोध करने के लिए प्रेरित करता है।

अन्याय के प्रति तत्काल प्रतिरोध दर्ज करवाने के भाव ने ही, उस समय वाल्मीकि जैसे डाकू को भी आदि कवि बना दिया, जब उनके मुख से पहली प्रतिरोधी कविता का सोता फूटा : 'मा निषाद काम मोहितम' आज, प्रतिरोध की यह धारा, अन्ना हजारे तक, अजस्र रूप से बह रही है। आज की युवा कमसिन लड़की, किसी अधेड़ के हाथ 'बाजार' (निर्देशक सागर सरहदी, 1982) में बिकने और असहाय होकर जहर खाकर मरने के लिए विवश नहीं है; वरन, वह इस बाजार के धंधेबाजों/शोषितों को जेल पहुंचाने का जिगर भी रखती है ('The One Month wives, The Indian Express, Dt- 10/3/13 पृ. 9)। हमारी न्याय व्यवस्था भी सजग है, और उस पूरे गांव को हिरासत में लेने से नहीं चूकती जो, किसी पर हो रहे सामूहिक पाशविक अत्याचार का मूक साक्षी बना रहता है, और प्रतिरोध नहीं करता। हमारा सिनेमा/वृत्तचित्र, नारों और वादों से ऊपर उठ कर इस तरह के कोड्स का प्रयोग करते हुए अपने अंदर और भी परिपक्वता ला सकता है।

(लेखक सुपरिचित सिनेमा विश्लेषक हैं)

मनुष्य का मस्तिष्क और उसकी अनुकृति कैमरा

जयप्रकाश चौकसे

लुमिअर बंधुओं ने 28 दिसंबर 1895 को पेरिस के होटल के 'इंडिया सलून' नामक कक्ष में लघु फिल्मों का प्रदर्शन किया। उस समय वहां मौजूद किसी भी व्यक्ति को यह कल्पना नहीं थी कि इस नए माध्यम की सबसे अधिक फिल्में भारत में बनेगी और विश्व का सबसे बड़ा दर्शक वर्ग भी भारतीय लोगों का होगा। माध्यम के प्रति सबसे अधिक जुनून और पागलपन भी भारत में ही होगा। उस ऐतिहासिक अवसर पर उपस्थित लोगों में कोई भारतीय नहीं था परंतु जार्ज मेलिए नामक जादूगर मौजूद था, जिसे उसी क्षण महसूस हुआ कि इस माध्यम का उपयोग जादू की ट्रिक्स प्रस्तुत करने में सहायता प्रस्तुत करेगा। साथ ही जार्ज मेलिए का यह विश्वास भी था कि यह माध्यम फंतासी प्रस्तुत करेगा जबकि इसका अविष्कार करने वाले लुमिअर बंधुओं का विश्वास था कि माध्यम यथार्थ प्रस्तुत करेगा। इंग्लैंड में इसके अविष्कार में लगे लोगों का विश्वास था कि यह रोग निदान के काम आएगा। दरअसल कथा प्रस्तुत करने की क्षमता ने इसे लोकप्रिय और कालजयी बनाया है। रोग निदान में भी काम आ रहा है और एक दूसरी सतह पर इसने कुछ दीवानों को रोगी भी बनाया है और कभी-कभी नैराश्य से लड़ने में औषधि का काम किया है गोया कि वह दर्द भी रहा है और दवा भी रहा है। कम्युनिस्ट देशों ने इसे प्रचार के काम के लिए प्रयोग किया तो पूंजीवादी देशों ने भी अपने शस्त्रों इत्यादि के व्यापार के प्रचार के लिए उपयोग किया है। धार्मिक माफियानुमा संस्थानों ने अंधविश्वास और कुरीतियों का प्रचार इस माध्यम से किया है गोया कि जिस हाथ में यह विद्या गई, उसी की विचार प्रक्रिया की हो गई। सिनेमाई पानी को हर रंग में रंगा जा सकता है।

भारत में भी कुछ लोगों ने इसका प्रयोग जार्ज मेलिए की तरह फंतासी रचने में किया, कुछ विरल लोगों ने लुमिअर बंधुओं के विचार की तरह यथार्थ चित्रण के लिए किया, कुरीतियों का प्रचार भी हुआ, बाजार का हिस्सा बनकर भारतीय सिनेमा ने भावनाओं को वस्तुओं की तरह बेचा भी और सच तो यह है भारतीय मिक्सी में दुनिया भर के सिनेमाई सोच मिलकर पीसे गए और नितांत भारतीय स्वरूप बाहर भी आया जो मानसरोवर के जल की तरह दिन के अलग-अलग समय में अलग-अलग रंग का दिखने का भ्रम भी पैदा करता है।

लुमिअर बंधुओं ने पेरिस के बाद 1896 के प्रारंभिक महीनों में रूस के दो शहरों में प्रदर्शन किया। उनमें से एक प्रदर्शन में दर्शकों के बीच बैठे थे महान मैक्सिम गोर्की, जिन्होंने अगले दिन अपने अखबारी कॉलम में लिखा 'कल रात मैं छायाओं के रहस्य संसार में था और इन बिंबों के बहुआयामी प्रभाव का आकलन आज संभव नहीं है। फिल्म देखते समय स्थान और समय का बोध नहीं रहा। फिल्म में एक माली बगीचे में पानी दे रहा है और शरारती बच्चे का

पैर पाइप पर पड़ता है, पानी की धारा अवरुद्ध हो जाती है तो माली फव्वारे को अपने चेहरे की ओर करता है, तभी बालक पैर हटा लेता है, माली के चेहरे पर पानी पड़ता है, वह फव्वारे का मुंह आपकी ओर करता है और अपनी सीट पर झुक जाते हैं ताकि पानी आप पर न पड़े और आप भीगे नहीं.....'

इस तरह अपने दूसरे प्रदर्शन में ही सिनेमा को मैक्सिम गोर्की के रूप में अपना पहला समालोचक मिला। सिनेमा पर मैक्सिम गोर्की के विचार उसकी ऐसी व्याख्या करते हैं कि एक सदी से ऊपर वक्त गुजरने के बाद भी अक्षरशः सत्य है, वरन व्याख्या में छिपे अर्थ की स्पष्ट करने के लिए एक किताब भी लिखी जा सकती हैं।

गौरतलब यह है कि क्या अपनी सीट पर झुक जाने के बाद मैक्सिम गोर्की भीगने से बचे? सच तो यह है कि दृश्य ने उनके हृदय में आद्रता उत्पन्न की और यही सिनेमा का प्रभाव एवं उसका सार है। सिनेमा का रहस्य यह है कि दर्शक को मालूम है कि वह कल्पना देख रहा है परंतु वह उस पर यकीन करने लगता है। बिंब के बहुआयामी प्रभाव समय के साथ इस तरह सामने आए कि क्रिस्टोफर नोलन ने अवचेतन और स्वरूप पर कब्जा करने वाले पात्र की फिल्म 'इनसेप्शन' के नाम से बनाई। मैक्सिम गोर्की ने अपनी टिप्पणी में आगे यह भी लिखा था 'यह इस विधा का प्रारंभ है और अपने वाले समय में ऐसी फिल्में भी बन सकती हैं, जिनका नाम हो 'नहाती हुई स्त्री' या 'कपड़े बदलती हुई महिला' गोया कि 1896 में मैक्सिम गोर्की ने 'डर्टी पिक्चर' अनुमान लगा लिया था। सच तो यह है कि इस विधा में अश्लीलता का अपना स्कूल भी बन गया और दुनिया भर के देशों में नीले फीते का जहर फैल गया। भारत में भी इस तरह की फिल्मों दो स्तर पर बनती रही हैं, एक तो अवैध ढंग से और दूसरे अंधे सेंसर की आंख में धूल झोंककर। दरअसल इस पक्ष के पीछे तथ्य यह है प्रच्छन्न सेक्स की धारा समाज में भीतरी सतह पर बहती रहती हैं और ऊपर से ठंडे पडे तंदूर के भीतर अधजले कोयलों को सिनेमा हवा देता रहा है। सच तो यह है कि पुराने आख्यानों के लोकप्रिय संस्करण सदियों से यही करते रहे हैं। सिनेमा तो शताब्दियों की परतों में छिपी कहानियों को ही प्रस्तुत करता है गोया कि सिनेमा के जामेजम में कथा का अतीत, वर्तमान और भविष्य सब नजर आते हैं। इस विधा को प्रायः मूव्हीज कहा जाता है परंतु इसकी रील घूमती है या बिंब के प्रति सेकेंड 24 फ्रेम घूमने के कारण नहीं वरन सिनेमाघर में स्थिर बैठे दर्शक के हृदय में भावना जगाकर उसे हिला देने के कारण इसे 'मूव्हीज' कहा जाता हैं।

इस विधा के अविष्कार के प्रारांभिक वर्षों में ही फ्रांस के दार्शनिक बर्गसन ने कहा कि सिनेमा के कैमरे और मनुष्य के मस्तिष्क में कुछ समानता है। मनुष्य की आंखों से लिए गए बिंब स्मृति पटल पर स्थिर रूप में जमा होते हैं और विचार की ऊर्जा से चलायमान होते हैं। सिनेमा का कैमरा भी मात्र बिंब एकत्रित करता हैं और फिल्मकार के विचार से संपादन के टेबल पर वे सार्थक शृंखला में बंध जाते हैं। महज चित्र लेना या बिंब पकड़ना सिनेमा नहीं है, भावनाओं का संचार करने वाला सूत्र सिनेमा है। मनुष्य के मस्तिष्क की कल्पना शक्ति असीमित है और यही सिनेमा के कैमरे से प्राणवान रचना कराती है। कई बार तो आभास होता है कि पूरा संसार ही उसकी कल्पना है और उसके मस्तिष्क में सैकड़ों ब्रह्मांड बसे हुए हैं। स्टीवन स्पिलवर्ग का मस्तिष्क कुछ ऐसा ही है और उसकी फिल्में उसके मस्तिष्क रूपी कैमरे से बनी हैं। बिमल रॉय एक वैष्णव संत की तरह थे और उनकी फिल्में नारी हृदय में शूट की जाती

थीं। 'सुजाता' या 'बंदिनी' मात्र मशीनी कैमरे का कमाल नहीं है। हर फिल्मकार अपने अवचेतन से संचालित है और कैमरा हाथ में आते ही उनकी संवेदनाओं और रुचियों का वाहक हो जाता है। हमारे आख्यानों में सभी देवताओं के प्रिय वाहन दर्शाए गए हैं, फिल्मकार कैमरे पर सवार होकर सृष्टि रचता है। ख्वाजा अहमद अब्बास की कम्यूनिज्म से प्रेरित पटकथाएं राजकपूर के कैमरे द्वारा मनुष्य की करुणा का गीत बन जाती हैं, जीवन के असमान युद्ध में शस्त्रहीन आम आदमी कैसे खुशी के क्षणों की जेबकतरी करता है यह 'आवारा' और 'श्री 420' में हम देखते है परंतु उन्हीं अब्बास महोदय की पटकथाएं उनकी अपनी फिल्मों में कम्यूनिज्म का प्रचार मात्र लगती हैं या बहुत हुआ तो ब्लिट्ज (टेबलायड साप्ताहिक अब बंद) अखबार में उनके कॉलम की तरह लगती हैं। कैमरा फिल्मकार को नहीं चलाता, फिल्मकार उसे इस्तेमाल करता है। सत्यजित राय, मनुष्य की करुणा के गायक, की फिल्में उनकी पेंटिग्स की तरह हैं। भूमिहीन किसान के बेटे महबूब खान के हाथों कैमरा ग्रामीण जीवन का महाकाव्य 'मदर इंडिया' के रूप में रचता है। शांताराम के हाथों गांधीवादी 'दो आंखें बारह हाथ' रची जाती हैं। गुरूकुल कांगड़ी और रवींद्रनाथ टैगोर द्वारा स्थापित शांति निकेतन में पढ़े चेतन आनंद हिंदुस्तानी सिनेमा के स्वर्ण-युग (1946-1964) जिसे नेहरूयुगीन सिनेमा भी कहा जा सकता है, की पहली फिल्म 'नीचा नगर' (1946) और आखिरी फिल्म 'हकीकत' (1964) बनाते हैं गोया कि आदर्शवाद का हकीकत से टकराकर चूर हो जाना है। माननीय संवेदनाओं का इतिहास सिनेमा में इस तरह बयां होता है। उदय शंकर अल्मोड़ा के अपने नृत्य स्कूल से मुंबई आकर 'कल्पना' नामक व्यापार मुक्त विशुद्ध कला को पाने का संदेश देने वाली फिल्म गढ़ते हैं। परंतु सिनेमा को उनकी एक और अनुपम भेंट गुरुदत्त के रूप में मिली जिन्होंने व्यक्तिगत कशमकश को समाज में विलुप्त होते हुए मूल्यों से जोड़कर 'प्यासा' रचते हैं। मनुष्य का मस्तिष्क भी भाषाओं के रहस्यमय संसार की तरह है और उसके अवचेतन का आकलन अभी तक संभव नहीं हुआ है। लेंस और कलपुर्जो सेब ना कैमरा तथा मनुष्य के मस्तिष्क के समन्वय से सिनेमा का जन्म होता है। दोनों के बीच समान सुर लगने पर होने वाली जुगलबंदी सिनेमा है और कई बेसुरों ने भी संगत करके फिल्में बनाई हैं तो साहित्य में भी तुकबंद हुए हैं, लुगदी साहित्य भी रचा गया है। दरअसल कला के अन्य क्षेत्रों में जितना कूड़ा कचरा रचा गया है, उससे थोड़ा अधिक इस विधा में रचा गया है क्योंकि इस पर व्यावसायिक दबाव अन्य क्षेत्रों से अधिक है। इतने अधिक दबाव के बाद इसमें सार्थक रचना अधिक कठिन है। सत्यजित राय ने कहा था कि बंगाल में ही बंगाली अलग अलग उच्चारण से बोली जाती है। भारत की विविधता में अखिल भारतीय लोकप्रियता अर्जित करना किसी भी विधा में आसान नहीं है। किताब एक या दो व्यक्ति साथ-साथ पढ़ सकते हैं परंतु सिनेमा तो एक ही समय में सैकड़ों दर्शकों को संबोधित करता है- यह सामूहिक अवचेतन से जुड़ी बात है और इसी तथ्य के कारण उसकी भाषा, शैली और व्याकरण में अधिकतम की पसंद को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

दरअसल सामूहिक अवचेतन को संबोधित करने के कारण ही इसमें धार्मिक गुरुओं के सम्मोहन के तत्व आ गए हैं और नेताओं की शैली भी आ गई है। पंड़ित जवाहरलाल नेहरू अंग्रेजी में सोचते थे और मन ही मन उसका अनुवाद करके हिंदुस्तानी में भाषण करते थे। इस कारण उनकी शैली में रुक-रुककर बोलना आ गया। दिलीप कुमार ने अपनी संवाद अदायगी में नेहरू की भाषण शैली का इस्तेमाल किया और अनुवाद में लगने वाले क्षणों की खामोशी

उनकी लोकप्रिय अदा हो गई। कुछ फिल्में सामूहिक सम्मोहन की तरह मनुष्य को बांध लेती हैं और उसकी स्वतंत्र तर्क प्रणाली कुछ समय के लिए स्थगित हो जाती है। मसलन विजय आनंद की 'गाइड' के अंतिम चालीस मिनट में आप सम्मोहित हैं और यकीन कर लेते हैं कि नायक के उपवास से वर्षा हुई है। कुछ फिल्में सामूहिक अवचेतन को सम्मोहित नहीं करती और उसकी तर्क करने की शक्ति को प्रखर बना देती है। श्याम बेनेगल की 'अंकुर' या 'निशांत' में दर्शक सम्मोहित नहीं है वरन् सोचने पर मजबूर हो जाता है कि क्या वह इस अन्याय आधारित समाज का हिस्सा है और 'अंकुर' के बालक की तरह व्यवस्था के शीशमहल पर पत्थर फेंकना चाहता है। सिनेमा सम्मोहन भी है और विचारों को उद्वेलित भी करता है। इस विधा के प्रारंभ के समय मैक्सिम गोर्की की यह बात आज भी सत्य है कि इसके 'बहुआयामी प्रभाव' की व्याख्या आज भी पूरी तरह नहीं की जा सकती।

ईरान में बनी एक फिल्म का नाम 'लिजार्ड' अर्थात छिपकली है क्योंकि केंद्रीय पात्र दीवारें चढ़कर चोरी करने में प्रवीण है, इसलिए अपराध जगत में उसे लिजार्ड के नाम से जाना जाता है। एक बार पुलिस की पकड़ से आजाद होकर वह भागते-भागते एक कस्बे के स्टेशन पर जा पहुंचता है, जहां उसे कस्बे की मस्जिद के लिए भेजा हुआ मौलवी समझ लिया जाता है। उसे मुफ्त की रोटी और अनसोचा सम्मान मिल रहा है परंतु उसे कुरान का इल्म नहीं है। मस्जिद के पुराने सफाई कर्मचारी से कुछ बातें जानकर, वह मस्जिद में अपराध जगत के मुहावरों को इस्तेमाल करते हुए व्यवहारिक बातें करके लोकप्रिय हो जाता है। अपने इस नए पद की गरिमा को बनाए रखने के लिए वह आधी रात के बाद अपनी चौर्य कला से धनराशि लाकर जरूरतमंदों के घर रख देता है। अल्लाह की इस त्वरित मदद के लिए शुक्रगुजार लोग नए मौलवी को महान मान लेते हैं। वह महानता ढोता रहता है। इसी केंद्रीय पात्र की तरह है सिनेमा जिसका इस्तेमाल चोर भी कर सकता है और धर्मात्मा भी कर सकता है। श्याम बेनेगल ने दूध व्यापारी संघ के आग्रह पर इस क्षेत्र में को-आपरेटिव आंदोलन के पक्ष को प्रस्तुत करने के लिए 'मंथन' बनाई परंतु प्रचार होते हुए भी उसमें माननीय करुणा और संवेदनाएं प्रस्तुत करने में सफल रहे।

सिनेमा के प्रारंभिक काल खंड में जब दार्शनिक बर्गसन ने सिनेमा कैमरे के डिजाइन को मनुष्य के मस्तिष्क की सतही नकल की तरह कहा, तब इस बात का अनुमान लगाना कठिन था कि एक दिन सिनेमा टेक्नोलॉजी इसनी विकसित हो जाएगी कि फिल्मकार अपने दिमाग के बदले उस विकसित टेक्नोलॉजी के अनुरूप सोचने लगेगा और जार्ज मेलिए की तरह विज्ञान फंतासी तथा 'लार्जर दैन लाइफ' सुपर नायकों की फिल्में रचने लगेगा तथा इस प्रक्रिया में आम आदमी को नायक की तरह प्रस्तुत करने वाला पक्ष गौण हो जाएगा। दरअसल फिल्मकार स्टन्ले क्यूबरिक की फिल्म' स्पेस ओडेसी 2000' में पहली बार यह चिंता अभिव्यक्त की गई है कि अगर मशीनें मनुष्यों पर हावी हो जाएं तो क्या होगा। इसी चिंता को अन्य स्वरूप में 'मैट्रिक्स शृंखला' में प्रस्तुत किया गया, जिसमें कंप्यूटर मनुष्य को अपनी बेट्रीज की तरह इस्तेमाल करके मशीनों की दासता के लिए मजबूर कर देते हैं।

सिनेमा के पहले कवि चार्ली चैपलिन ने 1931 में लंदन में महात्मा गांधी से अपनी मुलाकात का ब्यौरा अपनी आत्मकथा में लिखा है। गांधीजी ने चार्ली चैपलिन को अपने मशीन विरोध के दो कारण बताए-एक तो साम्राज्यवादी देश मशीन के उपयोग से अपने गुलाम देशों के साधनों का दोहन करता है और मनुष्य का शोषण करता है। दूसरे यह कि मनुष्य मशीन

पर बहुत अधिक निर्भर होकर उसका दास हो जाएगा। चार्ली चैपलिन की 1936 में प्रदर्शित 'मार्डन टाइम्स' में हम गांधीजी का प्रभाव देख सकते हैं। एक ही अद्‌भुत शॉट में मशीन के विराट चक्र को एक व्यक्ति साफ कर रहा है और चक्र घूमने लगता है तो लोग शॉट में उस चक्र पर घूमता हुआ व्यक्ति उसी मशीन का एक पुर्जा नजर आता है। सारांश यह कि मनुष्य का दिमाग और उसकी अनुकृति सिनेमा का कैमरा जब एक ही सुर से प्रेरित होते हैं तो महान फिल्में बनतीं हैं। विज्ञान फंतासी साहित्य के पुरोधा एच-जी. वेल्स की एक कथा में एक वैज्ञानिक ने अपने घर की प्रयोगशाला में एक रोबो बनाया है और उसकी बेटी का कहना है कि रोबो उससे रूमानी बातें करता है। पिता कहता है कि वह रोबो इस तरह की बातों के लिए प्रोग्राम्ड नहीं है और उसके निकट नहीं जाना क्योंकि उसके अति निकट आने वाले को वह लौहपाश में जकड़ लेगा। एक दिन वैज्ञानिक घर आता है सो उसकी बेटी का निर्जीव शरीर रोबो के निकट पड़ा है। वैज्ञानिक रोबो को नष्ट करता है और उसके स्मृति पटल में जाने कैसे दर्ज रोमांटिक बातों का रहस्य जानना चाहता है। उसकी प्रयोगशाला की एक खिड़की उद्यान की ओर हैं जहां प्रेमियों की बातें उसके स्मृति पटल में दर्ज हो गईं। यह कथा 19 वीं सदी के आरंभिक चरण में लिखी गईं हैं। बीसवीं सदी के अंतिम चरण में 'बाइसेंटिनल मैन' नामक फिल्म बनी, जिसमें सेवक के रूप में घर लाए रोबो से मालिक पुत्री प्यार करने लगती है और घटनाक्रम के अंत में उन्होंने विवाह के लिए आवेदन किया है। बहरहाल जिस समय अनुमति आती है, उस समय रोबो की एक्सपायरी डेट आ गई है। यह एक क्लासिक ट्रेजिक प्रेम-कथा है और इसका प्रस्तुतीकरण 'रोमियो जूलियट' और 'हीर रांझा' की तरह किया गया है।

स्टीवन स्पिलवर्ग की आर्टीफीसियल 'इंटीलीजेंस' में विशेष आग्रह पर बालक के रूप में गढ़ा गया रोबो अपनी मां समान मालकिन के कैंसरग्रस्त होने पर रोने लगता है। इन सब बातों का अर्थ है कि मशीन के मानवीकरण के प्रयास भी सिनेमा में हो रहे हैं और मनुष्य के मशीनीकरण की कहानियां भी प्रस्तुत हो रही हैं।

भारतीय सिनेमा में इस तरह के प्रयोग नहीं हो रहे हैं परंतु सुपरहीरो फिल्में बन रही हैं और अंतरिक्ष प्राणी की आंख में आसूं बहने के दृश्य हैं। अमेरिका के पास अपनी कोई मायथोलॉजी नहीं है, जिस कभी को विज्ञान फतांसी से दूर करने की प्रक्रिया में मशीन के मानवीकरण की फिल्में बन रही हैं तो भारतीय सिनेमा में न केवल मायथोलॉजी पर फिल्में बनाई वरन् अपनी मिथ और मायथोलॉजी भी गढ़ी, जैसे 'संतोषी मां' का पूजा अर्चना में प्रवेश इस नाम की फिल्म के प्रदर्शन के बाद शुरू हुआ। इतना ही नहीं, हमारी आधुनिक सामाजिक फिल्मों भी धार्मिक आख्यानों के रूपकों का प्रयोग हुआ है, जैसे राजकपूर की 'आवारा' में रामायण का मैटाफर है तो 1969 में प्रदर्शित ऋषिकेश मुखर्जी की 'सत्यकाम' में जावाली रूपक का प्रयोग हुआ है।

भारतीय फिल्मकारों और दर्शकों का अवचेन धार्मिक आख्यानों के देशों से बुना हुआ है। विज्ञान जनित सिनेमा की भारत में अपार लोकप्रियता का आधार उसके कथा कहने की ताकत में रहा है। भारतीय फिल्मकार के दिमाग में धार्मिक आख्यान भरे हुए हैं, अतः सिनेमा के कैमरा का चरित्र भी वैसा ही है। विकसित टेक्नोलॉजी भी धार्मिक आख्यानों के चमत्कारों के प्रस्तुतीकरण के काम आती है।

अमेरिका में निरंतर विकास करती हुई टेक्नोलॉजी के कारण फिल्मों के अधिकांश हिस्से

मशीनें गढ़ती हैं। 'टाइटैनिक' जैसी प्रेमकथा के महत्वपूर्ण हिस्से टेक्नोलॉजी ने गढ़े हैं। भारतीय सिनेमा में भी एक्शन दृश्य मशीनें गढ़ रही हैं। कैमरा दिमागी कैमरे पर भारी पड़ रहा है। भारत के विरोधामासों और विसंगतियों को प्रस्तुत करने वाला सिनेमा अपनी दूसरी सदी में इसी द्वंद्व के साथ प्रवेश कर रहा है कि दिमाग मशीन पर भारी रहे और मनुष्य के दिमाग की अनुकृति पर बना सिनेमा कैमरा तानाशाह नहीं बन पाए। उसके पास अपनी मायथोलॉजी में ही इसका उत्तर है भस्मासुर की कथा।

अमेरिका के समालोचक कौकमैन और कैशायर का कहना है कि सिनेमा की मृत्यु हो सकती है। संभवतः उनका आशय है कि टेक्नोलॉजी से बनी फिल्में उसके निर्माण के रहस्य को उजागर कर देती हैं जिस कारण उसका जादू खत्म हो जाता है। सिनेमा विश्वास दिलाने की कला है। परदे पर घटित सब सच है परंतु ट्रिक्स के शॉट्स मालूम पड़ने पर यकीन दिलाने की कला नहीं रह जाती। दूसरी बात यह है कि निर्मम ठंडी टेक्नोलॉजी सितारे की जगह ले लेती है तो सितारे का रोमांच समाप्त हो जाता है। इस तरह प्रथम प्रदर्शन में मौजूद जार्ज मेलिए के विचार की विजय हो रही है और लुमिअर बंधुओं का कथन कि यह यथार्थ को प्रस्तुत करता है गलत सिद्ध किया जा रहा है।

भारत का सितारा आधारित और धार्मिक आख्यानों के अनवरत प्रभाव वाला सिनेमा कभी मर नहीं सकता क्योंकि वह सिनेमा के पहले समालोचक मैक्सिम गोर्की की बात कि यह 'छायाओं का रहस्यमय संसार' है और इसके 'बिंब के विलक्षण प्रभाव का आकलन' आज नहीं हो सकता को चरितार्थ करता रहा है। दार्शनिक बर्गसन की उक्ति कि 'मनुष्य के दिमाग की अनुकृति है सिनेमा का कैमरा' भी भारत में सत्य की तरह स्थापित है। पश्चिम के दिमाग आख्यानों से मुक्त हैं परंतु भारत के आम आदमी का अवचेतन आख्यानों और किवदंतियों के रेशों से बना है तथा सदियों से उसे इतिहास के नाम पर झूठ परोसा जा रहा है और इन सब जालों से रचा मस्तिष्क अपने कैमरे को भी इसी में बांध लेता है, अतः कथावाचकों और श्रोताओं के इस अनंत देश में सिनेमा नहीं मर सकता क्योंकि वह सम्मोहन के लिए अधीर सामूहिक अवचेतन का अविभाज्य हिस्सा बन चुका है।

(लेखक वरिष्ठ फिल्म पत्रकार और स्तंभकार हैं)

सिने आत्मकथाओं का सच

अनंत विजय

हाल के वर्षों में फिल्मों से जुड़ी कई हस्तियों की जीवनियां, आत्मकथा, संस्मरण बाजार में आए। इनमें से कई तो बेहद चर्चित भी हुए। फिल्म साप्ताहिक स्क्रीन की संपादक रह चुकी भावना सोमैया ने ड्रीम गर्ल हेमा मालिनी की जीवनी लिखी जो रोलीबुक्स ने छापी। इस किताब में भावना सोमैया ने हेमा मालिनी के शुरुआती दिनों का बेहतरीन वर्णन किया लेकिन जैसे जैसे हेमा मालिनी सफल और प्रसिद्ध होती चली गईं तो भावना भी नायिका के प्रभाव में आती चली गईं और जीवनी उनके गुणगान में बदल गई। हेमा मालिनी के अलावा शाहरुख खान पर भी दो किताबें आईं। अनुपमा चोपड़ा की 'किंग ऑफ बॉलीवुड' और दीपा गहलोत की 'किंग खान'। इन दोनों किताबों की अगर तुलना की जाए तो दीपा गहलोत ने शाहरुख खान के जीवन को अनुपमा चोपड़ा से बेहतर ढंग से परखा है। बीते जमाने की सुपरस्टार और सांसद रही वैजयंतीमाला बाली ने भी अपनी आत्मकथा लिखी, जिसकी खासी चर्चा हुई। मशहूर अदाकार सुनील दत्त और अदाकारा नरगिस दत्त की बेटियों- नम्रता और प्रिया ने मिलकर 'मिस्टर और मिसेज दत्त' लिखी। इस किताब के केंद्र में सुनील और नरगिस दत्त हैं जिसमें सन 1958 में सुनील और नरगिस की शादी से लेकर 1981 में कैंसर से हारकर मौत के आगोश में समाने वाली नरगिस की कहानी है। इस किताब में कई दुर्लभ चित्र भी हैं। इसके अलावा सदाबहार अभिनेता देव आनंद की आत्मकथा 'रोमांसिंग विद लाइफ' और मशहूर अभिनेता ओमपुरी की जीवनी- 'अनलाइकली हीरो ओमपुरी' भी छपी। ओमपुरी की जीवनी उनकी पत्नी नंदिता पुरी ने लिखी। इन दोनों किताबों ने अलग अलग वजहों से खासी चर्चा बटोरी। इन दोनों किताबों पर विस्तार से बात होगी।

भारतीय फिल्मों के सदबहार हीरो देव आनंद की आत्मकथा 'रोमांसिंग विद लाइफ-एन ऑटोबायोग्राफी' के बहाने हम देव आनंद की रूमानी छवि और उनकी फिल्मी जिंदगी को खंगालने की कोशिश कर रहे हैं। अपनी इस आत्मकथा में देव आनंद साहब ने अपनी निजी जिंदगी और भारतीय फिल्म जगत के कई राज खोले हैं। देव आनंद की छवि एक जबरदस्त रोमांटिक हीरो की रही है। अविभाजित भारत के गुरुदासपुर में जन्मे देव आनंद ने लाहौर के गवर्नमेंट कॉलेज से अंग्रेजी (ऑनर्स) करने के बाद लंदन जाकर उच्च शिक्षा हासिल करने की सोची थी लेकिन पिता की मुफलिसी की वजह से ये संभव नहीं हो सका। परिवार की कमजोर आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखकर, जब देव आनंद ने रॉयल इंडियन नेवी में शामिल होने की कोशिश की तो वहां भी असफलता ही हाथ लगी। देव आनंद के पिता की इच्छा थी कि वह बैंक में क्लर्क की नौकरी कर ले। नियति को कुछ और ही मंजूर था और देव आनंद फ्रंटियर मेल पकड़कर बंबई आ गए। फिर शुरू हुआ संघर्ष। बनना चाहते थे गायक, बन गए अभिनेता। इसके बाद जो हुआ वह इतिहास है। देव आनंद ने पीछे मुड़कर नहीं देखा। देव आनंद की पहली फिल्म थी 'हम एक हैं' इस फिल्म के रिलीज होते ही देव

आनंद के अभिनय की जमकर तारीफ हुई। इसके बाद तो देव आनंद, उस दौर के दो सबसे सफल हीरो, दिलीप कुमार और राजकपूर के साथ फिल्म निर्माताओं की पहली पसंद बन गए। देव आनंद ने उस दौर की चोटी की अभिनेत्रियों के साथ काम किया ही, रोमांस भी कम नहीं किया।

देव आनंद और सुरैया के बीच के रोमांस और प्रेम की खूब चर्चा हुई। अपनी आत्मकथा 'रोमांसिंग विद लाइफ' में देव आनंद ने अपनी इस प्रेम कहानी का विस्तार से वर्णन किया है। देव आनंद लिखते हैं 'हम दोस्त से गहरे दोस्त और फिर प्रेमी प्रेमिका बन गए और हमारी प्रेम कहानी पूरे देश में चर्चा का विषय बन गई थी। एक भी दिन ऐसा नहीं होता था, जब मैं और सुरैया फोन पर बात नहीं करते थे। मुझे सुरैया से प्यार हो गया था। उस वक्त सुरैया के परिवार में उसकी दादी का जबरदस्त प्रभाव था और उनकी मर्जी के बिना उस परिवार में पत्ता तक नहीं हिलता था। मुझे लगने लगा कि हमारी इस प्रेम कहानी में सुरैया की दादी बाधा बन रही थी। मेरा सुरैया के घर में अब पहले जैसा स्वागत नहीं होता था, लेकिन प्यार की तड़प बढ़ती ही जा रही थी। मैं सुरैया के लिए बेचैन होने लगा था लेकिन उसके परिवार ने हमारे प्यार पर बंदिशें लगा थी। मिलने जुलने पर पाबंदी थी। एक दिन हम चुपके से एक पानी टंकी के पास मिले और सुरैया ने मुझसे लिपटकर कहा 'आई लव यू, आइ लव यू'। इसके बाद मेरे पांव जमीन पर नहीं पड़ रहे थे। मैंने मुंबई के झवेरी बाजार से सुरैया के लिए एक मंहगी अंगूठी खरीदी और उसे भिजवा दिया। मैं सातवें आसमान पर था लेकिन अपने परिवार के दवाब में सुरैया ने मेरी दी हुई अंगूठी समंदर में फेंक दी।' देव आनंद साहव ने इस प्रेम कहानी को बहुत ही बेहतरीन अंदाज में अपनी आत्मकथा में कलमबंद किया है। इस पूरी किताब से देव आनंद की पर्दे पर की जो एक बेहद रूमानी छवि थी वह और भी पुष्ट होती है, प्रामाणिक भी, क्योंकि खुद देव साहब ने अपनी जुबानी अपनी कई प्रेम कहानी और आशिकी को दुनिया के सामने पेश किया है।

सुरैया के अलावा देव आनंद ने अपने स्कूल के दिनों की प्रेमिका से लेकर जिंदगी के चौरासी साल तक की अपनी नायिकाओं और प्रेमिकाओं के बारे में खुलकर लिखा है। चाहे वह 'टैक्सी ड्राइवर' फिल्म की नायिका मोना जो बाद में देवसाहब की पत्नी भी बनी या फिर मुमताज हो या फिर जीनत अमान हो या टीना मुनीम। संजय दत्त की पत्नी ऋचा को फिल्मों में लाने का श्रेय भी देव आनंद को ही है। जीनत अमान पर लिखते हुए देव साहब ने ईमानदारी से स्वीकार किया है कि जब भी राजकपूर जीनत अमान से लिपटते-चिपटते थे तो उनको जलन होती थी। देव आनंद को लगता था कि जीनत अमान, उनकी खोज है, उनकी नायिका है इसलिए सिर्फ उनकी अमानत है। एक पार्टी में राजकपूर ने जीनत अमान को जब अपने आलिंगन में लिया तो जीनत की प्रतिक्रिया देख देव आनंद का दिल चकनाचूर हो गया। देव आनंद जब एक नायक के रूप में फिल्मों में कामयाब हो गए तो 'नवकेतन' नाम से अपना बैनर बनाकर फिल्म निर्माण में उतरे और कई नई प्रतिभाओं, टीना मुनीम, तब्बू से फिल्मी दुनिया का साक्षात्कार कराया। फिल्म निर्माण के बाद देव आनंद फिल्म निर्देशन के क्षेत्र में उतरे और फिल्म 'प्रेम पुजारी' का निर्देशन किया। देव आनंद की फिल्म 'गाइड', 'काला पानी', 'हरे रामा हरे कृष्णा', 'काला बाजार', 'जब प्यार किसी से होता है' जैसी फिल्में हिंदी फिल्म निर्माण के क्षेत्र में मील का पत्थर है। कुछ लोगों का कहना है कि देव आनंद ने बाद के दिनों में अपनी फिल्मों में काफी प्रयोग किए और अपने समय से आगे की फिल्में बनाई। बॉक्स ऑफिस पर भले ही बाद में देव आनंद की कई फिल्मों को उतनी सफलता नहीं मिली, जितनी पहले मिला करती थी लेकिन देव आनंद ने अपने स्टाइल के साथ कोई समझौता नहीं किया।

देव आनंद के जमाने में लड़कियां उन पर जान छिड़कती थी। युवाओं में उनके स्टाइल से सिगरेट के कश लेना, गले में मफलर डालना, शर्ट के बड़े-बड़े कॉलर स्कार्फ आदि का जबरदस्त क्रेज था। देव आनंद की जो डॉयलॉग डिलीवरी थी, उनका जो अंदाज था वह अनूठा था, अपनी तरह का अकेला था। उनकी दिलकश अदा और होठों पर शरारती मुस्कराहट काफी कुछ कह जाती थी। देव आनंद ने अपनी आत्मकथा में फिल्मी हस्तियों के अलावा राजनीतिक हस्तियों का भी जिक्र किया है। खास तौर से इंदिरा गांधी और उनके पुत्र संजय गांधी का। इंदिरा गांधी के बार में देव आनंद ने लिखा है कि वह बहुत ही कम बोलती थीं, जिसकी वजह से उनके विरोधी इंदिरा गांधी को गूंगी गुड़िया कहते थे। देव साहब ने इंदिरा गांधी के साथ कई मुलाकातों का जिक्र किया है लेकिन हर बार उन्हें लगा कि श्रीमती गांधी नकारात्मक या सकारात्मक किसी भी तरह की कोई प्रतिक्रिया देती ही नहीं हैं।

देव आनंद साहब को मैंने दो बार नजदीक से देखा है, मिला भी। एक बार तो मुंबई में एक होटल में हम लोग एक कार्यक्रम की रिकॉर्डिंग कर रहे थे। देव साहब भी उसी होटल में थे। हम लोगों को जब पता लगा तो उनसे मिलने चले गए। उनसे मिलकर बाहर निकलते वक्त हम चार लोग यही बात कर रहे थे कि बताओ यार अस्सी में ये हाल है तो तीस चालीस में क्या सितम ढाया होगा। मैंने अपने स्कूल के दिनों में देव आनंद की फिल्म 'काला बाजार' देखी थी और देव आनंद की वही छवि थी मन पर। उस दिन जब मिलकर निकला तो लगा कि चौबीस-पच्चीस साल पहले जिस देव आनंद को पर्दे पर देखा था उसी देव आनंद से मिलकर निकला हूं। दूसरी बार उनकी किताब रिलीज के मौके पर। दिल्ली के प्रेस क्लब में वे पत्रकारों से मिले थे, वही जोश, वही जवानी, वही स्टाइल। उसी तरह सवालों के जवाब देने से पहले गले का स्कार्फ स्टाइल से झटकना। मानो कोई हसीना अपने चेहरे पर अनचाहे आए जुल्फ को झटक रही हो।

अपने बारे में दुनिया को क्या है या उसे क्या जानना चाहिए इस बारे में गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है कि 'सहित सनेह जे अघ, हृदय राखि चेरी, संग बस किए शुभ, सुनाए सकल लोक निहोरि।' मतलब यह कि परम प्रेमपूर्वक किए प्रचंड पापों को तो हृदय की अंधेरी कोठरी में छिपाकर रखना लेकिन दूसरे के किसी भी काम को ढोल पीट-पीटकर लोगों को सुनाना। जब मशहूर फिल्म अभिनेता ओम पुरी की जीवनी 'अनलाइकली हीरो, ओमपुरी' प्रकाशित हुई थी तो इस जीवनी में ओम के जीवन के विवादित सेक्स प्रसंगों को जमकर उभारा गया था। सतह पर यही लगता है जीवनी लेखिका और ओम पुरी की पत्नी नंदिता पुरी ने ओम की जिंदगी को प्याज के छिलके की तरह उतारकर रख दिया। अगर आप निहितार्थ पकड़ने की कोशिश करेंगे तो ऐसा नहीं है। दरअसल हर विवादित सेक्स प्रसंग के पीछे एक स्थिति और परिस्थिति क्रिएट की गई है ताकि ओम को कठघरे में नहीं खड़ा किया जा सके। तो एक तरह से नंदिता ने तुलसीदास की उक्ति को बेहद चतुराई से अपनी किताब में सही साबित किया है।

ओम के अपने से बड़ी औरतों के साथ सेक्स संबंधों को प्रमुखता से छापा गया था। साथ ही ओम के अपनी सगी मामी की ओर आकर्षित होने की ओर इशारा भी किया गया था। विवादित सेक्स प्रसंगों के अंश अखबारों में छपे तो ओमपुरी लाल पीले हो गए। जीवनी लेखिका जो उनकी जीवन संगिनी भी थी, को बुरा भला कहते हुए यह धमकी तक दे डाली थी कि वह किसी भी कीमत पर इस किताब को छपने नहीं देंगे। जैसे-जैसे समय बीता यह बात साफ हो गई कि यह प्रचार पाने के लिए की गई सोची समझी रणनीति थी, जिसमें ओम और नंदिता को एक हद तक सफलता भी

मिली। चाहे दिल्ली हो या मुंबई ओम हर जगह किताब के विमोचन के वक्त मौजूद रहे और अखबारों और टीवी चैनलों पर इंटरव्यू भी दिया।

जब किताब छपकर सामने आई तो सारी बातें साफ हो गई थीं। ओमपुरी के सेक्स संबंधों के बारे में इस किताब में ज्यादा कुछ है नहीं। दरअसल नंदिता पुरी ने इस किताब में अपने पति के जीवन के उन पहलुओं को सामने लाने की कोशिश की है जो अब तक आम लोगों के सामने नहीं आ पाए थे। हरियाणा के अंबाला में जन्मे ओमपुरी का बचपन बेहद गरीबी में गुजरा। जब ओमपुरी सात साल के थे तो उनके पिता, जो रेलवे स्टोर में इंचार्ज थे, को चोरी के आरोप में जेल भेज दिया गया। जब उसके पिता जेल भेजे गए तो रेलवे ने उनको दिया क्वार्टर भी परिवार से खाली करवा लिया। फटेहाली और तंगहाली में ओम के बड़े भाई वेद ने कुली का काम करना शुरू कर दिया और ओमपुरी को चाय की दुकान पर कप प्लेट साफ करना पड़ा। परिवार की मुश्किलें कम नहीं हो रही थी। खाने के लाले पड़ रहे थे। सात साल का बच्चा ओम एक दिन एक पंडितजी के पास गया लेकिन बजाए मदद करने के पंडित ने सात साल के बच्चे का यौन शोषण किया। तो एक इस तरह से ओम का बचपन डिस्टर्ब्ड रहा है। ओमपुरी जब चौदह साल के थे उनके जीवन में एक टर्निंग प्वाइंट आया। यह वह दौर था जब ओमपुरी का संघर्ष शुरू हो चुका था। उसके आसपास कोई भी हमउम्र लड़की नहीं थी। उसने महिला के रूप में या तो अपनी मां को देखा था फिर मामी को या फिर मामी के घर काम करनेवाली पचपन साल की महिला शांति को। ओमपुरी का पहला शारीरिक संबंध यहीं बना।

टी.एस. इलियट ने ठीक ही कहा है कि केवल अतीत ही वर्तमान को प्रभावित नहीं करता है- वर्तमान भी अतीत को प्रभावित करता है। इस वक्त ओमपुरी के अतीत को उसका वर्तमान प्रभावित कर रहा था। किसी तरह दोस्तों की मदद और अपने कठिन परिश्रम की वजह से ओमपुरी ने अपनी पढाई पूरी की। यहां भी एक दिलचस्प प्रसंग है। यह सन 1965 -66 का दौर था और ओमपुरी लुधियाना में थे। एक दिन लुधियाना में सन 65 के पाकिस्तान युद्ध के विजेताओं का स्वागत देखकर ओमपुरी ने फौजी बनने की ठानी लेकिन उनके पिता ने ओमपुरी के इस सपने पर पानी फेर दिया और कठोरतापूर्वक फौज में जाने से मना कर दिया। ओमपुरी जब नौंवी क्लास में थे तो उनके मन में ग्लैमर की दुनिया में जाने की इच्छा होने लगी। एक दिन अखबार में उन्हें एक फिल्म के ऑडिशन का विज्ञापन दिखा। ओम ने उसके लिए अर्जी भेज दी। कुछ दिनों के बाद एक रंगीन पोस्टकार्ड पर ऑडिशन में लखनऊ पहुंचने का बुलावा था। साथ ही एंट्री फीस के तौर पर पचास रुपये लेकर आने को कहा गया था। तंगहाली में दिन गुजार रहे ओमपुरी के पास ना तो पचास रुपये थे और ना ही लखनऊ आने जाने का किराया, सो फिल्मों में काम करने का यह सपना भी सपना ही रह गया। यह फिल्म थी 'जियो और जीने दो।'

एक कहावत है ना कि जहां चाह वहां राह। वक्त के थपेड़ों से जूझता ओमपुरी दिल्ली आता है और नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा में एडमिशन ले लेता है। लेकिन यहां भी हिंदी और पंजाबी भाषा में हुई अपनी शिक्षा को लेकर उसके मन में जो कुंठा पैदा होती है वह उसे लगातार वापस पटियाला जाने के लिए उकसाती रहती है। उस वक्त के एनएसडी के निदेशक अब्राहम अल्काजी ने ओमपुरी की परेशानी भांपी और एम.के. रैना को उससे बात करने और उत्साहित करने का जिम्मा सौंपा। एक बार मन से कुंठा गायब हुई और ओमपुरी ने फिर पीछे मुड़कर नहीं देखा। एनएसडी के बाद ओमपुरी का अगला पड़ाव राष्ट्रीय फिल्म और टेलीविजन संस्थान, पुणे था। यहां एनएसडी में बने

दोस्त नसीरुद्दीन शाह भी ओम के साथ थे। जैसा कि आम तौर पर होता है कि पुणे के बाद अगला पड़ाव मुंबई होता है, वही ओम के साथ भी हुआ। मुंबई पहुंचकर शुरू हुआ फिल्मों में काम पाने के लिए संघर्षों का दौर। ओम को पहला असाइनमेंट मिला एक पैकेजिंग कंपनी के एक विज्ञापन में जिसे बना रहे थे गोविंद निहलानी। फिर फिल्में मिली और ओम मशहूर होते चले गए।

इस किताब में ओम पुरी के व्यक्तित्व का एक और पहलू सामने आता है वह है सेक्स को लेकर ओम का लगाव। ओम के जीवन में कई महिलाएं आती हैं, लगभग सभी के साथ ओम शारीरिक संबंध भी बनाते हैं। विवाह के बंधन में बंध पाने में असफलता ही हाथ लगती है। ओम की देहगाथा शुरू होती है चौदह साल की उम्र से जब वह पहली बार अपने से चार गुनी बड़ी उम्र की महिला से शारीरिक संबंध बनाता है। उसके बाद भी ओम की जिंदगी में आनेवाली महिलाओं की एक लंबी फेहरिश्त है। ओम का पहला प्यार रोहिणी थी, जिसने बाद में रिचर्ड ऐटनबरो की फिल्म गांधी में कस्तूरबा की भूमिका निभाई थी। कालांतर में फिर ओम के जीवन में उसके दोस्त कुलभूषण खरबंदा की दोस्त सीमा साहनी आई। सीमा प्रसिद्ध लेखिका इस्मत चुगताई और फिल्मकार शाहिद लतीफ की बेटी थी। दोनों के बीच लंबा रिश्ता चला लेकिन ग्लैमर की दुनिया में बिंदास अंदाज में जीने वाली सीमा को ओम के साथ संबंध रास नहीं आया क्योंकि वह शादी के बंधन में नहीं बंधना चाहती थी। फिर उसके जीवन में उसके दोस्त सुभाष की बहन बंगाली बाला माला डे आई। यहां भी शादी नहीं हो पाई। उसके बाद ओम के जीवन में उसके घर में काम करने वाली की बेटी लक्ष्मी से संबंध बने। एक समय तो ओम इस लड़की से शादी को तैयार होकर एक मिसाल कायम करना चाहते थे लेकिन जल्द ही सर से आदर्शवाद का भूत उतर गया और ओम ने लक्ष्मी से पीछा छुड़ा लिया।

इस बीच ओमपुरी को यश के साथ पैसा भी पर्याप्त प्राप्त हो रहा था। यहां लेखिका ने पुरुष मन में उठने वाले भावों, स्थिति विशेष में महिला को लेकर पुरुष मन में जगने वाली शंकाओं, और छोटे शहर से मायानगरी में आए एक व्यक्ति के मन को उहापोह को भी सामने लाने की कोशिश की है। एक ऐसा व्यक्ति जो ना तो छूटी जिंदगी को छोड़ पाता है और ना ही चुनी हुई जिंदगी को अपना पाता है और दोनों ओर खिंचाकर टूटता जाता है। फिल्म 'अर्धसत्य' ने ओमपुरी की पूरी जिंदगी बदल दी थी। 'अर्धसत्य' की जो भूमिका ओम ने निभाई थी वो पहले अमिताभ बच्चन को ऑफर की गई थी लेकिन व्यस्तता की वजह से अमिताभ ने वह प्रस्ताव ठुकरा दिया था और बाद में जो हुआ वह इतिहास है। इसके बाद ओम की जिंदगी में नंदिता आई और जीवन को दिशा और स्थिरता भी मिली, यश तो मिल ही रहा था। कुल मिलाकर अगर हम इस जीवनी पर बात करें तो एक साहित्यिक कृति के रूप में यह एक बेहद कमजोर कृति है जहां एक मशहूर फिल्म अभिनेता के संघर्ष की दास्तां को सेक्स की छौंक के साथ मार्केट करने की कोशिश की गई है। अंग्रेजी में जीवनी और आत्मकथा की बेहद लंबी और समृद्ध परंपरा रही है उसमें यह किताब कुछ भी नया नहीं जोड़ती है। इस पूरी किताब में स्थिति की एक अनिर्णयात्मकता, एकचित्तता का अभाव नजर आता है। जॉर्ज बर्नाड शॉ ने अपने एक प्रसिद्ध लेख में आत्मकथाओं को झूठ का पुलिंदा बताया है।

(लेखक टीवी पत्रकार और स्तंभकार हैं)

हिंदुस्तानी सिनेमा में भाषा का बदलता स्वरूप

एम.जे. वारसी

अगर हम हिंदुस्तानी सिनेमा के सौ साला सफर को देखेंगे तो हमें इसमें अवसर और रंगा-रंगी की बेशुमार झलकियां मिलती हैं। जब 1913 में पहली बार दादा साहब ने बिना आवाज के फिल्म 'राजा हरिशचंद्र' बनाई थी तो उन्हें उस वक्त यह गुमान भी न होगा कि अगले सौ सालों में हिंदुस्तानी सिनेमा करोड़ो लोगों के दिलचस्पी और इंटरटेनमेंट का जरिया बन जाएगा। और उसके बाद 1931 में पहली बोलती फिल्म 'आलम आरा' ने तो हिंदुस्तानी सिनेमा में इंकलाब बरपा कर दिया। पहली बोलती फिल्म 'आलम आरा' से लेकर आजतक हिंदी-उर्दू ने उसमें रंग और मिठास भरने का काम किया है। हिंदुस्तानी सिनेमा में 'हिंदी-उर्दू' की मिठास से हिंदुस्तान ही नहीं बल्कि सारी दुनिया में शुरू से लेकर आज तक लोग लुत्फ अंदाज होते चले आ रहे हैं। हिंदुस्तानी सिनेमा की सबसे खास बात मैं यह समझता हूं कि एक तरफ जहां हिंदुस्तानी फिल्मों ने लोगों को इंटरटेनमेंट का जरिया उपलब्ध कराया वहीं दूसरी ओर न सिर्फ हिंदुस्तान में बल्कि सारी दुनिया में हिंदुस्तानी फिल्मों ने भारतवासियों को अपनी संस्कृति और सभ्यता से जोड़े रखा, जिसे हम किसी आंदोलन से कम नहीं समझते।

जहां तक भारतीय सिनेमा में भाषा यानि हिंदी-उर्दू के प्रयोग का संबंध है तो हम कह सकते हैं कि भारतीय सिनेमा और हिंदी-उर्दू का चोली दामन का रिश्ता है। वैसे समय के बदलते परिवेश में अगर देखा जाए तो हमें पता चलता है कि भाषा के प्रयोग में भी बहुत बदलाव आया है। शुरू की फिल्मों में या यूं कहें, कि आरंभ के फिल्मों की जबान बिलकुल साफ, आसान और सादा हुआ करती थी वहीं आजकल के फिल्मों में फिर अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग बहुत अधिक होने लगा है। हाल ही में रिलीज हुई फिल्म 'गैंग आफ वासेपुर' को देखें तो आपको पता चलेगा कि सिनेमा में प्रयोग होने वाली भाषा कितनी बदल गई है। हम जानते हैं कि फिल्म और समाज के बीच एक बहुत ही प्रशस्त और गहरा रिश्ता होता है। जहां एक तरफ फिल्में समाज से विषयों का चुनाव करती हैं वहीं दूसरी और समाज पर अपना प्रभाव और असर भी डालती हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि भाषा के बदलाव का जो स्वरूप सिनेमा के जरिए हमारे सामने आ रहा है वह किस हद तक सही है? क्या यही भाषा हमारे जीवंत समाज और संस्कृति का मापदंड है? और अगर नहीं तो हम सबको सिनेमा में भाषा के इस तरह के प्रयोग पर सोचना होगा। अगर इतिहास पर नजर डालें तो पता चलता है कि बोल-चाल की भाषा में हमेशा से ही बदलाव आता रहा है। ज्यादातर लोगों तक पहुंचने का जरिया वही भाषा होती है जो आम लोगों में लोकप्रिय हो और लोगों के समझ में आसानी से आ जाती हो। मेरे एक मित्र आसिफ रमीज दाऊदी, जो सऊदी अरब में पिछले कई सालों से अंग्रेजी पढ़ा रहे हैं, हिंदुस्तानी सिनेमा में भाषा के बदलते स्वरूप पर उन्होंने बताया कि 'निःसंदेह सिनेमा में भाषा के इस्तेमाल में बहुत बदलाव आया है। पहले की फिल्मों

में अक्सर कलाकारों को भाषा की ट्रेनिंग लेनी पड़ती थी, भाषा का अपना एक अलग प्रभाव होता था। बोलने वालों की अपनी एक अलग शैली होती थी। कई बार तो बोलने की शैली या बोलने के अंदाज से ही कलाकार का पता चल जाता था लेकिन आज ऐसे भी कलाकार हैं जो हिंदी-उर्दू नहीं जानते हुए भी फिल्मों में काम कर रहे हैं जैसे कैटरीना कैफ को ही देखें, वह शुरू-शुरू में तो हिंदी बिलकुल ही नहीं जानती थीं। इन सब के बावजूद भाषा के प्रयोग में निरंतर बदलाव आता रहा है और आने वाली सदियों में भी आता रहेगा, क्योंकि बदलाव का आना प्रगति का सूचक भी होता है।

आज हिंदी-उर्दू अपने लचीलेपन का अधिक परिचय दे रही है। हिंदी-उर्दू दूसरे भाषाओं और बोलियों से उदारतापूर्वक शब्द ग्रहण कर रही है। यही कारण है की हिंदी-उर्दू केवल भारत ही में नहीं बल्कि विदेशों में भी हिंदुस्तानी सिनेमा की पहुंच की वजह से बहुत लोकप्रिय होती जा रही है। हम भाषा के इस बदलते परिवेश में हिंदी-उर्दू के इस नए चेहरे को बदलती परिस्थितियों की देन कह सकते हैं। पिछले दस सालों में हिंदी-उर्दू का यह चेहरा भूमंडलीकरण की धूप-छांव का सामना करते हुए निखरा है। कई मायनों में यह प्रगतिशील समाज और संस्कृति का प्रतिबिंब है जिसके फलस्वरूप हिंदी-उर्दू का यह नया चेहरा सामने आया है। खासकर भाषा के संदर्भ में सूचना माध्यमों के बढ़ते प्रभाव ने जिस तरह से सामाजिक परिवर्तन को तीव्रता प्रदान की है। संपूर्ण विश्व एक गांव का आकार ले रहा है, तो ऐसी स्थिति में हिंदी और इसका भाषिक स्वरूप समकालीन व्यवहार और परिवर्तन की बयार से कैसे बचा रह सकता है? आज हिंदी ने विश्व के मानचित्र पर जिस प्रकार का नया रूप धारण किया है, जिस मिलती-जुलती भाषिक संस्कृति के रूप में स्वयं को प्रस्तुत किया है,उसमें हिंदुस्तानी सिनेमा का बहुत बड़ा योगदान है। यही कारण है कि हम आज बड़े गर्व से कह सकते हैं कि हिंदी का यह नया रूप बहुत ही उदार, आकर्षक, लोकप्रिय और बहुरंगी है। हिंदी में नए-नए शब्दों का सृजन हो रहा है। हो सकता है कि आज नए शब्द सुनने में कानों को न भाएं लेकिन निकट भविष्य में यही शब्द किसी नए शब्दकोश का हिस्सा बन सकते हैं तथा सिनेमा के माध्यम से आम बोलचाल की भाषा का का रूप धारण कर सकते हैं। जिस प्रकार आज हिंदी-उर्दू का नया चेहरा भारतीय सिनेमा के जरिए विश्व के विभिन्न भाषाओं के बोलने वालों तक पहुंच रहा है उससे अंदाज लगाया जा सकता है कि भविष्य में हिंदी-उर्दू का चेहरा कितना सुंदर और आकर्षक होगा। आज दुनिया के किसी कोने में चले जाएं आप को हर मोड़ पर आसानी से हिंदी-उर्दू गानों और फिल्मों की सीडी-डीवीडी मिल जाएगी।

यह भी अपनी जगह सत्य है कि हमारे जीवन में बदलाव का आना स्वभाविक है और यही कारण है कि इतने सारी बदलाव के बावजूद हिंदी-उर्दू अपनी मिठास, लचक और अंदाज की वजह से करोड़ों लोगों के दिलों की धड़कन बनी रहेगी। आज हिंदी केवल भारत में ही नही बल्कि विदेशों में भी बहुत लोकप्रिय होती जा रही है और निश्चित रूप से इसके प्रचार-प्रसार का श्रेय हिंदी फिल्मों को ही जाता है। इसमें भी कोई शक नहीं कि हिंदी को फैलाने में विशेष रूप से विदेशों में युवा पीढ़ी फिल्मों के जरिए ही बोल-चाल की हिंदी जानते हैं। जो देश,समाज, या भाषा समय के साथ बदलाव को नहीं अपनाता वह प्रगति के रास्ते पर पीछे रह जाता है। हिंदी-उर्दू जो फिल्मों में बोली जाती है वही दरअसल आम बोल-चाल की भाषा है जो निश्चित तौर पर किताब की भाषा या फिर स्कूल के क्लास रूम में पढाई जाने वाली भाषा से बिलकुल अलग होती है। हिंदुस्तानी सिनेमा की भाषा में जो बदलाव देखने को मिल रहा है वह केवल हिंदी-उर्दू तक ही सीमित नहीं है बल्कि ऐसा बदलाव दुनिया के हर देश में बनने वाली फिल्मों में देखा जा सकती है।

(लेखक वाशिंगटन विश्वविद्यालय, सेंट लुइस में प्रोफेसर हैं)

बात बोलेगी :

भारतीय फिल्म-उद्योग : फाल्के और फलक

संजीव

कथा-कथन या अभिव्यक्ति की प्राचीनतम विधा भाषा और श्रुति हैं तो नव्यतम है सिनेमा। सौ साल में ही सन 1911 की टेक्नोलॉजी ने देखते ही देखते न सिर्फ अभिव्यक्ति की सारी विधाओं को पीछे छोड़ दिया बल्कि जबर्दस्त लोकप्रियता भी हासिल कर ली। 1849 में स्टिल फोटोग्राफी का विकास होता है और 1889 में इन स्थिर चित्रों को सचल करने की तकनीक हासिल हो जाती है। सन 1911 में दादा साहब फाल्के इस तकनीक के विकासक्रम में पहली भारतीय फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' का निर्माण करते हैं- मूक फिल्म रिलीज होती है 1913 में। थोड़े ही अंतराल पर मूक फिल्में बोलने लगती हैं। अपने यहां इसका श्रेय 1913 में 'आलम आरा' को जाता है। तब से आज तक तकनीक विकसित होती रही और 30 अप्रैल 1870 को जन्मे फाल्के का फलक कहां से कहां जा पहुंचा। लेकिन फाल्के की आत्मा...?

बनाने को दादा साहब फाल्के भी इस विधा को पैसा कमाऊ मनोरंजन का माध्यम बना सकते थे, मगर उन्हें लगा कि इस सशक्त माध्यम का उपयोग चरित्र निर्माण में ही किया जाना चाहिए। आज का हाल यह है कि यह माध्यम पैसे कमाने का जरिया बन चुका है। शाहरुख खान की 'चेन्नई एक्सप्रेस' ने बॉक्स आफिस के पिछले सारे रिकार्ड तोड़ दिए हैं, एक छिछली मनोरंजक फिल्म ने रिकार्ड तोड़ दिया है और प्रचार की आंधी बहती फूली नहीं समा रही है। ऐसी आंधियों में कोई उन फिल्मों या टी.वी. सीरियलों की बात नहीं करता जो चरित्र निर्माण या बेहतर इंसान बनाने का स्वस्थ्य मनोरंजन देती हैं। कहां गई ऋषिकेश मुखर्जी की 'सत्यकाम' जैसी सैकड़ों उत्कृष्ट फिल्में क्यों नहीं हो पाईं प्रोमोट। क्यों बंद हो गए 'भारत एक छाप' और 'उपन्यास' जैसे उम्दा सीरियल किसने बना दिया किसानों की आत्महत्या जैसे बेहद संजीदा मसले को 'पिपली लाइव' जैसी हल्की फिल्में, (गो, उसमें मीडिया के रोल को एक्सपोज भी किया गया, पर वैसे मर्मांतक मसले पर हम वैसी ही फिल्म की अपेक्षा कर सकते थे)। पिंडारियों के बारे में हम सबको पता है कि वे टिड्डियों के दल की तरह टूट पड़ने वाले अपराधी लुटेरे थे, उस पर सलमान खान ने कहानी लिखी और फिल्म बनाई, 'वीर' जो पिंडारियों के कलंकित यथार्थ को धवल बनाती है- सत्य का विरूपण। मेरी बड़ी इच्छा थी कि 'फरार' देखूं, देखूं कि अभिनेता सलमान कैसी कहानी लिखते हैं, लेकिन जब उसके बारे में सुना तो इच्छा मर गई। अंबानी बंधु, सलमान, शाहरुख, आमिर खान, प्रकाश झा, चोपड़ा परिवार, संजय लीला भंसाली आदि के पास प्रचुर पैसा है और भारतीय वांड्मय में अच्छी, कहानियों की भी कोई कमी नहीं, पर इस पर पैसा खर्च करना फिजूल समझते हैं। वे पैसे वहीं खर्च करेंगे जहां एक का दस बनाया जा सके। पैसों के अभाव में राष्ट्रपति की स्वर्णकमल विजेता फिल्म 'चोख', स्मिता पाटिल की

अंतिम फिल्म 'देव शिशु' और रवींद्रनाथ टैगोर सिरीज की नायाब फिल्म, 'अपरिचित' बनाने वाले प्रख्यात निर्देशक उत्पलेंदु चक्रवर्ती आगे कोई फिल्म न बना सके। मित्र थे। कुल्टी' (प. बंगाल) में मेरे घर आए तो एक ही तलाश थी- फाइनेंसर की। वे जिस ढंग की दृष्टि संपन्न' स्तरीय फिल्में बनाते थे, उनके लिए मैं अपने इलाके से उन्हें कोई फाइनेंसर न दिला सका। आज कोलकाता की जाने किस अंधेरी गली में गुम हैं। उत्पलेंदु जैसी न जाने कितनी प्रतिभाएं कहां-कहां दम तोड़ रही है जबकि फिल्म का बाजार सजता जा रहा है।

हिंदी सिनेमा या कहें भारत की मुख्यधारा के सिनेमा में कुछ एक अपवादों को छोड़ दें तो करोड़ों के इतराते बजट में सबसे ज्यादा मिलता है अभिनेता, अभिनेत्री, संगीत निर्देशक, नृत्य निर्देशक, मारपीट के दृश्यों के निर्देशक, आइटम सांग्स...आदि को। फिल्म के बजट का एक बड़ा भाग जाया होता है प्रोमोशन या प्रचार पर। इस पूरे आयोजन-प्रयोजन में सबसे उपेक्षित चीज है कहानी, स्टोरी, जिस पर फिल्म का विशाल रंगारंग जलसाघर खड़ा होता है। स्टोरी भी कोई सिर खपाने की चीज है भला। हर बड़े फिल्मकार का एक अपना स्टोरी डिपार्टमेंट होता है, जिसमें पूरे विश्व की बौद्धिक संपदा से चुन-चोंथ कर कहानी सजा देने वाले उसके श्रमिक-लेखक बैठे हैं (श्रमिक मधुमक्खियों की तरह जो बांझ या नपुंसक होती हैं) कभी-कभी आप जिस फिल्म को कथा का सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार पाते हुए देख रहे होते हैं, वह दरअसल इन्हीं श्रमिक मधुमक्खियों का संग्रहीत मधु होता है, उनका नहीं, जिनका नाम बिक रहा है। इनमें से कुछ तो परले दर्जे के 'जो हुक्म मेरे आका' वाले या शेखचिल्ली होते हैं। सुन लिया कि एक अच्छी फिल्म बनकर आई है बस उसके रिलीज होने में अड़ंगा लगाकर आनन-फानन में उसकी भोंडी नकल बाजार में उतार दी। कई नाम आप भी जानते होंगे। इधर मुंबई के मेरे एक नए फिल्मकार मित्र फाइनेंस कंपनियों और चिटफंड आदि की धांधली पर एक फिल्म डिस्कस कर ही रहे थे, कि उसी विषय पर एक बेहद मजाकिया छिछली फिल्म आ गई। शायद कहीं अन्यत्र सलाह मशविरा लेते समय किसी शातिर ने सुन ली थी।

वैसे भी साहित्यिक कृतियों या क्लासिक्स पर फिल्में बनाने में पैसे लगाने का मतलब लोग पैसा डुबाना मानते हैं। या तो उसमें ग्लैमर या कॉमर्शियल फिल्म की चाशनी डालिए या संतोष करके बैठिए। विज्जी की दुविधा (बाद में पहेली), 'चरणदास चोर', 'परिणति' में 'पहेली' प्रेमचंद की 'मजदूर', 'हीरा मोती', 'गबन', 'गोदान', 'सदगति', 'शतरंज के खिलाड़ी' में 'हीरा मोती', 'भगवतीचरण वर्मा' की चित्रलेखा में दूसरी बार बनी 'चित्रलेखा', फणीश्वरनाथ रेणु की 'तीसरी कसम' और महाश्वेता देवी की बांग्ला की कहानी पर हिंदी फिल्म 'रूदाली', आर.के. नारायण की कहानी पर विजय आनंद की 'गाइड', बांग्ला लेखक जरासंघ की 'लौह कपाट' पर विमल राय की 'बंदिनी' जैसी कुल जमा दर्जन भर कहानियां ही सफल फिल्मों में कायांतरित हो पाई हैं। 'सफल' का मतलब लोकप्रियता या बॉक्स ऑफिस। किसी हद तक मन्नू भंडारी की 'रजनीगंधा' और राजेंद्र यादव की 'सारा आकाश' भी। शैवाल की कथा पर बनी 'दामुल' ने तो राष्ट्रपति का स्वर्ण कमल भी जीता पर इसका श्रेय प्रकाश झा ले गए, शैवाल नहीं। अमृता प्रीतम के उपन्यास पर बनी 'पिंजर' कोई करिश्मा न कर सकी। यही हाल रहा निर्मल वर्मा की कहानी पर आधारित फिल्म 'माया दर्पण का।' काशीनाथ सिंह की 'काशी का अस्सी' अभी तक रिलीज नहीं हो पाई। बनने को तो हिंदी की कालजयी कहानी चंद्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था' धर्मवीर भारती के उपन्यास 'गुनाहों के देवता' और 'सूरज का सातवां घोड़ा', विनोद

कुमार शुक्ल के उपन्यास 'नौकर की कमीज' कहानी 'बोझ', 'पेड़ पर कमरा' पर मणि कौल ने फिल्में बनाई, एन.एस.डी. ने भी 'आदमी की औरत' और 'पेड़ पर कमरा' पर फिल्म बनाई, जिसे वेनिस फिल्म फेस्टीवल में पुरस्कार भी मिला। शिवमूर्ति की 'तिरिया चरित्तर', पर 'तिरिया चरित्र' प्रियंवद की कहानी पर 'अनवर', उदय प्रकाश की कहानी 'मोहनदास' पर 'मोहनदास' आदि भी बनीं। सैकड़ों पाइपलाइन में भी हैं, पच्चीसियों डिब्बे में बंद पर बॉक्स आफिस या जनसामान्य के मन-मस्तिष्क पर कोई छाप न छोड़ पाईं। एमिल जोला के महान उपन्यास 'जर्मिनल' पर बनी शत्रुघ्न सिन्हा की फिल्म 'कालका' को याद रखने वाले कितने हैं।

ऐसा क्यों होता है कि हिंदी में अच्छी कहानियों की ओर निर्माता-निर्देशक आकर्षित ही नहीं होते, होते भी है तो वह बात नहीं आ पाती। मेरा ख्याल है, फिल्म कहानीकार और निर्देशक दो बौद्धिक प्रतिभाओं का द्वंद्व है- Conflict of two personalities से खिंच और पिट जाने का खतरा ज्यादा होता है। कहानी कहानीकार की एकल विधा है जबकि फिल्मकार की सामूहिक विधा। यह टकराहट दो प्रतिभाओं की ही नहीं दो विधाओं की भी होती है। फिल्म को निर्देशक के ऊपर छोड़ा जाना ही श्रेयस्कर होता है। अक्सर देखा गया है कि कमजोर कहानियों पर ही ज्यादा अच्छी फिल्में बनी हैं। फिर जनता मनोरंजन चाहती है, पैसा लगाने वाले अपना मुनाफा। ऐसे में कहानीकार का अपनी कहानी की शुद्धता की मांग की टेक पर अड़ा रहना कहां तक समीचीन है। कोई बीच का रास्ता निकालना होगा- 'रामकाज कछु मोरनिहोरा'....। केतन मेहता की 'मिर्च मसाला', असित सेन और ऋषिकेश मुखर्जी तथा अतीत के विमल राय और वी. शांताराम की फिल्में कुछ मॉडल्स हो सकती हैं। 24 कैरेट सोने से अच्छा आभूषण नहीं बनता (अभी हमारी वृहतर आबादी का वह संस्कार नहीं बना है), उसमें कुछ खाद मिलानी पड़ती है। अफसोस, अब खाद ही ज्यादा है, सोना कहने भर का ही।

सब कुछ ठीक-ठाक हो, तो भी फिल्म बनने और उसके सफल होने का मामला प्रचार, प्रोमोशन, समय और संयोग का मुहताज हो जाता है। इतने बड़े फिल्म उद्योग में कहां क्या चल रहा है, पूरी तरह जानने का दावा करना भी बड़बोलापन है। मैं अपने उदाहरण से कुछ समझने की कोशिश करता हूं :

1. मेरी कहानी 'फुलवा का पुल' और जीलानी बानो की एक उर्दू कहानी को मिलाकर श्याम बेनेगल ने भ्रष्टाचार पर एक फिल्म बनाई 'वेल डन अब्बा', मेरी कहानी दाल में नमक के बराबर थी। यूं श्याम बेनेगल की दृष्टि और आंचलिक संस्पर्श पर आप मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकते।

2. जी.टी.वी. ने एक फिल्म बनाई थी 'काला हीरा' जो मेरे उपन्यास कोयला खान दुर्घटना के उपन्यास 'सावधान नीचे आग है' के एक अंश पर आधारित थी। कोयले पर फिल्म निर्देशक को निर्देश दिए गए थे कि कालापन न दिखे...हां कुछ 'लव-वव' डाल सकें तो बेहतर।

3. एन.एस.डी. ने 'अपराध' पर फिल्म- बनाई जो किसी काम की नहीं थी। मुख्य वजह बजट का अभाव।

4. प्रकाश झा ने 'हिमरेखा' को फीचर फिल्म के लिए अनुबंधित किया, करार के पैसे भी दे दिए पर फिल्म प्रोड्यूसर और निर्देशक के झगड़े के बीच झूल गई वह अभिशप्त अहिल्या।

5. अरविंद सिन्हा ने एक कहानी ली, 'डोमकच' (औरतों के रतजगा) पर मगर पैसे लगाने वालों से संयोग नहीं बैठ पाया। वे उसकी अहमियत को समझ ही न पाए। लेखक को पैसे देना

नागवार लग रहा था।

6. 'तीसरी कसम' के रीमेक की स्क्रिप्ट भी धूल खा रही है। एक आह-सी उठती है। बड़ी मेहनत से लिखी थी। भाई उमाशंकर सिंह सहयोगी थे, अब शायद सलमान खान के साथ हैं।

7. ऐसी ही कुछ और कहानियां, उपन्यास और चीजें... पर अपना दर्द तब नगण्य लगने लगता है, जब मैं उस इतिहास पुरुष के दर्द को याद करता हूं। 95 बड़ी और 26 छोटी फिल्में बनाने वाले प्रथम भारतीय फिल्मकार दादासाहब फाल्के के अंतिम दिन मुफलिसी में गुजरे और सुनते हैं कि सन 1944 में जबकि वे अपनी पूरी सामर्थ्य लगाकर अपनी सबसे सशक्त फिल्म बनाने वाले थे तत्कालीन केंद्र सरकार ने फिल्म निर्माण के लिए लाइसेंस लेने का प्रावधान अनिवार्य कर दिया। फाल्के साहब ने लाइसेंस के लिए आवेदन किया। राष्ट्रीयता का दौर था या कोई अन्य कारण, उनका आवेदन अस्वीकृत हो गया। भारतीय फिल्मों के जनक का आवेदन नामंजूर। यह सदमा वे बर्दाश्त न कर सके और 4-6 दिन बाद 16 फरवरी 1944 को इस बेरहम जहां से कूच कर गए।

(लेखक वरिष्ठ कथाकार हैं)

भोजपुरी सिनेमा का बढ़ता संसार

कुमार नरेन्द्र सिंह

वह भी एक समय था, जब हिंदी फिल्मों में भोजपुरी का इस्तेमाल महज नौकर का किरदार निभाने वाले कलाकार की भाषा के रूप में होता था। हिंदी फिल्म निर्माताओं के लिए भोजपुरी एक गंवारू भाषा थी, जिसकी जगह कलाकारों, निर्माताओं के आलीशान ड्राइंग रूम में नहीं, बल्कि सर्वेंट क्वार्टर्स में हुआ करती थी। अनपढ़ों की भाषा के रूप में भी भोजपुरी का ही इस्तेमाल होता रहा था। लेकिन आज स्थिति बदल चुकी है और अब भोजपुरी भाषा सर्वेंट क्वार्टर से निकल कर ड्राइंग रूम तो क्या, बड़े-बड़े निर्माताओं, नायक-नायिकाओं के बेड रूम के गद्देदार गलीचों पर भी पसर चुकी है। अब वह नौकरों, गंवारों की भाषा नहीं रही, बल्कि एक ऐसी दुधारू गाय में तब्दील हो चुकी है, जिसकी दो लात सहने के लिए फिल्मी दुनिया के बड़े-बड़े दिग्गज तैयार रहते हैं। अब भोजपुरी नौकरानी नहीं, महारानी बन गई है, जिसके सामने दूसरी भाषाओं की फिल्में पानी भरती नजर आती हैं। सबसे महत्वपूर्ण बात तो यह है कि भोजपुरी फिल्मों ने अपनी यह हैसियत खुद के बूते पर बनाई है, उस पर किसी खुदा की मेहरबानी नहीं रही लेकिन उसकी यह हैसियत यूं ही आमद नहीं हुई है, बल्कि इसके लिए उसे भगीरथ प्रयत्न करने पड़े हैं। राहें कठिन थीं और साधन सीमित, लेकिन उठते-गिरते और लड़खड़ाते हुए भोजपुरी सिनेमा ने अपना मुकाम हासिल कर ही लिया। आज भोजपुरी फिल्में गांव की गलियों और खेत-खलिहानों से निकलकर सिंगापुर, हांगकांग, लंदन और न्यूयॉर्क जैसे चमचमाते विदेशी शहरों तक में धमक दे रही हैं, दुबई में बिरहा दंगल हो रहा है।

यूं तो भोजपुरी की पहली फिल्म 'गंगा मइया तोहे पियरी चढ़इबो' थी, लेकिन मुंबइया फिल्मों में भोजपुरी का प्रवेश गीतों के माध्यम से पहले ही हो चुका था। वर्ष 1948 में किशोर साहू के निर्देशन में बनी फिल्म 'नदिया के पार' रिलीज हुई। यह फिल्म मछुआरों की जिंदगी पर आधारित थी और इसके संवाद अवधी भाषा में थे। इस फिल्म के आठ गीत भोजपुरी में थे, जिन्हें मोती बी. ए. ने लिखा था। इन गीतों की धुन इतनी प्यारी बन पड़ी थी कि जो सुनता, सुनते ही रह जाता। राह चलते लोग खड़े होकर गीतों की बारिश में भींगने लगते। इसी तरह 1951 में बनी 'माया' तथा 1962 में बनी 'गोदान' फिल्म में भी भोजपुरी गीत का इस्तेमाल किया गया था। दरअसल, भोजपुरी गीतों की लोकप्रियता को भुनाने के लिए ही उसका इस्तेमाल हिंदी फिल्मों में किया जाता था। यानी भोजपुरी गीत हिंदी फिल्मों की सफलता की सीढ़ी हुआ करती थी।

हिंदी फिल्मों के माध्यम से भोजपुरी गीतों की खुशबू तो जरूर फैल रही थी, लेकिन कोई निर्माता संपूर्ण भोजपुरी फिल्म बनाने को तैयार नहीं था। बहरहाल, वह शुभ घड़ी आखिरकार

आ ही गई, जिसका इंतजार एक लंबे समय से किया जा रहा था। छठें दशक के शुरुआती दिन थे। खांटी भोजपुरिया नाजिर हुसैन भोजपुरी में फिल्म बनाने के लिए बेचैन थे। इसकी प्रेरणा उन्हें भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्र प्रसाद से मिली थी। इस सिलसिले में नाजिर हुसैन अनेक निर्माताओं से मिले, लेकिन सभी ने उन्हें हतोत्साहित ही किया। बहुत प्रयास के बाद उन्हें एक निर्माता तो मिला, लेकिन कहानी सुनने के बाद उसने कहा कि कहानी अच्छी है, लेकिन बेहतर यही होगा कि आप इसे हिंदी में बनाइए। उसकी इस बात पर नाजिर हुसैन का जवाब था, 'फिलिमवा तो बनबे करी बाकी भोजपुरिए में बनी (फिल्म तो बनेगी ही, लेकिन भोजपुरी में ही बनेगी)।' इसके बाद नाजिर हुसैन 'गंगा मइया तोहे पियरी चढ़इबो' की स्क्रिप्ट लेकर निर्माताओं के दरवाजे खटखटाने लगे और आखिरकार विश्वनाथ शाहाबादी के रूप में उन्हें भोजपुरी फिल्मों का पहला निर्माता मिल ही गया। इस फिल्म के निर्देशक बने कुंदन कुमार, जबकि नायक-नायिका के रूप में सुजीत कुमार और कुमकुम का अवतार हुआ। इसके गीत लिखे थे महान गीतकार स्वर्गीय शैलेंद्र ने और संगीत से संवारा था चित्रगुप्त ने। 16 फरवरी, 1961 को पटना के शहीद स्मारक में इस फिल्म का मुहूर्त समारोह संपन्न हुआ और दूसरे दिन से इसकी शूटिंग शुरू हो गई। फिल्म के लिहाज से यह भोजपुरी की एक लंबी छलांग थी और इसी के साथ नाजिर हुसैन को भोजपुरी फिल्म के पितामह की पदवी मिल गई। 1962 में रिलीज हुई और महज पांच लाख रुपये में बनी इस फिल्म ने 75 लाख रुपये की कमाई की। यह फिल्म जबर्दस्त रूप से सफल रही। लोगों ने इसे सर आंखों पर लिया। इसकी लोकप्रियता का आलम यह था कि इसे देखने के लिए गांव-गांव से बहू-बेटियां बैलगाड़ियों में बैठकर शहर के सिनेमा हॉल्स में जाती थीं। जहां तक गीतों की बात है, तो वे इतने सुमधुर और कर्णप्रिय थे कि सुनने से लोगों का मन ही नहीं भरता था। इस फिल्म के गीतों से पूरा उत्तर भारत गुंजायमान हो उठा।

'गंगा मइया तोहे पियरी चढ़इबो' की सफलता से प्रेरित होकर अनेक निर्माताओं ने भोजपुरी फिल्मों का रुख किया और कई फिल्मों का निर्माण किया, 'जैसे लागी नाहीं छूटे रामा', 'हमार संसार', 'बिदेसिया', 'मीतवा', 'कब होइहें गवनवा हमार', 'नइहर छुटल जाए', 'भौजी' आदि लेकिन 'लागी नाहीं छूटे रामा' और 'बिदेसिया' को छोड़कर अन्य फिल्मों को अपेक्षित सफलता नहीं मिली। बहरहाल, कुल मिलाकर भोजपुरी फिल्मों की सफलता का दौर जारी रहा। इस दौर की फिल्मों की सफलता का कारण यह था कि वे भोजपुरी वातावरण में रची-बसी थीं और उनमें गंवई संस्कृति को सूक्ष्मता से दर्शाया गया था। इन फिल्मों में गीत-संगीत, खेत-खलिहान और खेल से लेकर मुहावरे, लोकोक्तियां और कहावतें भोजपुरी अंचल के जीवंत दस्तावेज की तरह हैं। इतना ही नहीं, ये फिल्में सार्थक संदेश देने में भी कामयाब रहीं। संक्षेप में कहें तो इस दौर की फिल्मों में भोजपुरिया माटी की सोंधी खुशबू थी, जो अनायास लोगों को अपने से जोड़ लेती थी। नाजिर हुसैन की 'हमार संसार' तो एक ऐसी फिल्म थी, जो किसी हिंदी कला फिल्म से कतई कमतर नहीं थी, लेकिन बॉक्स ऑफिस पर वह कोई कमाल नहीं कर पाई। इस फिल्म में चित्रित यथार्थ को दर्शक स्वीकार नहीं पाए और फिल्म फ्लॉप हो गई। यह भोजपुरी फिल्म निर्माताओं के लिए एक ऐसा झटका था कि इसके बाद किसी भी निर्माता ने लीक से हटकर फिल्म बनाने की कोशिश नहीं की। इसका परिणाम यह हुआ कि भोजपुरी यथार्थ पर आधारित फिल्म बनाने की संस्कृति भोजपुरी में पनप ही नहीं पाई। इसके विपरीत

भेड़चाल वाली फिल्मों का बाजार बढ़ता रहा।

भोजपुरी फिल्मों का दूसरा दौर (1967 से 1976) बड़ा ही निराशाजनक रहा। इस काल खंड में भोजपुरी फिल्में लगभग अनुपस्थित रहीं। ऐसा लगने लगा, जैसे भोजपुरी सिनेमा की मौत हो गई। वैसे सच तो यह है कि इस दौरान हिंदी सिनेमा उद्योग भी मंदी के दौर से गुजर रहा था। इसके अलावा सिनेमा के क्षेत्र में अनेकानेक प्रयोग हो रहे थे। हिंदी सिनेमास्कोप और 70 एमएम की फिल्में बनने लगीं थीं और निर्माण भी महंगा हो गया था। यह रंगीन फिल्मों का दौर था। भोजपुरी सिनेमा इस बदलती दुनिया के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने की ताकत पैदा करने में नाकामयाब रहा। जिस तकनीकी बदलाव की जरूरत थी, उसके लिए भोजपुरी निर्माताओं के पास पर्याप्त धन नहीं था, इसलिए भोजपुरी फिल्में पिछड़ती गईं लेकिन उनके पिछड़ने का सबसे बड़ा कारण था विषय-वस्तु का दोहराव। लगभग हर फिल्म की पटकथा एक जैसी होने लगी। ऐसे में दर्शक भोजपुरी फिल्मों से ऊब गए और उन्हें देखना बंद कर दिया। 1967 से लेकर 1977 तक भोजपुरी फिल्मों का बाजार ठप ही रहा। अब भोजपुरी फिल्म निर्माताओं को इस तथ्य का पूरी तरह एहसास हो गया कि यदि उन्हें बाजार में टिकना है, तो नई तकनीक अपनाने और रंगीन फिल्म बनाने के सिवा उनके पास कोई अन्य राह नहीं है। लेकिन इस कठिन राह पर चलने के लिए अधिकांश निर्माता तैयार नहीं थे। ऐसे समय में यह जिम्मेदारी उठाने का जोखिम लिया बच्चू साह ने, जिन्होंने 'बिदेसिया' फिल्म बना कर काफी नाम कमाया था। बच्चू साह ने सुजीत कुमार और मिस इंडिया प्रेमा नारायण को लेकर 1977 में दंगल फिल्म का निर्माण किया। यह भोजपुरी की पहली रंगीन फिल्म थी और इसी के साथ भोजपुरी फिल्मों का दूसरा दौर भी शुरू हो गया,जो 1982 तक चला। चूंकि एक लंबे अर्से के बाद कोई भोजपुरी फिल्म आई थी और वह भी रंगीन, लिहाजा दंगल ने बॉक्स ऑफिस पर भी दंगल जीत लिया। नदीम-श्रवण के संगीत ने सोने में सुहागा का काम किया। फिर क्या था, भोजपुरी फिल्म निर्माण का सिलसिला एक बार फिर शुरू हो गया और देखते ही देखते 'बलम परदेसिया', 'धरती मइया' और 'गंगा किनारे मोरा गांव' जैसी भोजपुरी फिल्में सुनहले पर्दे पर धमाल मचाने लगीं। भोजपुरी फिल्मों के दूसरे दौर का सफर काफी कामयाब रहा और फिल्मों ने खूब कमाई की। इसके साथ ही भोजपुरी फिल्मों का फलक बड़ा होने लगा। अब भोजपुरी फिल्में उन जगहों पर भी दिखाई जाने लगीं, जहां पहले उनका कोई वजूद नहीं था। इस दूसरे दौर में सैकड़ों फिल्में बनीं और कुछ फिल्मों ने जबर्दस्त व्यावसायिक सफलता भी अर्जित की, लेकिन कुल मिलाकर इसे बुरा दौर कहना ही उचित होगा। 1983 में ग्यारह फिल्में बनीं, जबकि 1984 में नौ, 1985 में छह और 1986 में 19 फिल्में बनीं। इनमें से मोहन प्रसाद की 'हमार भौजी', राज कटारिया की 'भैया दूज', लालजी गुप्त की 'नइहर के चुनरी', मुक्तिनारायण पाठक की 'पिया के गांव' और रानीश्री की 'दुल्हा गंगा पार के', ने बॉक्स ऑफिस पर कामयाबी के परचम लहराए। इस सफलता के बावजूद इस दौरान भोजपुरी फिल्में सिनेमा हॉल्स में कब लगीं और कब उतर गईं, पता ही नहीं चलता था। जो फिल्में चलीं भी, वे इसलिए नहीं चलीं कि उनकी कथावस्तु विशेष थी या उनमें कोई कमाल था, बल्कि सिर्फ इसलिए चलीं कि उनके गीत-संगीत कर्णप्रिय थे।

भोजपुरी फिल्मों का तीसरा और वर्तमान दौर 2003 में मनोज तिवारी तथा रानी चटर्जी अभिनीत 'ससुरा बड़ा पैसे वाला' से शुरू होता है। इस फिल्म ने व्यावसायिक सफलता के सारे

कीर्तिमान ध्वस्त कर डाले। महज 30 लाख रुपये की लागत से बनी इस फिल्म ने बॉक्स ऑफिस पर 9 करोड़ रुपये बटोरे। 'ससुरा बड़ा पैसे वाला' की सफलता से प्रेरित होकर मोहनजी प्रसाद ने रवि किशन को लेकर 'सैयां हमार' और 'सैयां से कर द मिलनवा हो राम' फिल्में बनाईं। ये फिल्में हिट रहीं, लेकिन उनकी अगली फिल्म 'पंडित जी बताईं ना बियाह कब होई' को दर्शकों ने सिर-आंखो पर बिठाया। भोजपुरी फिल्मों की सफलता की कहानी अब हिंदी फिल्मी कलाकारों तक पहुंचने लगी और वे भोजपुरी फिल्मों की ओर रुख करने लगे। अमिताभ बच्चन, अजय देवगन, जूही चावला, मिथुन चक्रवर्ती आदि जैसे नामी-गिरामी सिने कलाकार भी अब भोजपुरी फिल्मों की ओर रुख करने लगे। सुभाष घई, सायरा बानू और राजश्री प्रोडक्शन भोजपुरी फिल्में बनाने लगे। जो फिल्म निर्माता और अदाकार कल तक भोजपुरी फिल्मों के नाम पर नाक-भौं सिकोड़ा करते थे, अब वे उसमें अपनी सफलता और व्यवसाय की तलाश करने लगे। कोई यह न समझे कि इन कलाकारों व निर्माताओं का उद्देश्य भोजपुरी फिल्मों को बढ़ावा देना था, उनके लिए तो यह महज कमाई का एक बेहतर जरिया था। अब भोजपुरी फिल्में अपने परिवेश से अलग अपने लिए एक नया संसार रचने लगीं। इस नए संसार की केवल भाषा भोजपुरी थी, बाकी सबकुछ अनचिह्ना और अनजाना था। इस दौर में न सिर्फ भोजपुरी फिल्मों का बजट बढ़ गया, बल्कि उनकी शूटिंग आरा, छपरा, बलिया में न होकर सिंगापुर, हांगकांग, लंदन और न्यूयॉर्क तक होने लगी, दुबई में भोजपुरी की दुकान सजने लगी। अपने परिवेश और संस्कृति से कटे होने के बावजूद यदि भोजपुरी फिल्में सफल होती रहीं, तो इसका कारण यह लगता है कि भोजपुरी अंचल ने भी वैश्विक मूल्यों को स्वीकार कर लिया है। अब इन दर्शकों को यह देखकर अटपटा नहीं लगता कि उनका हीरो बिलकुल आधुनिक परिधान में नजर आता है और तमाम लटके-झटकों के साथ रहता है। भोजपुरी फिल्मों की सफलता से तो ऐसा लगता है, जैसे इसके सामने कोई चुनौती है ही नहीं। बहरहाल, तो क्या मान लिया जाए कि भोजपुरी फिल्मों की राह बड़ी सुगम है और उसके पथ में कोई बाधा नहीं है?

ठीक है कि भोजपुरी फिल्मों ने एक लंबा सफर तय किया है और अपने लिए जमीन भी बनाई है, लेकिन कुल मिलाकर आज भी उसका सफर प्रचार-प्रसार तक ही सीमित है। इसमें कोई शक नहीं कि भोजपुरी फिल्मों का भूगोल बढ़ा है, लेकिन उसका समाजशास्त्र तो कुंद ही हुआ है। आज की भोजपुरी फिल्में भले ही व्यावसायिक सफलता हासिल कर रही हों, लेकिन इस सफलता में उसकी पहचान और अस्मिता भी तिरोहित होती जा रही है। भाषा और भाव दोनों ही स्तरों पर भोजपुरी मार खा रही है। आज फिल्मों में जिस भोजपुरी भाषा का इस्तेमाल हो रहा है, वह न जाने कहां की भोजपुरी है। अजीब तो यह लगता है कि भोजपुरी फिल्मों में एक ही परिवार के सदस्य अलग-अलग तरह की भोजपुरी बोलते नजर आते हैं। इतना ही नहीं, उसे भोजपुरी कहना भी भोजपुरी भाषा का अपमान है। संवाद का तो कहना ही क्या? वे इतने अश्लील और फूहड़ होते हैं कि सुनने में भी शर्म आती है। द्विअर्थी और भोंडे संवादों के चलते भोजपुरी फिल्में अश्लीलता का पर्याय बनकर रह गई हैं। वास्तव में भोजपुरी फिल्में हिंदी फिल्मों की निकृष्ट फोटोकॉपी बन गई हैं, जहां न तो संस्कृति के लिए कोई जगह है और न बेहतर करने का कोई दबाव। यही कारण है कि आज की भोजपुरी फिल्में अपने परिवेश और सामाजिक सरोकारों से पूरी तरह कटी हुई हैं।

पहले की अपेक्षा आज अधिक भोजपुरी फिल्में बन रही हैं, लेकिन उनकी विषय वस्तु

लगभग समान ही रहती है। फिल्मों की सफलता मूल रूप से आइटम सांग पर ही निर्भर करती है। वैसे भोजपुरी फिल्मों में आइटम सांग शुरू से ही रहा है और वह भोजपुरी समाज की सहज संस्कृति से ही आई है। भोजपुरी प्रदेशों में मांगलिक या विशेष अवसरों पर नाच-गान की एक समृद्ध परंपरा रही है। भोजपुरी फिल्म निर्माताओं ने उस परंपरा को ही फिल्मों में सजाया है। लेकिन आजकल जो आइटम सांग प्रदर्शित हो रहे हैं, वे हिंदी फिल्मों के घटिया वर्जन लगते हैं। ऐसे में सबसे पहली जरूरत यह है कि भोजपुरी फिल्में अपनी सभ्यता, संस्कृति से संपृक्त हों और प्रगतिशील परंपराओं का उन्नयन हो, अन्यथा उनका प्रसार तो जरूर होगा, लेकिन पैठ कभी नहीं बनेगी। भोजपुरी की सफल फिल्मों पर यदि नजर डालें, तो यह जल्दी ही स्पष्ट हो जाता है कि वे ही फिल्में अधिक सफल रही हैं, जिनकी जड़ें भोजपुरी समाज में रही हैं। भोजपुरी फिल्मों की राह में एक बहुत बड़ी बाधा यह है कि भोजपुरी प्रदेशों में फिल्म शूटिंग की कोई सुविधा नहीं है। यानी भोजपुरी फिल्मों ने अपने लिए ढांचागत सुविधाएं जुटाने में नाकामयाब रही है। हिंदी फिल्मों की तरह भोजपुरी फिल्मों का निर्माण भी मूल रूप से मुंबई में ही होता है। उनके सारे तकनीशियन्स, कलाकार आदि हिंदी फिल्मों से ही आते हैं। इन कलाकारों, तकनीशियन्स को भोजपुरी से कोई भावनात्मक लगाव तो होता नहीं, इसलिए वे भाषा की शलीलता और उसके गौरव को स्थापित करने का कोई प्रयास भी नहीं करते। भाषा का संबंध भावना से है, लेकिन अब भोजपुरी फिल्मों से जुड़े लोगों का भावना से दूर-दूर तक का रिश्ता भी नहीं है, उनके लिए वह महज एक कमाई का जरिया है। ऐसे में भाषा के साथ खिलवाड़ करने से भी उन्हें कोई गुरेज नहीं रहता। भाषा की शुचिता ही भावों की शुचिता का निर्माण करती है। इसमें कोई बुराई नहीं कि आज भोजपुरी में बड़ी मात्रा में फिल्में बन रही हैं, लेकिन इसके साथ ही यह देखना भी जरूरी है कि सफलता की आंधी में कहीं भोजपुरी का शामियाना ही न उखड़ जाए। इस शामियाने को सुरक्षित रखने के लिए उसके पाए भोजपुरी की पुख्ता जमीन में ही गड़े होने चाहिए। दुर्भाग्य है कि ऐसा नहीं हो रहा है। सफलता उत्कृष्टता की गारंटी नहीं होती, लेकिन यदि उत्कृष्टता का खयाल रखा जाए, तो सफलता की गारंटी अवश्य मिल जाती है। क्या भोजपुरी फिल्मों के हमारे निर्माता, निर्देशक और कलाकार ऐसा करने के लिए तैयार हैं? सबसे बड़ी बात यह है कि समुदाय विशेष की छवि बनाने में भाषा की बहुत बड़ी भूमिका होती है। जिस तरह की आप भाषा बोलेंगे, देश-दुनिया में आपकी छवि भी वैसी ही बनेगी। यदि भोजपुरी फिल्में अश्लीलता और फूहड़ता परोसेगी, तो दुनिया में भोजपुरी भाषा-भाषियों की छवि भी अश्लील ही बनेगी। उम्मीद है कि निर्माता, निर्देशकों और कलाकारों की आनेवाली पीढ़ियां इस बात को लेकर सचेत होंगी और भोजपुरी के दामन पर लगा अश्लीलता का दाग धो डालेंगी।

(लेखक वरिष्ठ पत्रकार और 'लोकस्वामी' पाक्षिक के कार्यकारी संपादक हैं)

हिंदीसमयडॉटकॉम : हिंदी का सबसे बड़ा ऑनलाइन पुस्तकालय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय से यह अपेक्षा की जाती है कि वह हिंदी को अंतरराष्ट्रीय भाषा बनने के लिए आवश्यक उपकरण उपलब्ध कराएं। यह तभी संभव हो सकता है जब हिंदी न सिर्फ गंभीर विमर्श का माध्यम बने, बल्कि हिंदी में लिखा गया महत्वपूर्ण साहित्य देश-विदेश के विशाल पाठक समुदाय तक पहुँचे। विश्वविद्यालय द्वारा संचालित हिंदीसमयडॉटकॉम इसी दिशा में एक महत्वाकांक्षी प्रयास है। हिंदीसमयडॉटकॉम का उद्देश्य यह है कि हिंदी में जो कुछ महत्वपूर्ण लिखा गया है उसे हिंदीसमयडॉटकॉम के जरिए दुनिया भर में फैले साहित्य प्रेमियों को उपलब्ध कराया जाए।

यद्यपि इंटरनेट पर अनेक ऐसे वेबसाइट हैं, जहाँ हिंदी में प्रकाशित कुछ कृतियाँ और रचनाएँ उपलब्ध हैं, पर कोई ऐसी वेबसाइट नहीं है, जो संपूर्ण हिंदी साहित्य को नेट पर लाने के लिए प्रतिबद्ध हो। इस दृष्टि से हिंदीसमयडॉटकॉम एक अनोखी परियोजना है। इस वेबसाइट ने अल्प समय में ही अच्छी-खासी लोकप्रियता अर्जित कर ली है। अभी तक लगभग दस लाख पाठक हमारी वेबसाइट पर आ चुके हैं। करीब पैंतीस सौ पाठक रोज हिंदीसमयडॉटकॉम का पन्ना खोलते हैं। इनमें संयुक्त राज्य अमेरिका, जर्मनी, नार्वे, डेनमार्क, पाकिस्तान, कतर, सऊदी अरब अमीरात, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, ईरान, पुर्तगाल, स्पेन आदि देशों के भी पाठक होते हैं। अक्सर हमें इच्छुक पाठकों की मेल मिलती है कि अमुक-अमुक पुस्तक को हिंदीसमयडॉटकॉम पर उपलब्ध कराने की कृपा करें।

हिंदीसमयडॉटकॉम पर इस समय दो लाख से ज्यादा पृष्ठों पर हिंदी की बहुत-से मूल्यवान रचनाएँ सँजोई जा चुकी हैं तथा रोज कुछ नया जोड़ा जाता है। पहले चरण में हम कॉपीराइट-मुक्त कृतियों को हिंदीसमयडॉटकॉम पर दे रहे हैं, यद्यपि इसके साथ ही महत्वपूर्ण समकालीन साहित्य को भी प्रकाशित किया जाता है। यह सारा साहित्य बिना किसी शुल्क के न केवल इंटरनेट पर पढ़ा जा सकता है, बल्कि डाउनलोड भी किया जा सकता है।

हिंदीसमयडॉटकॉम पर उपलब्ध सामग्री को कई खंडों में बाँटा गया है- उपन्यास, कहानी, कविता, नाटक, आलोचना, व्यंग्य, निबंध, बाल-साहित्य, विमर्श, लेखक के समग्र और संचयन, अनुवाद तथा विविध, जिसमें वैचारिकी, संस्मरण, यात्र-वृतांत, डायरी, लघुकथाएँ तथा अन्य अनेक मूल्यवान सामग्रियाँ शामिल हैं। एक खंड 'हिंदी लेखक' भी है, जिसमें हिंदी के रचनाकारों का संक्षिप्त परिचय, फोटोग्राफ, पता, फोन नंबर आदि उपलब्ध हैं। इस खंड का भी निरंतर विस्तार किया जा रहा है।

जाहिर है, हिंदीसमयडॉटकॉम को निरंतर समृद्ध करते चलना एक बड़ा काम है। इसमें हिंदी के सभी लेखकों, संपादकों तथा हिंदी प्रेमियों का सहयोग अपेक्षित है। इन सभी से अनुरोध है कि अपने सुझाव, उनके पास उपलब्ध रचनाएँ तथा सूचनाएँ आदि भेज कर हिंदीसमयडॉटकॉम को उपकृत करें। हिंदीसमयडॉटकॉम के संपादक मंडल से संपर्क करने के लिए 07152-230912 पर फोन करें या hindeesamay@gmail.com पर मेल करें।

व्यावसायिकता से सिनेमा कला को नुकसान : वी.एस. कुंडु

भारतीय सिनेमा के सौ साल की ऐतिहासिक यात्रा को महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय ने बहुपक्षीय रूप में प्रस्तुत किया। इस प्रस्तुति में सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के फिल्म प्रभाग, मुंबई का उल्लेखनीय सहयोग रहा। विश्वविद्यालय में चार दिवसीय (15-18 अक्टूबर) 'सिने मंथन 2013' के तहत अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह आयोजित किया गया जिसमें देश-विदेश की 35 फिल्में प्रदर्शित की गई। इसमें जहां एक ओर 60 वर्ष पुरानी फिल्में दिखाई गईं वहीं दूसरी और पिछले दशक की बनी फिल्में भी शामिल थीं। फिल्मों के सौ साल के इतिहास को दर्शाने के लिए तीन दिवसीय (16-18 अक्टूबर) प्रदर्शनी भी लगाई गई, जिसमें फिल्मों के सौ साल में निर्माण और तकनीकी परिवर्तन को भी बखूबी प्रस्तुत किया गया। प्रदर्शनी में पहली मूक फिल्म राजा हरिश्चंद्र से लेकर सिनेमा के महत्वपूर्ण पड़ावों को क्षेत्रीय सिनेमा के साथ जोड़ते हुए प्रदर्शित किया गया। इसके अलावा फिल्मों से जुड़े विमर्श के लिए मास्टर क्लास भी हुआ।

विश्वविद्यालय के हबीब तनवीर सभागार में समारोह का भव्य उद्घाटन हुआ। फिल्म प्रभाग के महानिदेशक वी.एस. कुंडु ने कहा कि सिनेमा पर व्यवसाय हावी हुआ है। फिल्में कैसी बनें, यह बाजार तय करने लगा है। सिनेमा में व्यावसायिकता आने से इस कला को नुकसान हो रहा है। उन्होंने कहा कि सिनेमा के सौ साल में काफी तरक्की हुई है। इसका इस्तेमाल शिक्षा और सामाजिक विकास के लिए भी होता रहा है। सिनेमा एक सामुदायिक कला है जो नाटक और विज्ञान के मिलन से विकसित हुई है। यह माध्यम मनोरंजन के साथ संवेदनशील भी है। वर्तमान समय में सिनेमा व्यावसायिक जाल में फंसा हुआ नजर आ रहा है और नियोजित तरीके ये कला से फिल्म को दूर किया जा रहा है। मौका देख कर फिल्में रिलीज की जा रही हैं। ऐसे में दर्शकों का मोहभंग होता दिख रहा है। श्री कुंडु ने कहा कि सिनेमा को समझने के लिए उसकी भाषा को सीखना जरूरी होता है। आज टीवी के कार्यक्रमों और सिनेमा की विषयवस्तु एकदम हल्के दर्जे की होती है। विज्ञापनदाता विषयवस्तु तय करने लगे हैं। उन्होंने आवश्यकता जताई कि नई पीढ़ी को भाषा सीखकर जज्बे के साथ इस सृजन धर्म को निभाना चाहिए। अखिल भारतीय वृत्तचित्र परिषद के महासचिव संस्कार देसाई ने नई फिल्म संस्कृति के स्वरूप पर व्यापक चर्चा की।

उद्घाटन समारोह के दौरान अध्यक्षीय वक्तव्य में विश्वविद्यालय के कुलपति विभूति नारायण राय ने सिनेमा को अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बताते हुए कहा कि फिल्में कैसी बनें इसके लिए जनसाधारण की राय लेनी चाहिए, परंतु ऐसे फैसलों में जनता की कोई दखल नहीं होती। लेनिन के वक्तव्य के हवाले से उन्होंने कहा कि पूंजीपति तबका शास्त्रीय संगीत का विरोध करता है क्योंकि उसका मानना है कि शास्त्रीय संगीत की समझ विकसित करने के लिए मजदूरों को छुट्टी देनी होगी। इसलिए आज जो फिल्में बन रही हैं, वह हमें गहरे तक प्रभावित नहीं करती हैं। जनता ही ऐसा पसंद करती है, यह दलील देते हुए निर्माता आज हल्के दर्जे की फिल्में परोसने लगे हैं। वे अवास्तविकता को वास्तविक दिखाने की कोशिश करते हैं। इसके लिए हम ही जिम्मेदार हैं क्योंकि हमें वह चेतना विकसित नहीं हो पाई हैं, जिससे कि हम वैसी फिल्मों को नकार भी सकें। उन्होंने माना कि दुनिया

में हिंदी के प्रचार-प्रसार में हिंदी और बंबइया फिल्मों ने महती भूमिका अदा की है। नाट्यकला एवं फिल्म अध्ययन विभाग के अध्यक्ष प्रो. सुरेश शर्मा ने स्वागत वक्तव्य में कहा कि भारत में हर साल करीब 1200 से अधिक फिल्में बनती हैं। ये फिल्में 30 हजार से भी अधिक सिनेमाघरों में प्रदर्शित होती है और उन्हें रोज तकरीबन 12 करोड़ लोग देखने जाते हैं। एसोशिएट प्रोफेसर डॉ. ओमप्रकाश भारती ने संचालन किया तथा कुलसचिव डॉ. कैलाश खामरे ने आभार व्यक्त किया। समापन समारोह में कुलपति श्री राय की अध्यक्षता में फिल्मकार एवं संपादक असीम सिन्हा ने सिनेमा कला के विविध पहलुओं पर प्रकाश डाला और विश्वविद्यालय के आवासीय लेखक प्रो. दूधनाथ सिंह ने साहित्य और सिनेमा के रिश्तों पर पड़ताल की।

दुनिया की 35 उत्कृष्ट फिल्में दिखाई गई- अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह के दौरान एक मिनट से लेकर दो घंटे तक की दुनिया भर की 35 फिल्में (डाक्यूमेंट्री, फीचर तथा एनीमेशन) दिखाई गईं, जिसमें 'रैट रेस', 'शिप ऑफ थीसियस', 'प्रतिद्वंद्वी', 'नीरोज गेस्टन', 'मिडनाइट ऑफ 14 अगस्त 1947', 'गांधी तीर्थ जलगांव', 'नमक की कंकड़ी', 'पेंसो-डू द राइट', 'धागा मिल गया', 'आई एम ट्वेंटी', 'ऐन काउंटर विद फेसेज', 'ऐन अकरेंस ऐट आउल क्रीक ब्रिज', 'ग्लास', 'जू', 'लिटिल टेररिस्ट', 'हैपी एनिवर्सिरी', 'विट्ठल', 'प्रिंटेड रेनबो', 'बैलून', 'पूप गोज ऑन पावर्टी', 'कलर्स इन द डस्ट,', 'कोल ब्वाय', 'मुटो', 'फादर एंड डॉटर', 'म्यूजिक इन द ब्लबड', 'अली एंड द बॉल', 'टेल्सस फ्रॉम द मार्जिन', 'प्रिंस', 'ओ के ब्रदर्स', 'माइंडस्केप्स, ऑफ लव एंड लौगिंग' आदि शामिल हैं। श्याम बेनेगल निर्देशित 'जुबैदा' समापन फिल्म रही।

भारतीय सिनेमा के सौ साल, एक नायाब सिने प्रदर्शनी महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के समता भवन में फिल्म प्रभाग, मुंबई के सहयोग से 'भारतीय सिनेमा के सौ साल' विषय पर आयोजित प्रदर्शनी का उद्घाटन विश्वविद्यालय के कुलपति विभूति नारायण राय ने किया। प्रदर्शनी में पिछले सौ साल के भारतीय सिनेमा का इतिहास दर्ज है। यह प्रदर्शनी मुंबई में बन रहे भारतीय सिनेमा के राष्ट्रीय संग्रहालय की पूर्व भूमिका तैयार करती है। इस सामग्री के आधार पर फिल्म प्रभाग मुंबई के परिसर में 'स्टेट ऑफ द आर्ट सिनेमा' संग्रहालय का निर्माण किया जाएगा। प्रदर्शनी में लुमिअर बंधुओं की आरंभिक मूक फिल्मों के अलावा पहली भारतीय कथा फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' के प्रभावी दृश्य दिखाए गए हैं। इसमें 19वीं शताब्दी के 'प्रेक्सिनोस्कोंप' और 'फैंटैस्टिकोस्कोप' के मॉडल प्रदर्शित किए गए हैं और साथ ही 'मिशेल' तथा 'ऐरीकोड' कैमरे भी शामिल हैं। तीन दिन तक चले इस समारोह का विश्वविद्यालय परिवार के सदस्यों और छात्रों ने भरपूर आनंद लिया।

प्रस्तुति : अमित विश्वास

लेखकों के पते

- ज्ञानेश उपाध्याय, 5x23 जवाहर नगर, जयपुर-302004 (राजस्थान), मो. 9314404606
- सलिल सुधाकर, 403/डी- 83/ सेक्टर- 9 पुष्पलता को. हा. सो. लि. शांतिनगर, मीरा रोड़ (पूर्व) मुंबई-401107 (महाराष्ट्र) मो. 9869120394
- विनोद विप्लव, 21 यूएनआई अपार्टमेंट्स, सेक्टर-11 वसुंधरा, गाजियाबाद -201012 (उ. प्र.) मो. 9868793203
- हिमांशु बाजपेयी, शोध छात्र (संचार एवं मीडिया अध्ययन केंद्र), महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र) मो. 09422905755
- सुधीर सक्सेना, 43 ए, अंसल प्रधान इंक्लेव, ई-8 अरेरा कालोनी, भोपाल -462016 (म. प्र.), मो. 9425022404
- धरवेश कठेरिया, सहायक प्रोफेसर, संचार एवं मीडिया अध्ययन केंद्र, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)
- जवरीमल्ल पारख, जे-1 यमुना आवासीय परिसर, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110068 मो. 9810606751
- अमरेंद्र कुमार शर्मा, सहायक प्रोफेसर, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र) मो. 09422905755
- इकबाल रिजवी, जीएफ-2, प्लॉट नं.3, सेक्टर-1, वैशाली, गाजियाबाद (उ.प्र.), मो. 9871697241
- प्रकाश चंद्रायन, 304 गजानन अपार्टमेंट, 5 टिकेकर रोड, धंतोली, नागपुर-440012 (महाराष्ट्र) मो.9273090402
- उमेश चतुर्वेदी, द्वारा- जयप्रकाश, द्वितीय तल, एफ-23 ए, निकट शिव मंदिर, कटवारिया सराय, नई दिल्ली-16, मो. 9899870697
- विनोद अनुपम, B-53, सचिवालय कॉलोनी, कंकड़बाग, पटना-800020 (बिहार) मो. 9334406442
- शरद दत्त, L-51, कीर्ति नगर, नई दिल्ली-110015 मो. 9811205442
- पुष्पेश पंत, 4280 सेक्टर 23 ए, गुड़गांव-122017 (हरियाणा) मो. 9810353999
- सुनील मिश्र, 10/21 साउथ टी.टी. नगर, भोपाल-3, मो. 9425024579
- शकील सिद्दीकी, एम.आई.जी. 317, फेज-2, टिकैतराय एल.डी.ए. कॉलोनी, मोहान रोड, लखनऊ-17, मो. 9839123525
- सुरेंद्र तिवारी, बी-3/76 सेक्टर-16, रोहिणी, नई दिल्ली-110089
- प्रहलाद अग्रवाल, उज्ज्वल जनरल स्टोर, सुभाष पार्क, सतना-485001 (म.प्र.), मो. -9827009452
- कृपाशंकर चौबे, एसोसिएट प्रोफेसर, प्रभारी, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय कोलकाता केंद्र 2 ए/2 बी मृगेंद्रलाल मित्र रोड़, कोलकाता 700017 (प.बं) मो. 09836219078
- प्रयाग शुक्ल, एच- 416 पार्श्वनाथ प्रेस्टीज, सेक्टर 93 ए नोएडा-201304 (उ.प्र.) मो.

9816973590

- मनमोहन चड्ढा, द्वारा- श्री मदन शर्मा, 126 ईश्वर विहार, फेज-2, लाड़पुर, रायपुर रोड, देहरादून-248008 (उत्तराखंड), मो. 9897520697
- धीरेंद्र कुमार राय, गोरख पांडेय छात्रावास, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र) मो. 9640445067
- प्रभु जोशी, 303, गुलमोहर निकेतन, वसंत विहार, बांबे हॉस्पीटल के पीछे, इंदौर-452010 (म.प्र.) मो. 9425346356
- प्रताप सिंह, फ्लैट संख्या 220, जी.एच.-2, पत्रकार परिसर, सेक्टर-5, वसुंधरा, गाजियाबाद-201012 (उ.प्र.) मो. 9717749114
- अजय कुमार शर्मा, पीआरओ, साहित्य अकादेमी, रवींद्र भवन, फिरोजशाह रोड, नई दिल्ली-01 मो. 9868228620
- सुधीर विद्यार्थी, 6 पवन विहार, फेज-5 विस्तार, पो. रूहेलखंड विश्वविद्यालय, बरेली-243006 (उ.प्र), मो. 9837259693
- रामशरण जोशी, 105 समाचार अपार्टमेंट, मयूर विहार फेज-एक दिल्ली-110091 मो. 9810525019
- प्रेम भारद्वाज, संपादक 'पाखी' बी-107, सेक्टर-63, नोएडा-201303, (उ.प्र.) मो. 9350544994
- सुधा अरोड़ा, 1702 सालिटेयर, डेल्फी के सामने, पवई, मुंबई- 400076, मो. 9757494505
- सुरजीत कुमार सिंह, सहायक प्रोफेसर, बौद्ध अध्ययन केंद्र, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा-442005, (महाराष्ट्र) मो. 9326055256
- किशोर वासवानी, 28, साकेत-III वेजलपुर बाजार, पो.आ. जीवराज पार्क, अहमदाबाद-3802051 (गुजरात), मो.-9979851770
- जयप्रकाश चौकसे, द्वारा मौर्या प्रोपर्टीज, 2 होम स्ट्रीट, 16 दत्तात्रेय रोड, सांताक्रूज वेस्ट, मुंबई, (महाराष्ट्र) मो. 9820528450
- अनंत विजय, आर.टी.-222 रॉयल टॉवर, शिप्रा सनसिटी, इंदिरापुरम, गाजियाबाद-201014 (उ.प्र.) मो.-9871697248
- एम.जे. वारसी, Washington University in St.Louis, Campus Box : 1121 One Brooking Drive St. Louis, Mob. 63130-0899 U.S.A.
- संजीव, 43-ए., न्यू डी.डी.ए., जनता फ्लैट्स, चिल्ला, मयूर विहार, फेज-1, दिल्ली-110091 मो. 8587832148
- कुमार नरेंद्र सिंह, 459 सेक्टर- 5, वैशाली गाजियाबाद -10 (उ.प्र.) मो. 9818341691